शेष नमस्कार

साहित्य भवन [प्रा] लिमिटेड
के पी कक्कड़ रोड इलाहाबाद-२११००३

शेष नमस्कार
संतोष कुमार घोष

SHESH NAMASKAR
(NOVEL)

By

Santosh Kumar Ghosh

अनुवादक

अपर्णा टैगोर

प्रथम संस्करण १९८० मूल्य ७०-००

साहित्य भवन प्राइवेट लिमिटेड ९३, के० पी० कक्कड़ रोड, इलाहाबाद द्वारा प्रकाशित
तथा स्टार प्रिण्टर्स, २९७, दरियाबाद इलाहाबाद द्वारा मुद्रित
आवरण इम्पैक्ट

क्या यह जीवनी है ? जिस समय धारावाहिक रूप से यह रचना प्रकाशित हो रही थी, कुछ लोगो ने जानना चाहा था। जीवनी का अर्थ यदि जीवन की सिफ कुछ प्रमाणित घटनाएँ भर है, तो उस अर्थ मे यह रचना जीवनी नही है। पर कुछ व्यथाएँ कुछ अनुभूतिया, कुछ सवाल, कुछ प्रतीति वह भी तो जीवन ही है!

मान लीजिए, एक सुबह। उसमे कितना प्रकाश है, कितनी भीगी-भीगी छाया, यह अलग से बताया नही जा सकता है। सब कुछ मिला जुला होता है। यह रचना भी वही कुछ है।

वस्तुत मेरे विचार से सभी लेखक जीवन भर एक ही रचना का सृजन करना चाहता है। लिखता रहता है, क्रमागत चेष्टा करता है। मैं भी कर रहा हूँ। असफल रहा। "नाना रगेर दिन", "मुखेर रेखा", "जल दाओ", "स्वय नायक" मृत अथवा केवल स्मृत ग्रन्थ है ? अन्तत अपनी उस असफलता के निकट "शेष नमस्कार' रख कर छुट्टी लेना चाहता हूँ।

पर समाप्त हुआ क्या ? पता नही, शायद नही हुआ। लौट आना होगा। जो लौटा लाएगा, वही शायद लिखवा भी लेगा। पर उस निवेदन का नाम क्या है ?

"श्री चरणेपु मा—को" के बाद सिफ "तुम्हे ?"

—लेखक

शेष नमस्कार

उसका प्रथम पत्र था 'श्री चरणेषु मा !' पत्र लिख-लिखकर वह जिस तमाम शाध के खेल मे मशगूल हुआ है, उसके लिए प्रथम पत्र तो मा को ही लिखना ठीक होगा न ! जो मूल है, धात्री है, जिन्होंने उसे लाया था, धारण किया था ! जीवन का ऋण, धारण करने का ऋण। रक्त का, स्तन का, स्नेह का, नीड का ! घेर कर रखने का, ढँक कर रखने का, दृष्टि के द्वारा पीछे-पीछे दौडते रहने का ममता से, उत्कंठा से, आतक से अहर्निश केवल एक ही चिन्ता 'तुम्हारा कल्याण हो' ॰॰।

यह व्यक्ति कौन है ? इसे क्या मैं पहचानता हूँ ? देखा है क्या कभी ? किस तरह ये सारे पत्र मेरे पास आये ? इस समय साफ-साफ वह सब याद नही कर पा रहा हूँ। मानो कोई जादूगर, अचानक कही से आकर सामने खडा हो गया और फिर टेबुल के ऊपर कागज का पुलिन्दा फेंक दिया। सम्मोहक दृष्टि से मुझे बेधते हुए बोला, "इन्हें सिलसिलेवार ढग से सजा लो।" रहस्य-रोमाच की कहानियो मे जैसा घटित होता, ठीक वैसा ही। उसकी आखें सद, आवाज सर्द, ऐसा लगा मानो ठड मे सिकुड कर वह सन्न हो गया हो। और सम्मोहित-सा मैं उन कागजो को हाथ बढाकर ले लेता हूँ, कुछ कुछ अनिश्चित-सा कापता हुआ। "इन्हे सिलसिलेवार ढग से सजा लो।" का आदेश पाते ही मैंने 'जरूर-जरूर' कहकर हँसने की कोशिश की थी। वह हँसी कागज फाडने की फडफडाहट की तरह सुनाई पडी थी। सजाऊँगा, पर किस तरह ? यह समझ नही पा रहा था। खेल खत्म हो जाने पर जिस तरह बिखरे हुए ताशो को सहेजा जाता है, क्या उस तरह ?

कब तक वह था, याद नही। कभी देखता हूँ मैं उस पत्रस्तूप में डूब गया हूँ और फिर उन पत्रो को पढते-पढते ही समझ जाता हूँ कि मुझे क्या करना है। पूरी तरह उन्हे बिखेर कर अपने ढग से सजाता हूँ। इससे कुछ फायदा हुआ या नही, कह

नही सकता। पता है, क्योकि वह उपस्थित है, यही तो है और न जाने अचानक कब आविर्भूत हो जाये, अत मैं निरुपाय हूँ। मुझे इन पन्नो को सिलसिलेवार ढग से सजाना ही होगा।

"क्योकि मैं मूर्तिपूजक हूँ", उसका लिखा प्रथम वाक्य यही था। इस तरह अन्वय होता है क्या ? इसलिये घुमाकर, याने जिस तरह लिखा जाता है, या लेखक लिखते रहते हैं उसी बँधे बधाये ढाचे पर उसकी विगलित तरलता को उँडेल देता हूँ। थोडा चिटचिटा भी हो, वरना पढा नही जा सकेगा न।

अब आरम्भ होता है।

*　　　*　　　*

उसका वह प्रथम पत्र था, "श्री चरणेषु माँ !"

जिस पूजा मे वह बैठा है, उम्र के कई एक मोड पार करने के बाद, उसमे उसके ईष्ट देव अनेक हैं, क्योकि वह मूर्तिपूजक है, क्योकि वह अनेको के साथ—वासना मे, घृणा म, आशा मे, हताशा मे, आचार और विचार मे यहाँ तक कि कृतघ्नता म भी लिप्त रहा है, जितने खिलौने और प्रतिमाये आज सुदूर-उद्भास मे धुँधली आभा से दिखलाई पड रही हैं, उनम माँ सबसे ऊपर नही होगी, तो और कौन होगा ?

पर क्यो ? लेनदेन सब चुकता कर देन की अदम्य इच्छा उसे लगातार मर्मरित क्यो करती रहती है ? कौन-सा ऋण कब शोध हुआ है, और दिवालिया बन जान के बाद भी क्या कोई किसी का उधार चुका पाया है ?

पर सभवत इसे हम ऋण नही कह सकते। पापबोध ! जी हा, जिन लोगो के प्रति पाप किया है, उन लोगो से क्षमा माग लूगा। जिनके साथ मित्रता किया है, उन लोगो को भी हिस्सा देन के लिए बुला लूगा। और भी किसी ने एक दिन बुलाया था न ? क्या नाम क्या नाम था उसका ? रत्नाकर ! कोई आया नही था उसके पास, पर मेरे पास आयेगे। और भी जिन लोगो ने मेरे प्रति अन्याय किया है, उन सबको एक-एक को बुलाऊँगा और फिर उनके बाल नोच-नोचकर अभिशाप दूँगा। दूँगा, क्योकि मैं रक्तमास का मानव हूँ, जितेन्द्रिय नही हूँ। मेरी सत्ता मे कोई त्रिगुणातीत दैवी आवेश नही है, अत मैं बोलूगा ही। इसे मेरा सवाल कहना चाहे वह लें, जवाब कहना चाहें कह लें। किसी को अनुराग, किसी को शिकायत यही मेरा अन्तिम टेस्टामेन्ट है ! आखिरी हिसाब ! दरअसल आखिरी हिसाब-किताब तो इस दुनिया से करना है। परिचित मानव-मानवी, थोडी दूर पहले जिन्ह देव देवी कहा है, उन सबसे भी हिसाब किताब लेना है। जिसने जरायु म इतने काल तक वास किया है, श्वास लिया है, कभी साँस रोके फुफकारता रहा हूँ। जिसन न जान कितने मुग्ध और अमुग्ध दिये हैं, उसस अन्तिम फैसला बिना किये चल जान पर 'पुनजन्म'

नामक एक दुर्घटना नही घट जायेगी ! अन्तत अतृप्त आत्मा को प्रेत बनकर लौटना पड़ेगा। सो, इस जन्म का कोई सूत्र नही छोड जाना चाहता हूँ।

* * *

अचानक एक कठिन रोग मे पड़कर, जाडे की ढलती दोपहरी मे वह लेटा-लेटा यही सब सोच रहा था। पत्र लिख-लिखकर जाने का, सबको बुलाने का, जिस तरह मरणासन्न व्यक्ति अपने निकट सबको बुलाता है उसी तरह सबको पास बुलाने का यह अद्भुत विचार उसके दिमाग म आया था। डाक्टर बाबू की उपस्थिति को अग्राह्य करके, सबको बुलाना, उस समय मुह से कोई शब्द भी नही निकल पाता है। माथे पर, सिर पर हाथ फेरना, आँख मे पानी, मुह मे दो-चार बूद गगा-जल के।

उस दिन न जाने कैसे उसे लगा कि वह अब और अधिक दिन नही बचेगा। आकाश की ओर ताकते रहने के दौरान उसकी यह धारणा मन के अन्दर धीरे-धीरे कुडली मारकर बैठ गयी। ट्यूबवेल का पाइप जिस तरह परत दर परत धँसता हुआ जाकर जमीन म बैठ जाता है, ठीक उसी तरह। आकाश का आकार अडे के सफेद खोल की तरह है। जाडा है न इसलिये नीला है। अनन्त-पनन्त, वह सब उस समय दिमाग मे नहीं आ रहा था। हताश सलेटी रग वाले कुछ पक्षी उसी समय क्लान्त होकर लौट रहे हैं। बडबडाता हुआ-सा वह स्वय को ही सुनाता है, "जाडे की दोपहरी किस तरह एकदम से बुझ जाती है ! बिल्कुल जिस तरह सोने-चाँदी से भरा सन्दूक का ढक्कन झप से गिर जाता है। दोपहर अभी तक जल रही थी, और अब एकदम बुझकर घुली-पुछी चिता बन गई।"

पेट का दर्द, उसी समय सिर उठा बैठा, मानो गर्भस्थ भ्रूण, जिसका विनाश करना धुरधर वैद्य के लिए भी असाध्य हो। टटोल टटोल कर उसने एक गोली खाई, वह भी किसी तरह ! होठ सिकुडे जा रहे हैं, आखो का कोर भी। कपाल, पेड़ू पकड दबाने पर भी राहत नही मिल रही है।

विस्तारित आकाश की ओर मरी हुई मछली की तरह आँखे गडाये, वह बड-बडाने लगता है, "अब मैं जाऊँगा। अपने देश लौटूगा।" अन्दर ही अन्दर वह पहली बार यथार्थ मे प्रत्यावर्तन के लिए व्याकुल हो उठा। स्वदेश ! स्वदेश ! एक आकस्मिक आलोडन की तरह ! जहाँ वह है, यह बिस्तर, यह मकान उसका नही है। अस्थाई सरायखाना है। इस दर्द के पहले और बाद मे जो है, वही उसका उत्स है, अथवा वही उसका परिणाम है। जहाँ वह सहज, स्वच्छन्द और शान्त है, वही उसका स्वदेश है।

तकलीफ नही होगी ? होगी। दुख मिलेगा। वह ता उसने सोचकर देखा कितनी बार ही तो विदेश जाता हूँ, लौटते समय घर का मोह रहने के बावजूद, थोडी तकलीफ ता होती ही है। इतनी रोशनी, इतने ऐश्वर्य, साफ-सुथरी

सड़क, विलास, आराम, कोमलता यह सब छोड़कर उसी शहर में फिर से लौट जाना, जहाँ ढेर सारा गर्द हो, सब कुछ जितना दबा-दया, अभावों से घिरा हुआ।

फिर भी उसी स्वदेश या शहर उसे बुलाता रहता है, जिस तरह आज और भी दूर का, सामने का, शायद पीछे का भी, एक और स्वदेश उसे जिस तरह अपनी ओर खींच रहा है। वहाँ जाने पर यह देश नहीं रहेगा, पाँव के नीचे की यह मुलायम मिट्टी, बिस्तर की गरमाहट, यह स्वाद, प्राण, मोह, परिजन, कितने सुख, कितने घाव! यह सब छोड़कर जाते हुए थोड़ी तकलीफ तो होगी ही। फिर भी लौटना तो है ही। लौटना चाहता हूँ, हालाँकि वह जीवन, वह अस्तित्व कैसा है, मालूम नहीं। कम से कम इस समय तो याद नहीं है, वहाँ शायद सब कुछ ही वायवीय ही हो। अथवा वायु से अधिक हल्का, निरूप और बहता हुआ हो। मुहाने की नदी, और नदी की नियति समुद्र को भी ता अतत अलक्ष्य, सूक्ष्माकार होकर आकाश म ही लौटना होता है।

स्वदेश लौटने के पहले समस्त सुख-दु ख, आघात-अभिमान के एक-एक खाने म वह एक-एक पत्र रख जाने की बात सोचता है। अपनी समस्त अतृप्ति मे वह इसी तरह पूर्णाहुति देगा। सम्पदशाली व्यक्ति का अन्तिम हस्ताक्षर जिस तरह उसकी वसीयत होती है, उसी तरह उसकी पूर्णाहुति ही उसकी वसीयत होगी।

मन ही मन मे उसने भईया को पुकारा। जो लोग जीवित हैं, जीवित अवस्था मे जिन लोगो के बारे मे सब कुछ साफ-साफ खोलकर बोल पाना, जिसे वह अब तक असम्भव ही समझ रहा था। पुकारा उन लोगो को भी जो मृत हैं। हाँ, मृतको के आगे भी घुटने टेककर वह स्वीकारोक्ति पेश करेगा और तभी वह मुक्त हो सकेगा। इसलिए वह कागज-कलम लिए, बीच बीच म दर्द के कारण थमते हुए सम्बोधन मे लिखा, "श्री चरणेषु मा।"

* * *

श्री चरणेषु मा! सम्बोधन के ये शब्द लिखते ही, तुम्हारी जो छवि आखो के सामने स्पष्ट हो उठती है, वह है तुम्हारी फ्रेम की हुई टँगी, लगभग जीर्ण-सी धातु की एक छवि, कभी कभी जिस पर स्मरण दिवस पर माला-वाला डाल देता हूँ, तुम्हारी कम उम्र की तस्वीर का विशेष स्मरण नहीं कर पा रहा हूँ। यद्यपि एकाध जरूर खींची गयी होगी, उस समय के वे फोटोग्राफर, तिपाई पर कैमरा रखकर, काले कपडे से सिर ढँककर, जिस तरह तस्वीर खींचा करते थे, उस तरह से क्या एकाध खींची नहीं गई होगी? मान लो तुम्हारी शादी के समय या फिर उससे भी पहले, छुई-मुई-सी एक किशोरी, कुमुम कुमारी, कृत्रिम चाँद अंकित पर्दे को पीछे रखकर, गाल पर हाथ धरे, उन्मन भाव से कुछ सोच रही है। वर-पक्ष को जो तस्वीरें डाक स भेजी जाती थी, या फिर जो लोग देखने आते थ, उन्हे थमा दी जाती

थी। जो तुम्हें देखने आते, उन्हें तुम गाना सुनाती ! क्या इस तरह का रिवाज तुम्हारे समय मे नहीं था, बाद में चालू हुआ ? जो लोग देखने आते, वे पनडब्बा भरा पान, दोनो गाल भर खाते, और लम्बे-लम्बे बाल खुलवा कर, एक-एक पाव चलवाकर, तुम्हारी चाल देखते। कभी-कभी साडी उठवा कर पाँव का गठन भी देखते। अच्छा लगने पर कहते, "एकदम लक्ष्मी जैसे पैर है।"

जिस तस्वीर की ओर इस समय देख रहा हूँ, वह इस मकान के ही किसी कमरे की दीवार पर टँगी हुई है। वह शायद किसी ग्रुप फोटो से अलग की गयी है। तुम्हारी मृत्यु के बाद, जब तुम्हारी तस्वीर के लिए सिर धुन रहा था। कहीं से भी तुम्हारी एक तस्वीर चाहिए ही, जैसे भी हो, नहीं तो श्राद्धानुष्ठानवाले दिन तुम्हारी कौन-सी तस्वीर मेज़ पर रखूगा ?

इस ग्रुप की कुण्ठित, एकमात्र तस्वीर तुम्हारे अशक्त आयु की है। चेहरे पर जब मकडी में जाले थे, मायावी डरी-डरी दोनो आखे माटे शीशे के चश्मे से ढँकी हुई। ज्यादा हिल डुल नही पाती थी। एक जगह बैठे-बैठे तुम्हारी दोनो आखें दोपहर ढलने के बाद अपराह्न के सूर्य की तरह घूम-घूम जाती। तस्वीर खिचवाने के पहले तुम्हे पकड-पकड कर कुर्सी पर बैठाया गया था। तुम्हारे होठो पर उस समय भी करौंजे का अचार लगा हुआ था। आचल के छोर से तुमने होठ पोछा था। फिर भी उस समय तुम्हारे चेहरे पर मुस्कराहट नही थी। माँ ! उस समय तुम हँसती नही थी। तुम्हारी हसी बहुत पहले ही गायब हो चुकी थी। इस तस्वीर को देखते हुए और भी जितनी तस्वीरो का ख्याल आ रहा है, सब मे वही एक जैसा उदास, गम्भीर, डरा-डरा सहमा हुआ चेहरा ! शायद बहुत चोट खायी थी, शायद इसी कारण मन मे कोई भय बैठ गया हो ! चर्चित चेहरे पर जैसे स्नो क्रीम पुता होता है, तुम्हारे चेहरे पर भी वैसा ही एक आतंक पुता होता, तुम्हारे भरोसे की एक निश्चिन्त खूटी तुमसे बहुत पहले ही हिल गयी थी। तुम्हारा जब पहला दात हिला था, उससे भी बहुत पहले। तुम्हें अपने होशोहवास मे जब से जाना है उस समय से ही तुम एक काँपते हुए स्नायुओ की गठरी थी।

तुम्हारा यौवनकाल मैंने नही देखा है, याने स्मरण नही कर पा रहा हूँ, याने माँग सँवार कर जब तुम चोटी बाध सकती थी, बाँधती भी थी, वरना जिस दिन बाबा अचानक आ जाते, उस दिन तुम पलग पर बैठकर पाव हिलाते हुए मुह उठाती क्यो ? या फिर जिस उम्र मे तुम पपाझप पोखर मे डुबकी लगाती, घडा सीने से लगाये तैरती रहती, गीले कपडा मे सपसप की ध्वनि के साथ घर लौटती। तुम भी क्या किसी प्रताप की दीवालिनी थी ? क्षमा करना, यह सब मेरे कहने की बात नही है, कहना चाहिये या नही यह भी तय नही कर पाया हूँ।

(मेरे जन्मकाल के समय जो लडकियाँ युवती थी, उन्हे अब नही देख पाता हूँ। वे अब नही हैं, और उस समय जिन लोगों ने जन्म लिया था, वे सब ? हाहाकार की तरह महसूस कर पा रहा हूँ, उनमे से भी अब कोई युवती नही रह गयी है।

कोई विगत है तो कोई जरती। आज उनकी उम्र के पैमाने से अपनी उम्र का हिसाब लगाता हूँ, बहुत कुछ कठौते से चावल नापने की तरह।

कभी कभी सोचता हूँ, उस जवानी म बुढा जाना भी एक तरह से अच्छा ही था। जुडाना जब एक दिन है ही, तो फिर जल्दी-जल्दी जुडा जाने मे क्या हर्ज है ? चेहरे की नसें तो दु ख के खून से भी उबलती हैं ! जो लोग यह सोचकर उछल कूद मचाते हैं कि, उन्होंने दीर्घकाल तक यौवन को बाँध रखा है, वे इस बात को समय नही पाते हैं कि समय तो अन्तत चुकता ही जा रहा है। देर तक डूबते-उतरते हैं जो, जीत उनकी है या जो जल्दी ही किनारे पहुँच जाते हैं, वे जीतते हैं ? अच्छा बुरा जो भी है, जितनी जल्दी चुक जाय। क्षणायु प्राणियो के जगत् म जो कुछ देखता हूँ—जनन, प्रजनन सब एक झटके म पार हो जाता है। तो क्या वे लोग ठग जाते हैं ? हमारे सीमित विचार से तो ऐसा ही है, पर वह भी तुच्छ आपेक्षिक अर्थ म। महाकाल का परमायु तो किसी भी मनुष्य को नही मिलता है। फिर किस बात पर दिमाग सातवें आसमान पर जा चढता है !

तुम्हें व्यग्र होते क्या कभी देखा है ? किसी हसी-मजाक म ? सरौता हाथ म लिए सुपारी काटते-काटते पडोसना के वदन पर लुढकते हुए ? याद नही आ रहा है। गाते रहने का तो सवाल ही नही उठता है। उस समय गृहस्थ घर की लडकियाँ गाना कम ही गाती थी, ज्यादातर तो जानती ही नही थी।

पर वे लोग सुनती थी। चिक की ओट मे धुआँ धुआँ-सा चेहरा। सिर पर घूघट। पूरा शरीर शाल से लिपटा हुआ। दल बनाकर, पालागीत या कीतन सुनने जाती। बच्चो को भी काख मे दबाये साथ ले जाती। तुम ऊँघ रही हो। आसपास फुसफुसाहट होती है, दबी हँसी। ठीक उसी समय ही शायद स्टेज पर दो सैनिक तलवार खोलते हैं। मैं तलवार के झंकार से उत्तेजित होकर तुम्हें ठेलता हू "माँ! देखा, देखा न !" जयदेव रोकर तुम्हारी चादर गीली किया है। कभी जब तुम मग्न-मुग्ध हो तुम्हे बार-बार ठेलकर तग किया है, जिद किया है, 'बाहर जाऊँगा, बाहर जाऊँगा।" मुझे हटाते हुए तुमने कहा है, "जाओ न, सामने ही तो मैदान है !" पर मैं जाता नही था, बचपन से ही मैं थोडा डरपोक रहा हूँ।

वह डरे-सहमे हुए रहने का भाव क्या मुझे तुमसे मिला था ? रात को उल्लू की आवाज सुनकर चौंक जाना, सपने मे ही सिहर जाना शाम का बदन सिरसिराना। दीवारो पर पडे हुए दागो म तरह-तरह की मानवाकृति ढूढना। बरगद के पेड के नीचे, तेल और सिन्दूर रगा तने का भयावह दीखना। सर्वत्र अशरीरी के अस्तित्व की कल्पना। कौन तो कच्ची मछली का छिलका चबाता है, कोई भरी दोपहरी म सिसक-सिसक कर रोता है इस तरह की सारी बाते उसी समय से अपने स्नायु में एकत्रित कर के रख लिया है। आज भी, इस बेमतलब की उम्र मे भी, वे सारी बातें पाल क रखे हुए हूँ। वे लोग जाते नहीं हैं, या यू कहिये कि जाने देता नहीं हूँ, क्योंकि

चले जाने से तो सब कुछ सफाचट हो जायेगा। जो कुछ देख पाता हूँ, भय के बिना उसके बाहर के किसी वस्तु को कैसे देख पाऊँगा ?

हम लोगो के उस आधा शहर आधा गाँववाले मकान के चारो ओर मृत्यु मानो स्वत ही हल्के कदमो से घूमती रहती। टीन का छप्पर आधी रात को न जाने क्यो खट्खट् बजने लगता। अमरूद के पेड पर लटकते चमगादड न जाने किसे देखकर झटपटा कर उडने लगते। मैं कुछ भी समझ नही पाता, केवल कथरी के अन्दर और ज्यादा सिमटता हुआ, तुम्हारे बदन की महक लेता।

जीवन मे होश सम्हालने के बाद, पहली बार कब रोया था, याद नही है, कब क्या देखकर हँस पडा था, वह भी भूल चुका हूँ, पर पहली मौत जो देखी थी, वह अभी तक याद है मेरे दादा (बडे भाई) की मृत्यु। एक तरह से उस दिन तुम्हारी भी मृत्यु हुई थी। अचानक चीखकर तुम पत्थर बन गयी थी। उससे पहले या बाद की तुम एक दम दूसरी थी। कौन या किन लोगो ने तुम्हे पकड रखा था। धीरे-धीरे तुम्हें उठाने की कोशिश भी की गयी। तुम उठना नही चाह रही थी। दादा की देह पकडे बैठी रही। तुम्हारी प्रथम सन्तान ! उन लोगो के जबरदस्ती करते ही तुम धडाम से जमीन पर गिर पडी थी। शायद उस समय तुम्हे होश नही थी, लालटेन जल रही थी। मृत्यु-दृश्य के बाद सिनेमा मे जिस तरह प्रतीक स्वरूप बुझ जाता है, कहाँ ! उस तरह तो नही हुआ !

उस समय मेरी उम्र कितनी रही होगी ? बारह तेरह ! बूँद बूद पानी बरसने की तरह थोडी-थोडी याद आ रही है। मौत से मैं तभी से डरने लगा था, पर इसके साथ ही, मौत के प्रति मैं आकर्षण भी महसूस करता रहा, आज मुझे स्वीकार करने म कोई झिझक नही कि, यह सुनते ही कही कोई मरणासन्न है, मैं दौड कर पहुँच जाता, बिना खाये-पिये, भीड मे ही आगन मे खडा रहता। गोल-गोल आखा से देखता, डाक्टर गले मे स्थेटेस्कोप लटकाए बाहर आ रहे हैं, दवा लाने के लिए कोई दौडा जा रहा है, या फिर कम्पाउन्डर के हाथ म इन्जैक्शन है। मेरी पलके धीरे-धीरे काँपने लगती हैं अधीर प्रतीक्षा मे कि कब दबी हुई सिसकी, हा-हा करती चीख मे बदले और उसे मैं सुन पाऊँ ! अगर रोगी नही मरता या फिर थोडी देर के लिए मौत पीछे खिसक जाती तो उस समय मैं समझा नही सकता हूँ कि मुझे किस तरह हताशा और अवसाद से घिर कर घर लौट आना पडता था, चेहरे पर ऐसा भाव होता मानो किसी ने वचन देकर उसे पूरा नही किया। आख और कान से शोक के अपूर्व स्वाद को चखने का अवसर नही दिया। अपने उस नीच, निष्ठुर, अद्भुत मनोभाव को शब्दो म किस तरह समझाऊँ ! और किसी के अन्तर्मन मे इस तरह के मनोभाव हैं कि नही, मालूम नही पर आज मैं स्पष्ट लिख रहा हूँ, मुझमे है।

दादा की मृत्यु के दूसरे दिन सुबह की वह तस्वीर। सुधीर मामा का चेहरा याद आ रहा है। मृतदेह के सिरहाने खडे थे, शायद सारी रात खडे रह हो ! तुम्हारे माथे पर हाथ रखा था और उसी समय तुम कितनी बुरी तरह चीख पडी थी माँ !

पागल की तरह सिर हिला-हिला कर बोलने लगी, "नही-नही-नही !" सब मिलकर जो काम नही कर सके थे, सुधीर मामा के हल्के स्पर्श से ही वह काम हो गया, अस्त व्यस्त सी तुम, छिटक कर दूर हट गई, दीवार पर सिर धुनने लगी।

सुधीर मामा वहा भी गये। इस बार बलपूर्वक मुट्ठी म तुम्हारी चूडियाँ समेत कलाई पकड ली, "छी आनू! ऐसा नही करते है। शान्त हो जाओ!" चटाक स तुम्हारी चूडिया टूटी थी, जो तुम्हारी गोरी चमडी मे धँस गयी थी। थोडा-सा खून छलछला आया था! खून देखकर तुम थोडा सकपकाई और फिर फफक कर रोते हुए, रुधे गले से कहा था, "बता दो सुधीर दा, मेरा क्या रहा? मैं क्या लेकर रहूँ?"

दृश्य को टुकुर-टुकुर देखनेवाला दर्शक मैं, थोडी दूर पर अबोध-सा खडा था, माना उस दिन सुबह के क्लास की वही मेरी पढाई थी, पर उस पढाई का मतलब रत्ती भर भी नही समझ पा रहा हूँ, किसी की मौत से किसी का क्या जाता है, किसका जाता है, कुछ भी उस समय नही समझता था न!

उसी दर्शक को अचानक उस दृश्य मे फेंक दिया गया। किस समय मुझे सुधीर मामा खीच कर अन्दर ले गए और तुम्हारी गोद मे बैठा दिया। कहा, "इसकी ओर देखो। एक दिन यही तुम्हारा सब कुछ बनेगा।"

मा! कितने ठण्डे हाथ से तुमने मुझे जकड लिया था। मेरा बदन सिरसिरा उठा था। तुम्हारी दृष्टि विह्वल थी। तुम मुझे देखे जा रही थी, या फिर कुछ भी नही देख रही थी, या फिर वह मृत दृष्टि क्या उस समय घूम-घूम कर एक मृत चेहरे के साथ मेरे चेहरे को मिला कर देख रही थी?

दबे स्वर मे हरिध्वनि देते हुए उन लोगो ने जब दादा को उठाया, उस समय मुझे गोद मे लिए ही तुम पीछे-पीछे दौड गई थी। सबने मिलकर तुम्हें रोका, तुम मुझे गोद मे उठाए ही वापस आ गईं।

वे लोग दोपहर के बाद लौट आए, शून्यता हाथ मे लिए कोई लौटता है, लौटा जा सकता है, यह उस समय नही समझता था। समझ पाया था बहुत बाद म, विजयादशमी के विसर्जन की सध्या को, जब और थोडा बडा हो गया था। पर उस दिन वे लौटे, बिना दादा के। दादा नही हैं, लौटेगा नही, यह उसी समय पहली बार निर्मूल जानकर, मैं भी अचानक गला फाडकर रो पडा। जो दादा, सवाल गलत होने पर मुझे मारता, जिसके इधर उधर चले जाने से मुझे राहत मिलती, बाजार स कभी-कभी जो मेरे लिए सन्देश लेकर आता, वह अब और लौटकर नही आयेगा, जानकर उसके लिए मैं रोया था।

माँ! उस समय तुम्ह सम्हालना दूभर हो गया था। तुम पागल की तरह सिर हिलाये जा रही थी। आँचल अस्त-व्यस्त हो रहे थे। अचानक न जाने क्या हुआ, सुधीर मामा का कधा जोर से पकड कर, लगातार बोलने लगी थी, "किस पाप के कारण मेरा ऐसा हुआ, बता दो मुझे सुधीर दा! बता दो!"

मैं आज भी उस दृश्य को देख रहा हूँ। तुम्हारे रूप वाला म धीरे-धीरे हाथ

फेरते हुए सुधीर मामा बहुत कोमल और धीर स्वर मे बाल रहे है, "पाप ? उसके बारे मे तो सिर्फ एक ही व्यक्ति जानता है जो ऊपर है, मनुष्य अपने पास पाप-पुण्य का हिसाब नही रखता है न !"

*   *   *

सुधीर मामा ! बहुत दिनो से यह नाम भूल चुका था। आज तुम्हे यह पत्र लिखते हुए अवश्यम्भावी लौट आया। एक पुराने काई जमे तालाब का हिला-डुला रहा हूँ न ! शायद इसी से एक के बाद एक मरी हुई मछलिया तिरती आ रही हैं।

सुधीर मामा कौन थे ? किस रिश्ते से मामा लगे यह पता नही, तुमने भी कभी बताया नही, उस जमाने मे इसकी जरूरत भी नही पडती थी। पास जो आता, हाथ बढाकर उसे ही थाम लेता। मन इसी तरह तैयार रहता, अथवा तैयार किया जाता। मानो स्वत सिद्ध कुछ लोग, बिना किसी दुविधा के जल, हवा सुबह के माढ वाले चावल, शाम की मूडी-पठाली की तरह स्वीकृतगृहीत हैं। गुरुजन होने के कारण उन्हें सम्मान देना पडता है। इस तरह की शिक्षा रोम-रोम मे समाई हुई थी।

झट से कोई किसी का चरण स्पर्श करके प्रणाम कर रहा हो, आजकल यह कम ही देखन को मिलता है। वह सब अब लगता है, समाप्त होता जा रहा है।

सुधीर मामा, जीवन के उस प्रभात मे मानो एक नियम एक अभ्यस्तता, पौन पुनिकता से थे। आज तस्वीर धुधली है, अत ठीक-ठीक वर्णन शायद न कर सकू। केवल प्रस्थहीन एक दीर्घता ही मानस मे स्पष्ट है। उनकी बगल मे सब कुछ कितना छोटा लगता ! मैं तो उस उम्र मे कभी भी उनकी कमर से ज्यादा ऊँचा हो ही नही सका। माँ, लगता तो नही है कि तुम भी उनकी छाती से ज्यादा ऊँची रही होगी। वे गोरे थे कि नही, याद नही। उन दिनो गाव मे ठीक जिसे गोरा कहा जाता था, उस तरह के लोग अधिक नही दीखते थे न ! पोखर के पानी और मैदान की धूप से कम से कम मर्दों का रग तो काफी काला पड जाता। सुधीर मामा भी, अनुमान लगाता हूँ तांबे जैसे थे।

उनकी और भी जो चीजे याद आ रही हैं, उनम एक मफलर भी है। हमेशा उसे वे गले से लपेटे रहते।

(माँ ! तुम मजाक मे कहा करती, "महादेव का साँप है।" हँसत हुए सुधीर मामा जवाब देते, "महादेव ही तो हूँ मैं ! देखती नही नीलकठ हो गया हूँ।" तुम्हारी भौंए तन जाती। पर ज्योही सुधीर मामा टेंटुए के पास फूली हुई नीली नस दिखला देते, त्योही तुम भी हँस पडती। "ओह ! इसके लिये !")

वह मफलर, तकरीबन सुधीर मामा की देह की त्वचा की तरह उनसे जुडी रहती। बहुत गर्म दोपहर मे सिवा उन्हें बिना मफलर के देखा नही। रह रहकर,

खो-खो खाँसते रहते। खाँसी हमेशा लगी रहती। कभी-कभी देखता था, खाँसते खाँसते बेदम-सा हो जाते थे। आँखें बाहर को निकल आती, गले की वह नीली नस मानों पाइप की तरह फट पड़ने को होती। सुधीर मामा हाथ बढ़ाकर एक गिलास पानी लेते। थोड़ा सम्हलने पर अपनी कमजोर छाती पर हाथ फेरते, थोड़ी शर्मीली-सी हँसी के साथ बोलते, "बिल्कुल घायल! अन्दर अब और कुछ नहीं है। छाती खाली हो चुकी है।"

माँ! तुम कहती, "पर दिमाग तो है! जो कुछ है उसी में से मेरे इन दोनों लड़कों को दो न!" सुधीर मामा की दोनों आँखें चमकने लगतीं, "दूँगा, दूँगा। वे लोग विद्या-बुद्धि में बहुत सम्पन्न होंगे, देखना न!"

जाड़े में सुधीर मामा को और ज्यादा झुके हुए देखता। गलाबन्द इंट रंग के कोट के ऊपर एक बेमेल सा सन्तरे रंग की चादर डाल और भी ज्यादा शीर्ण, जड़ और निष्प्राण से दीखते। उस समय और भी ज्यादा ध्यान उनकी छड़ी की ओर जाता छड़ी के बिना उन्हें कभी देखा है, ऐसा ख्याल नहीं पड़ रहा है, छड़ी पर ठीक बोझ डालकर वे नहीं चला करते थे, बल्कि उसे आगे फेंकते हुए से चलते, जिससे ठक ठक की आवाज़ गूँजती। काफी दूर से ही पता चल जाता कि वे आ रहे हैं। ऐसा लगता मानो ज़मीन पर छड़ी ठोक-ठोक कर सुधीर मामा इस बात की जानकारी ले रहे हैं कि जमीन कितनी ठोस है।

इसके साथ ही, सुधीर मामा की नाक के दो लम्बे बाल भी याद आ रहे हैं, कनखजूरे की तरह लगते। काफी बाहर निकल कर मूँछ के बालों के झुंड में घुस जाते।

(स्मृति का व्यवहार देख रहे हो कितना अजीब है? इतना कुछ भूल-भाल जाने के बाद भी नाक के दो बालों को इतने दिनों बाद न जाने कहाँ से उठा लायी है!)

कुर्सी पर ऊँघते-ऊँघते जब सुधीर मामा खर्राटे लेते, वे दोनों बाल काँपते रहते। मेरे पेट में तब हँसी की गुदगुदी लगती। तुम्हें कई बार बुलाकर दिखाया भी था। कुर्सी पर बैठकर झपकी लेना। थोड़ी-सी आहट में ही झपकी, झपक जाती। सीधे होकर सुधीर मामा बैठते, टुकुर-टुकुर देखते हुए बोलते, "क्यों रे! क्या देख रहा है?" नजर के निशानों को पकड़ने में देर नहीं लगती। दोनों बालों को पकड़ कर सीधा करते हुए बोलते, "ओह! यह! केवल क्या ये दो हैं? अच्छी तरह से देख और भी ढेर सारे हैं। एकदम घना जंगल। यह नाक कहाँ गयी है किसी को मालूम नहीं। किसी अन्य ने घुस कर बाहर आकर नहीं बताया न! दिशाहीन घना जंगल, जानवरों से भरा हुआ, तीर धनुष हाथ में लिये आदिवासी या फिर, मुस्कराकर हँसते हुए सुधीर मामा जोड़ देते, 'कहा तो नहीं जा सकता न, शायद तपस्यारत ऋषि-मुनियों से भी साक्षात्कार हो जाये!'

रोज सुबह सुधीर मामा, बिना किसी व्यतिक्रम के आते, आँगन में सुबह की धूप फैलने के साथ ही वे मोढे पर जम कर बैठ जाते। गुनगुनाते हुए कोई भजन अथवा कीर्तन गाते। उसकी सिर्फ एक लाईन याद है, "निशि अवसान है।"

तुम आँचल से हाथ पोछती हुई आती और कहती, 'कहाँ अवसान है? अंधकार मिटने का तो मुझे कोई लक्षण ही नही दीख रहा है।"

सुधीर मामा कहते, "मिटेगा, मिटेगा!" आकाश के उजाले की ओर मुँह उठाकर वे कितने विश्वास और आस्था के साथ अपनी बात कहते! उस तरह के विश्वास का आभास तक मुझे-हम लोगों को इस युग में ढूढ़े नही मिला।

उसके बाद सुधीर मामा हम लोगों के साथ व्यस्त हो जाते। दादा को सिखाते कठिन श्लोक। पहले रटना, बाद मे व्याख्या एक श्लोक मे 'वक्र-नेत्र' जैसा कुछ दाँत फोड़ू वाक्य थे। दादा किसी भी तरह उस श्लोक का अर्थ याद नही कर पाते थे। मुझे पढाते थे अंग्रेजी, माने पढ-पढ कर कहानी सुना देते थे। "फोक टेल्स आफ बेंगाल", राक्षस-दानव की कहानियाँ हाँऊ-माँऊ-काँऊ, यह सब उसी समय सुना था। अंग्रेजी भाषा उसी समय से जानी-पहचानी हो गयी थी। पर वह कोई बहुत बडी बात नही थी। रूपकथा का एक मायावी राज्य उसी समय मन में गढ गया। बहुत दिनों तक वह राज्य पाट अंतर मे अवस्थित ही रहा। कपोल-कल्पित वे जगत-वगत ना जाने कब काफूर हो गये, फिर भी क्या उसके स्पर्श की थोडी-बहुत अनुभूति मन के गलियारे मे क्या रह नही गयी है?

पढाना खत्म होते ही सुधीर मामा हाथ बढाकर कहते, "दो"। तुम हरे रस से भरा एक गिलास उन्हें पकडा जाती। नीम की पत्ती का रस। सुधीर मामा को पित्त दोष था। किसी-किसी दिन जुकाम-खाँसी के लिए अलग से तुलसी और अदरख भी लेते।

माँ, तुम्हें चाय पीने का नशा था, प्याले में चीनी मिलाते हुए सामने आकर बैठ जाती थी। एक दिन तुम्हे कहते हुए सुना था, "चाय पियोगे सुधीरदा! एक दिन थोडा-सा पियो न!"

सुधीर मामा कहते, "एक और नई आदत! और मत पकड़ाना। और फिर चाय मे मीठा पडता है न! मीठा कुछ भी इस मुह में बर्दाश्त नहीं होता।"

तुम्हे मृदु स्वर मे कहते हुए सुना, "तुम्ह सिर्फ कड़ुवा ही दती गई। सोचत हुए भी बुरा लगता है।"

सुधीर मामा किंचित् मुस्करा कर जवाब देते, "जिसका जो प्राप्य है।" बाद मे उस मुस्कराहट का नाम जान पाया हूँ—दार्शनिक निर्वेद। इस तरह किसी विधान का सिर झुकाकर ग्रहण कर लेना, किसी अक्षम व्यक्ति का गगा मे न उतर पाने पर, घाट पर ही खडे-खडे गगा जल छिडक लेने जैसा लगता है।

सुधीर मामा ने किसी-किसी दिन अचानक ही तुमसे पूछा है, "प्रणवबाबू की कोई चिट्ठी-विट्ठी आयी ?"

"बाबा का नाम सुनते ही तुम कैसी ती सफेद पड जाती थी। तुम्हारे पतले होठ टेढे पड जाते, या फिर थर-थर काँपने लगते।

सूखी आवाज़ मे तुम कहती, "न-ना-ह्।"

"छूट नही हैं ?"

"सरकार ने तो सबको छोड दिया है। अखबार म तो ऐसी ही खबर है, तुमने नही पढा ?"

"पढा है, तभी तो पूछ रहा हूँ। फिर रुपये-पैसे "

"उनके मामा ने मनिआडर भिजवाया था। वह भी पिछले महीने। और कोई खबर नही आयी है।"

तब उस इट रग वाले कोट की जेब से सुधीर मामा, बहुत कुण्ठित भाव से एक दस रुपये का नोट निकालते, "इसे रखो। अगर अचानक जरूरत पड जाये "

मा, तुम उस रुपये को छू कर भी नही देखती। पहले जैसे निष्पृह स्वर म कहती, "अपने पास ही रहने दो। हाय जब बहुत तग होगा, तुमसे माँग लूगी।"

"अरे, बाद मे चुका दना।"

क्षणाश मे मा, तुम्हारा चेहरा अपरूप विषाद् से मडित हो जाता। "चुका देती ? तुम्ह ? नही सुधीर दा, इस बार के सफर म तो लगता है, सम्भव नही होगा।"

एक बार सुधीर मामा कहा तो गये थे। वहा जाकर वे बीमार पड गए थे और उन्ह सातेक दिन रुकना पड गया था। लौटे तो और भी कमजोर और ज्यादा दुबले होकर। मा! उस दिन तुम्ह अचानक हल्की चपलता म विस्तारित होते देखा था। आँचल मुँह के पास ले जाकर हँसती रही, "हमने तो सोचा सुधीरदा, तुम एकदम ।'

"शादी करके लौट रहा हूँ ?'

"ठीक, ठीक ऐसा ही, तुम्हे जरूरत भी है। इस उम्र म बुखार मे बहोश हाकर '

"इसी लिये सिर पर पगडी धरने के लिये कह रही हो ?"

ताली बजाते हुए तुम हँसने लगी थी। "देखू, पगडी सिर दिये तुम कैसे दीखोगे ? ऊँहूँ," सिर हिलाकर तुमने कहा था, "नही सुधीरदा, तब तो तुम और भी लम्बू हो जाओगे ?"

सुधीर मामा हम लोगा की ओर देखते हुए कहते हैं, "तालगाछ, एक पाँव पर खडा सब गाछो से बडा, वाली कविता की तरह न रे ?"

एक मृत्यु आकर सूनी माँग की तरह ओर-छोर को सीधी चीरती हुई चली गई। बाद मे जो कुछ रहा—इस परिवार का रूप, तुम्हारा रूप, कुछ भी फिर पहले जैसा नहीं रहा। सब कुछ कैसा तो सफेद हो गया, एकदम सूनी, भाँय-भाँय करती गरमी की दोपहरी की तरह। या फिर कभी-कभी अकेले बरामदे मे खडे रहने समय कैसा तो धुआँ-धुआँ-सा लगता, मानो जाडे की शाम हो, समय आता-जाता बीतता रहा। हम लोग खाते-पीते फिर सो जाते। पर सब कुछ किसी नगी डाल की तरह लगता, जो जीवन के समस्त अर्थ को सूखे पत्ते की तरह झाड चुका हो।

खासकर जाडे का अन्तिम माघ महीना कितना तो सूना-सूना लगता। सारे पोखर, पुतलीहीन आख के कोटर की तरह लगते। खेत खडखडाते हुए सूखे-से। फसलें कट चुकी हैं। नगे पाँव चलने से चुभन होती। फिर भी अकेले-अकेले घूमता। सूने खेत मे मरे हुए जानवर की हड्डी चिकचिक करती। कितना वीभत्स चकचक सफेद होता ! यही क्या मृत्यु का चेहरा है ? मैं कभी-कभी सोचता, नही-नही, मृत्यु तो काली होती है। वह फकीर के चोगे की तरह काली होती है। वस्तुत बहुत दिना तक मैं यह समझ ही नही पाया कि मृत्यु का रग काला है या सफेद।

और उसकी गध ? इसे भी एक दिन महसूस कर सका हूँ कि मृत्यु-गध भी होती है। उस बार बहुत ओस पड रही थी, अचानक शाम के बाद लालटेन का तेल खत्म हो गया। तुमने कहा, "चट् से दूकान जा। थोडा-सा नारियल का तेल भी ले आना।"

रास्ते भर बदन सिहरता रहा। भयातुर होकर चलता रहा। कोई मेरे साथ है। न जाने कौन हँस रहा है, हवा म फैला कठ स्वर। मैंने दौड लगायी। एक ही दौड मे बाजार पहुँच गया। पर लौटते वक्त एक लम्हे के लिये वही गध। तेल की गध। दादा के पाँव मे एक बार बिवाई हुई थी। उस समय तुमने उसके पाँव की उँगलिया के बीच मे कपूर मिलाकर यही तेल लगाया था। मेरे झुक कर, दादा के पाव के घावो को देखते समय उसकी गध मिली थी। वह गध चेतना मे घुल-मिल गयी है, पता नही था। उस दिन, उसी क्षण दादा का लौटा लाया। उसकी मृत्यु को भी।

अलग-अलग तरह की मृत्यु की अलग-अलग किस्म की गध होती है। इन दिना शहरी मुर्दों की चादर पर एक तरह का इत्र उँडेल दिया जाता है। अधिकतर

देखी हुई मृत्यु की गध भी उमी इत्र की तरह होती है, मैंने अपनी जीवित देह पर कभी भी इत्र नही लगाया।

मेरे उस स्नायु-सिहरित शीतल शैशव में दादा, और भी न-जाने कितनी बार कितनी-कितनी तरह से लौट आया है। मैं स्वप्न मे तो रहता ही था, कभी-कभी कल्पना भी करता रहता—भूत के रूप मे। माँ ! हालांकि तुम यही कहती रहतीं, "दुर ! ऐसा नही बोलने। जिनसे हम प्रेम करते हैं, वे भूत बन कर नही आते।" तुम्हारा वह अटूट विश्वास ! आहा ! अगर मुझे उसका रत्ती भर भी मिला होता, तो दरवाजे की खट्खट् आवाज, और पोखर के शालूक फूल के हँसते हुए चेहरे के बीच, बार-बार दादा की झलक मिलती क्या ? कितने इमली के अचार कड़वे हो गये। कच्चे अमरूद पर दात गडाने के पहले ही फेंक दिया है। कटोरे मे भर कर गुड और मूडी जब भी तुमने दिया है, मैं इसी बात की प्रतीक्षा मे रहा कि कब तुम हटो, तो मैं सारी मूडी चिडियो के बीच फैला दूँ।

* * *

पर तुम एक सहज विश्वास के अन्दर प्रवेश कर गयी थी। तुम्हारी हसी उस समय से जो गायब हुई, तो फिर लौट कर नहीं आयी। पता नहीं कहा से तुम्हे एक मत्र-पुस्तक मिल गयी। कमरे के कोने मे आसन बिछाकर, अर्थ न समझ पाने वाले मत्रो को एक के बाद एक लगातार पढती रही हो, इस समय मैं तुम्हारा वह शान्त, विश्वासी समर्पित रूप स्पष्ट देख पा रहा हूँ।

उन दिनो, सारी सुबह का मतलब ही रह गया था, तुम्हारा स्तोत्र-पाठ। सुन-सुनकर मुझे भी कठस्थ हो गया था। आज भी जितने स्तोत्र, जितने मत्र टूटे फूटे-अशो मे याद हैं, वह सब उन्ही दिनो सुने हुए का अवशिष्ट भाग है। पर तुम्हारी उदासीनता का हिस्सा मुझे नही मिला था। दादा के अभाव का बोध धीरे-धीरे धूमिल होता हुआ बिल्कुल ही लुप्त हो गया। मैं दोबारा अपने स्वाभाविक चपलता और लालचीपन मे लौट आया, पर तुमने जो कुछ छोड दिया, उसे दोबारा ग्रहण नही किया, एकदम बदल गई। एक मृत्यु आकर क्या ले गई, बदल म तुम्ह दे गयी एक सम्पूर्ण शुभ्रता मानो ज्योही ठट पडी नही कि तुमने स्वय का एक माटी चादर म लपेट लिया। वह चादर फिर बहुत सरलता से उतर नही सकी।

इस पत्र को लिखने म एक ही असुविधा है कि तुम्हारे पास से इसका कोई उत्तर नही आयेगा। यदि कुछ गलत-सलत लिख भी जाऊँ, तो तुम्हारी भौंवें टेढी नहा होगी। तुम सुधार भी नही दोगी। देखो, मैं लिख रहा हूँ और मेरे हाथ काँप रहे हैं। डरते-डरते आगे बढ रहा हूँ, भाटे म बैठकर ज्वार की बात लिखना बहुत सहज नहीं है। मैं तो यही समझ रहा हूँ कि जो कुछ मैंन देखा है उसे ही हूबहू उतारता जा रहा हूँ, पर जिसे देखा है, वह इसे कहाँ लिख पा रहा है ? इस उम्र की आँखो स उस उम्र क फूल और काँटो म विचरण—सब तो आ सकता ही है शायद आ गया

ही हो। कौन जाने, जो कुछ देखा है, शायद उन्हें लिख नहीं रहा होऊं। जो कुछ देखना चाहता हूं, जिस तरह देखना चाहता हूं वही कलम से स्याही बनकर निकल रहा है।

तुम दादा की मृत्यु के बाद सुदूर-धूसर निरासक्त-सी हो गयी थी। बहुत करुण तूलिका से मैंने तुम्हारी एक तस्वीर खीची। क्या पता वह शायद ठीक न रहा हो। पर कौन-सी प्रतिकृति एकदम ठीक-ठीक उतरती है? इस समय ऐसा अनुभव हो रहा है कि, वह मृत्यु तुम्हे सिर्फ दूर ही हटा ले गयी हो, सो नही बल्कि उसके साथ ही तुम्हें मेरे बहुत निकट भी ले आयी थी।

हम एक साथ सोते थे, सोते तो बराबर ही साथ मे थे, पर इतने पास सटकर सोना इससे पहले नही हुआ था। सांस से सास मिलाकर, गुडमुडा कर जितना ज्यादा हो सके, एक दूसरे को जकड के? यह ठीक है कि एक मृत्यु हुई। कोई जो था, वह लापता हो गया। जाने के पहले माना वह एक निश्चित अलिखित चिरकुट छोड गया कि, अब से हम दोनो एक दूसरे के लिए हैं। कुएँ के पास मुझे खीचकर-घसीटते ले जाकर, जाडे की सुबह मे भी लोटा भर-भर कर पानी डालकर नहलाना माँ! इन सब तुच्छातितुच्छ घटनाओ को क्या तुम अंतिम दिनो तक याद रख पायी थी?

जरूर रख पायी होगी, पर मैंने नही रखा था, क्योकि यह ठीक है कि एक आदमी चला गया, पर उसके बदले कोई और, नही-नही पत्नी की बात नही कर रहा हूँ, वह सब बाहरी बातें हैं, दरअसल माँ और पुत्र के सम्बन्ध के बीच जो चुपके से चली आती है, उसका नाम है उम्र। वही आकर बदल देती है सब कुछ। वही मूल है। हम लोग बिना समझे उसे 'मित्र', 'पत्नी' यह सब नाम देते हैं। आदम और ईव के बीच जिस तरह छद्मधारी साप था, मा और पुत्र के सम्बन्ध के बगीचे मे भी उसी तरह उम्र एक छद्मधारी सांप है। वही मुझे बदलता जा रहा था। मेरी उम्र ही मुझे बहला-फुसला कर धीरे-धीरे तुमसे दूर हटा देना चाह रही थी।

खैर, वह सब बातें फिर कभी। पर उस समय मा हम लोग एक ही थाली म खाना खाते थे। भात सान कर, एक-एक कौर के लिए डेला बना रखती थी। मैं कभी-कभी टपाटप, मुंह मे डाल लेता तो कभी तुम मुंह मे डाल देती। गाल पर झूठा लग जाने से हथेली से पोछ देती। आज उस सुख स्पर्श की बात लिखने मे भी रोमाचित-सा महसूस कर रहा हूँ। और था मेरा आखिरी चाटना-चटोरना। उस काम का तो सर्वाधिकार मेरे पास सुरक्षित था। यहा तक कि तुम्हारे मुंह म चबाए गये पान की ओर भी मै ललचायी नजरो से देखता रहा हूँ कि कब तुम जीभ के अग्र भाग मे थोडा-सा लाकर दोगी। उसी प्रतीक्षा म अधीर हो उठता था। क्लास मे सिखलाई गयी सरल स्वास्थ्य-नियम की भी परवाह नही करता। मजीरा बजाकर साधु के आते ही, तुम्हारे पास से चावल लेकर दौडकर जाना, तुम्हारे बगल मे बैठकर दोनो हाथ जोडकर प्रत्येक बृहस्पतिवार का सत्यनारायण की कथा सुनना। पद्मासन

होकर बैठना किसे कहते हैं, यह तुमने ही सिखलाया था। तुम्हारे ठाकुर जी के लिए, दूसरे के बगीचे से फूल चुराना। सहजन और बकफूल तोडकर लाना, आज भी देख पा रहा हूँ, जो आज भी स्मृतियो की टोकरी मे न जाने कितने फूलो से भरी हुई है। छुट्टी की दोपहरी मे तुम्हारे बालो मे उगली फेरा हूँ। वैसे यह सब लिखने का कोई अर्थ नही है। किसी के पास इन सबका कोई मूल्य भी नही है। मेरे पास भी कितना है ?

रात का उठकर बाहर जाने की जरूरत पडने पर जब तुम्हें जगाता, निद्रातुर तुम उठ बैठती। किसी-किसी दिन देखता, तुम्हारे नटखट तेवर को। "डरपोक कहीं का। अभी तो मैं खडी हो जा रही हूँ, इसके बाद कौन खडा होगा ? तेरी बहू आने से क्या वह खडी होगी ? तू इतना क्यो डरता है ? काहे का इतना डर है ?"

तुम्हे उस समय किस तरह समझाता मा, कि किस बात का डर था। जिन लोगो का हम देख नही पाते, पर जो लोग निरंतर तरह-तरह के अबोध्य शब्दो से बात करते हैं, रात होते ही कतार लगाकर बाहर पहरा देते थे, उन लोगो के पास अकेले जाने से क्या मैं उनके चगुल मे फँस नही जाता।

एकाध और तस्वीर आधी रात की स्मृति-पटल पर उभरती आ रही है। बदन पर से रजाई या कथरी हटा देने पर, तुम ढँक दिया करती थीं, या फिर बुखार मे अगर छटपटा रहा हूँ तो माथ पर ठण्डी हथेली रखती थी, हथेली ही मानो जल पट्टी हो। माथे पर हाथ फेर रही हो। यह सब तो बहुत मामूली घटनाएँ हैं। पर किसी-किसी दिन तुम्हें मसहरी के अन्दर सीधी बैठकर, दोनो हाथ जोडे उपासना की मुद्रा म बैठे देखा है। दृष्टि ऊपर की ओर, सर्वाङ्ग मानो कठोर हो गया हो। मेरा जानी-पहचानी माँ, मानो हठात् पत्थर की मूरत बन गयी हो। तुम स्तब्ध निस्तरग-सी, मूक प्रश्ना से किसी अदृष्ट को बेध रही हो। तुम जहाँ हो वहाँ असल म नहीं हो। यह मैं साफ-साफ समझ जाता था।

जैसे ही तुम्हें यह महसूस हो जाता कि मैं जाग गया हूँ, तुम्हें देख रहा हूँ, वैसे ही तुम लौट आतीं। तुरत सुलाने लगती, 'सो जा! बाहर शायद किसी मेढक को साँप ने पकडा होगा। का[illegible] की आवाज होते ही नींद टूट गयी थी।"

हाट की एक पीली परत तुम्हारे चेहरे पर फैल जाती। लालटेन की धीमी रोशनी म भी उस मैं [illegible] लेता। तुम दादा की याद कर रही हो। तुम्हारे शेष समय का मैं आत्मसात् कर लिया था। फिर कभी थोडा-सा निभृत, नीरव क्षण होते। विनिद्र ये क्षण ही मानो कट गए थे।

न जाने कब मैं धीरे-धीरे तुम्हारे घुटनो पर सिर रख देता, हाथ बढाकर, तुम्हारी गर्दन म लिपटा हुआ बोलता, "माँ! दादा आज भी नहीं आये ?"

तुम कोई जवाब नहीं देतीं।

इतना बडा समाचार पाकर भी [illegible] [illegible] नहीं है, यह सुनकर भी नहीं आए ?

"वे ऐसे ही हैं। या फिर हो सकता है, खबर न मिली हो।"

"पत्र तो दिया था।"

"जिन जगहों पर हो सकते हैं, वहाँ-वहाँ तो दिया ही था। किसी आदमी के मार्फत भी कहलवाया था।"

"उन लोगों को शायद मिले न हों ?"

"हो सकता है। यह भी हो सकता है कि सुन कर भी न आये हों। आयेंगे क्या ? किस मुँह से आयेंगे ? हमेशा ही तो बाहर ही बाहर रहे। घर परिवार कब देखा ? देखा ही नहीं जब, तो फिर गृहस्थी क्या बनायी ?"

गृहस्थी बनाना किसे कहते हैं, यह मुझे उस समय मालूम न था।

"बाबा वहाँ रहता है, मा ! क्या करता है ?"

"छि ! रहते हैं, बोलना चाहिये। वे देश के लिए काम करते हैं।"

देश का काम क्या होता है, ठीक-ठीक समझ नहीं पाया था। पर यह जानता था कि जेल जाना पड़ता है। बाबा बीच-बीच में जेल गये थे, यह सुना था।

"सिर्फ देश का काम ?"

"छूटने पर नाटक लिखते हैं। बहुत सी पुस्तकें लिख रखी हैं, बड़े होने पर पढ़ना। ढेर सारी कापियाँ। फिर उनके दिमाग में न जाने कितनी तरह के व्यापार करने की योजना है। यह सब करने ही तो सब कुछ चौपट हुआ है। मेरे बाबा जब तक जीवित थे, उन्हें कितना समझाया करते थे। सुधीरदा ने भी कितनी बार समझाया है।"

सुधीर मामा एक नाँद थे। सुधीर मामा का, हम लोगों के उत्तरी दिशा वाले कमरे के ठीक बगल में, एक बहुत बड़ा नारियल का पेड़ था, ठीक उसी तरह खड़े रहना।

एक दिन सुबह बहुत ठण्ड लग रही थी फिर ऊपर से वार्षिक परीक्षा खत्म हो चुकी थी। नींद टूट जाने पर भी रजाई के नीचे चुपचाप दुबका हुआ था। सुधीर मामा के आने की आहट मिल गयी थी। नियमानुसार नीम के रस में घूँट भर रहे हैं। धूप की ओर पीठ करके तुम शायद बड़ी डाल रही थी। सुधीर मामा को कहते सुना, "तुम्हारा बड़ा वाला अगर इस तरह नहीं चला गया होता अनु तो और आठ-दस साल में तुम्हें एक सहारा मिल जाता।"

अचानक दाल फेंटा हुआ कटोरा झनझनाते हुए गिर पड़ा था। माँ ! तुम्हें शायद मालूम नहीं, मैं बिस्तर से फट्टाक से कूद पड़ा था। मैं दरवाजे के पीछे इस तरफ खड़ा हो गया, जहाँ धूप अविरल तौर की तरह फैली हुई थी। तुम्हारी स्थिर हो गयी दृष्टि को मैंने देख लिया था। तुम्हारी दृष्टि स्थिर थी, पर बात करते हुए

तुम्हारा गला काप गया था, "मेरे किम पाप के कारण ऐसा हुआ मुधीर दा ! आज फिर पूछ रही हूँ। ईश्वर जानता है, किमी तरह का पाप हमने नही किया है।"

"पाप ? पाप शायद वहुत तरह के होते हैं आनू ! सज्ञान मे न हो तो अज्ञान मे ही ! ठीक-ठीक मालूम नही" इसी तरह का कुछ शायद सुधीर मामा ने अस्पष्ट स्वर मे कहा था, या फिर उस नीम के गिलास मे मुह रखकर बहुत धीरे-धीरे उच्चारित किया था, सो ठीक से सुन नही सका।

पर बोलते-बोलते सुधीर मामा को खासी आ गई थी। मा, तुम जल्दी से उठ कर, जिस हाथ मे दाल नही लगी थी, उस उनकी पीठ पर फेरती रही। सुधीर मामा के थोडा सम्हलने पर तुमने कहा था, 'अभी भी समय है सुधीर दा। तुम्हारी तबियत ऐसी रहती है, किसी को लाकर, अपने देखने-सुनने का जिम्मा उसे सौंप दा।"

पलाश मे सुधीर मामा का चेहरा और अधिक सफेद, गुडे-मुडे कागज की तरह हो गया। कैसे अपरिचित-से स्वर मे उन्हे कहने हुए सुना, "क्या ? तुम लोग तो देखभाल कर ही रही हा !"

"हम लोग ?" तुम्हारे चेहरे पर ऐसी मुस्कराहट खिल गयी, जिसे ठीक मुस्कराहट भी नही कह सकते। "हम लोग ? मैं ता अपने ही दुख, शोक मे, अपनी ही मोह-माया के जाल मे फसी पडी हूँ। वल्कि, तुम्ही हम लोगा के लिए क्या, क्या मुधीर दा ! तुम्हे ता हम कुछ भी नही दे पाये। तुम ही केवल देते गये। तुम्हे तो रत्ती भर कुछ नही मिला।"

उस समय सुधीर मामा के चेहरे पर दिव्य-सी जा आभा खिल गयी, उसे आज भी साफ देख पा रहा हूँ। "पता नही, क्या आनू ! नही मिला ऐसा मैं जोर देकर नही कह सकता हूँ। मुश्किल तो यही है। पाने का चेहरा शायद हमेशा एक जैसा नहा होता है। न-पाना भी जब आदत म शुमार हो जाय, ता उसका भी अपना एक नशा हा जाता है। तब वह भी एक तरह का पाना ही हो जाता है।"

क्या ठीक यही वाक्य बोले थे सुधीर मामा ? पत्तो के बीच से गुजरती हुई हवा का सरसराती हुई आवाज म ? और मैंने हूबहू उसे याद रखा ? क्या पता माँ ! झूठ नही बोलूगा। शायद बात कुछ और ढग से कही गयी हो, पर उसका आशय कुछ इसी प्रकार का ही रहा। मन अपनी इस उम्र की आशा-हताशा के समीकरण के दर्शन से उनकी भूली हुई बाता को इसी तरह बैठा लिया है, घड लिया है।

*　　　*　　　*

बीच-बीच मे बाबा का पत्र आता। कभी-कभार रुपया। पर वे नही आये। कम से कम वहुत दिनो तक ता नही ही। दादा की मृत्यु के केस से कम डेढ साल म उन्हें देखा है, ऐसा याद नही पड रहा है। याने एक जाडे म दादा चल गये, बीच में

एक जाडा और आया। बाबा जिस दिन अचानक आये, उस समय चौधरियो के बडे बगीचे मे चिडिया का चहचहाना अचानक थम चुका था। सुना था वे लोग जाडे मे आती हैं और गरमी का मौसम आते ही अपने-अपने देश को लौट जाती हैं। आम के बौर पर छोटी-छोटी गोलियाँ आ गयी है। बाबा जिस दिन आये थे, वह दिन मेरे मन पर किस तरह अकित है, यह मैं तुम्हे बाद मे समझा कर बताऊँगा, अभी यही तक।

परिवार नामक सस्था मे पिता नामक व्यक्ति एक अनिवार्य अग होता है, यह मेरे प्रत्यक्ष अभिज्ञता मे बहुत दिनो तक नही आ पाया था। बहुत कुछ मैं मातृतत्र मे पला था। मेरे सामने पिता की छवि शिशुकाल से ही बहुत धूमिल थी। बस परोक्ष मे उनका अस्तित्व मात्र ही था।

हम लोग इस मकान में क्यो रहते थे? उसके बारे मे सुना था कि वह मकान हम लोगो के एक मामा का था। मामा नही थे, इसलिए एकमात्र वारिस की हैसियत से वह मकान तुम्हें मिला था। पैतृक मकान जिसे कहते है, वैसा कुछ नही था। इन सब बातो का बोध मुझे काफी बडी उम्र तक नही हो पाया था। क्लास के और सब लडके अपने पिता से डरा करते थे,पर फिर भी अपने पिता के बारे म बार-बार बताते रहते। उनके साथ घूमने जाते। पर मेरे पास बात थी, तो केवल तुम्हारी सिर्फ तुम्हारी। पर इसके कारण किसी प्रकार का प्रश्न, किसी प्रकार की दीनता अथवा अभावबोध ने कभी भी कष्ट नही दिया। किसी के पिता नियम होते है, तो किसी की माँ। मैंने यही मान लिया था। मैं, दादा और तुम तीनो मिलकर मजे मे ही रहते थे।

दादा चले गये, सो तीन की जगह रह गये दो। पूरी सुबह मे रहता तुम्हारा स्तोत्र-पाठ और पूरे दिनमान म रहता तुम्हारा प्रगाढ आवरण। पहली बार जब जाडे का मौसम लौट आया, पता नही क्यो, उस बार बिना मौसम के बादलो स टिप टिप बारिश भी होती रही। एकदम सुई चुभाने वाली ठड। बाहर निकल नही पा रहा हूँ। एक पतली-सी चादर लपेटे पडा हुआ था। अपनी पाठ्य-पुस्तक से बगला की एक कविता 'डेके दाओ, डेके दाओ दादा के आमार, ऐका आमी पारी ना खेलीत,' पढ रहा था। बाद मे पता चला था कि वह एक विदेशी कविता का अनुवाद था। पढते पढते मैं थरथर काँपे जा रहा था—ठड से। या फिर अदर ही अदर कविता के शब्द कोहर की तरह एकाकार होकर हूँ हूँ करके मुझे कँपा दे रहे थे। कब तुम मेरे पीछे आकर खडी हो गई थी, पता नहीं चला। कनखी से देखा तुम चली जा रही हो।

पर थोडी देर मे ही लौट आयी तुम। हाथ म एक कोट लिए। मेरे ऊपर फेंक दिया। मुह से कुछ बोली नही, पर समझ गया था मैं। पहनने के लिए कह रही हो।

पहन भी लिया। हम लोगो के बीच एक मूक चलचित्र का अभिनय चल रहा था। कोट पहनकर आराम महसूस करने लगा था। मेरे पास कोट नही था। दादा को स्कूल के स्पोर्ट्स कक्ष से एक ही मिला था। देखते-देखते जाडा बीत गया। तुम्हारे चेहरे पर भी हल्की-हल्की उत्फुल्ल रेखायें थी, जिन्हे मैं भी देख पा रहा था।

तुमने इतने दिना तक इस कोट का नही निकाला था। उठा कर रख दिया था, पर आज दे सकी हो। असल मे नाना की सभी चीजो का तुमने उठा कर, रग उडे सन्दूक मे रख दिया था। उस सन्दूक से नैप्थलिन की महक आती रहती। कोट के ऊपर कुछ मरे हुए कीडे चिपके पडे थे। मैं चुन चुन कर निकाल रहा था और उसकी महक मेरे शरीर मे फैलती जा रही थी।

साहस जुटा कर एक दिन दादा के पढने की किताबें भी निकाल लिया। इस बार मैं स्वय ही, उसे पुरस्कार मे मिला एक पुस्तक जैसे राबिन हुड के पन्ने पलट कर पढ रहा था। वही ग्रीनहुड डाकू की कहानी। तुम तो देखकर अवाक रह गया।

"उसकी किताब तू पढ लेता है ?" बोला, "थोडा-थोडा पढ लेता हू।" तुमने कहा, "पढो तो देखू।" मैं धीरे-धीरे पढने लगा। तुम मगन होकर सुनने लगी तुम्हारी आखें कितनी बडी-बडी हैं मा! और कितने छोटे-छोटे से थे तुम्हारे दीर्घश्वास थोडी देर बाद तुमने कहा 'उसकी तरह नही होना है।" तुम चली गयी। मैं किताब बन्द करके सद हवा का झोका खाये हुए कुछ कौवा का कर्कश रोना सुनता रहा। आगन मे लगाये गये प्याज की कलिया पर बूद बूद पानी जमा था, पीछे के तालाब मे शालुक फूल मरे-मरे से मुरझाये हुए थे।

यह कलम इसलिए पकडा है कि स्वीकारोक्ति करूँगा। पर क्या मैं प्रणामपूर्वक प्रच्छन्न-सा थोडा रूठापन पेश करने लगा हूँ? पता नही। थोडी देर पहले ही तो लिख है कितने नजदीक आ गए थे हम लोग। उस बीच यह क्या! उस सरल बचपन म भी शाखा-प्रशाखाओ मे लिपटी हुई कितनी जटिलताएँ थी। छुडाने की कोशिश म आज भी चौंक जाना पडता है।

तुमने कहा था इस बार पीठा नही बनेगा। मुझे उससे कोई फर्क पडने वाला नही था, क्योकि पीठा मेरे लिए कभी प्रिय नही रहा। फिर भी उस वर्ष कैसा बडबडा गया था मैं! उसी घटना का जिक्र करके फारिग होना चाहता हूँ।

सुधीर मामा आकर पीढे पर जम कर बैठते हुए बोले, "बनाओ बनाओ, पीठा बनाओ," और उनके हाथ से खजूर के गुड की हाडी लेकर बिना ना-नू के तुम चूल्हा जलाने लगी। चलो इसे भी मान लेता हूँ, क्योकि तुम्हारे बैठने का ढग ही एक तरह का प्रतिवाद था। पर केवल चन्द्रपूली ही क्या, पाटीसाप्टा क्यो नही? उस समय भी मेरे मन के उस आहत-चीत्कार को तुमने सुना था या नही, मालूम नही। पर मुझे तुमने भरपेट केवल चन्द्रपूली ही खिलायी। मैं भी लोभी की तरह चाट-चूट कर खाये जा रहा था। चुक-चुक की ध्वनि के साथ। मुह से कह रहा था, "बहुत बढिया," पर को भी समझ नही पाया, न तुम न सुधीर मामा ने, उस तरह मेरा बैठकर खाना ही एक हाहाकार था। चन्द्रपूली दादा को प्रिय था। इसलिए तुम सिर झुकाकर मुझे देख रही थीं। सुधीर मामा को बहुत धीमे स्वर म बोल रही, "वह भी ठीक इसी तरह खाता था।" एक भी पाटीसाप्टा नही मिला।

उसकी तरह । उसकी तरह ! ये वाक्य मुझे अकेले म पढने को मज पर उदास कर जाते । बिच्छू की तरह डक मारते । सच ! मैं क्या बिना समझे-बूझे ही एक मरे हुए आदमी से जलन महसूस कर रहा हूँ !

स्कूल खुल गया है । वही कोट पहन कर जा रहा हूँ । तुमने भाडझूड कर साफ कर दिया है । कीडे अब एक भी नही हैं, केवल नैप्थलीन की रिमझिम-सी निर्जीव गध लगी हुई है । दरवाजे तक तुम छोडने आईं । "बिल्कुल उसकी तरह लग रहे हो," कह-कर ठुड्डी पकडकर कितना स्नेह ! कितना स्नेह ! उस समय तक केवल तस्वीर म देखे हुए हिरन की तरह । पर मेरी ठुड्डी जली जा रही थी । उससे मैं बुद्धि म कम था, रग भी काला यही बराबर सुनता आया हूँ उस दिन अचानक यह सुनकर कि मैं उसकी तरह दीख रहा हूँ, मेरी छाती तन कर दस हाथ कहाँ हुई ? उसकी तरह, उसकी तरह होकर क्या मैं उसके प्राप्य स्नेह को ग्रहण करूँगा ! मैं तो अपनी तरह ही हूँ । जो जैसा है, वह वैसा ही रहेगा । केवल थियेटर म दूसरा कोई बनने मे अच्छा लगता है । वह भी अगर रोबदार पार्ट मिले तो । पर जीवन में ? नही कभी नही ।

मरे हुए व्यक्ति से ईर्ष्या कर रहा हूँ । सिर्फ यही नही । उस कोट को पहन कर मैं भी स्वय को एक मृत व्यक्ति समझने लगता हूँ । कोट के नीचे उसके शरीर को ढोये जा रहा हूँ । पर उसके भी नीचे विस्मित आहत-सा कोई और भी रहता है । वह उसे स्वीकार नही करता था । एक विकल्प सत्ता हो जाना उस बिल्कुल बरदाश्त नही था ।

कोट को एक दिन जमीन मे फेंक उसे मथ रहा था । कब की बात है ? शायद सरस्वती पूजा की सुबह । दरअसल मे, अवचेतन स्वार्थ कितना सयाना होता है देखो ! दुर्जेय जाडे के मौसम को पार करने के बाद ही उस कोट को खारिज करना चाहा । कोट की दुर्दशा देखकर तुम सिहर उठी थी । तुम्हारी आखो म जो कुछ उभर आया था, उसका नाम केवल क्रोध नही था, आतक भी था । तुम्हारी आखो म अगार था । माँ ! तुमने मेरे बदन पर हाथ नही उठाया, पर अपनी दृष्टि से मेरा बदन झुलसाती रही । उसी क्षण मानो स्नेह की खीर कट-कट कर घृणा मे बदल गयी । झुककर,कोट उठाकर, धूल झाडा तुमने । धूल तो नही झाडा, मानो हाथ फेरकर कोट को दुलराया । या फिर किसी और को ? अप्रत्यक्ष-सा वह अकस्मात् ही वहा उपस्थित हुआ । मेरी तरह वह भी देखता रहा । झाड-पोछ कर तुम कोट को फिर से टीन के बक्से मे तह लगा कर रख दे रही हो ।

कोट फिर से अँधेरे मे गुम हो गया । पडा रहा नैप्थलीन की विकट गध से रमरमाते हुए अवश जगत् मे । कितने दिनो तक कौन जाने ! या फिर वे मरे हुए कीडे फिर से जीवित होकर कोट को क्या धीरे-धीरे कुतर कर खा गए थे ?

मालूम नही । उस कोट को मैंने फिर नही पहना । दूसरे जाडे मे सुधार मामा ने मुझे एक और कोट ले दिया था । हालाकि वह छीट का था ।

,

वह शोक कभी शात सयत रहता तो कभी सीमातीत हो जाता। दिन के बाद दिन ऐसे ही देखता रहा हूँ। जाडे का दिन फिर भी जल्दी ढल जाता, पर गरमी का लम्बी दोपहरी बीतने का नाम ही न लेती। खूब धूल उडाते हुए होली के दिन आये, चले गये। कितना रग मलना, कितने ढोलक, सडक पर उत्कट चीत्कार और हुडदगबाजी। पर हमलोगो का मकान उदास विधवा का चेहरा ही ओढे रहा। थोडा-सा अबीर लाकर तुम्हें प्रणाम करू, उतनी हिम्मत भी जुटा नही सका। अन्त मे दोपहर के बाद जब सब लौटे जा रहे थे, मुझसे रहा नही गया, बोला, "मा! थोडा सा रग मैं खरीद लू?" तुम माना डर गयी। "खेलोगे?" "नही, सिर्फ तुम्हारे पाव मे दूगा" मैं केवल तुम्हे देखे जा रहा हूँ। तुम भी कुछ बोल नही रही हो। काफी देर बाद धीरे धीरे बोली, "जाओ।" रुपये हाथ मे देते हुए कहा, "उसी के साथ बाजार से घी, रग के कुछ गुच्छे-धागे डी० एम० सी० का खरीद लाना।"

तुम्हारे हाथ की कढी हुई बहुत खूबसूरत-सी वह लिखावट, हम लोगों के कमरे की दीवार पर बहुत दिनो तक टँगी रही। एकदम सफेद कडकदार लागक्लाथ घर पर ही था। मैंने रेशमी धागा ला दिया था। तुम शायद उसी दिन सुई धागा लेकर बैठ गयी थी। तुम्हारी उम्र उस समय कितनी होगी—हिसाब लगा कर देख चुका हूँ, तीस या बत्तीस होगी। चश्मे की जरूरत नही पडती थी।

चारो ओर फूल-पत्तिया का नक्शा बना, कोने पर चिडिया। शाम को सुधीर मामा आये।

"क्या कर रही हो?"

तुम शायद थोडा-सा अप्रतिम-सी हो गयी। कढाई किए हुए कपडे को सामने फैलाते हुए पूछा, "कैसा बना है, बताओ न।"

छडी के ऊपर वजन देकर थोडा झुकते हुए सुधीर मामा बोले, "बहुत बढ़िया। पर क्या? किसके लिए बनाया है, यह तो बताया नही?"

"समय नही कटना चाहता है, सुधीर दा! इसलिए सोचा, उसके लिए, उसको याद करते हुए कुछ बनाऊँ।"

(दादा का एक नाम भी था, पर उसके चले जाने के बाद उसका नाम तुम आसानी से जुबान पर लाती नही थी। शायद तुम्हारी जुबान जलने लगती हो!)

सान्त्वना के स्वर मे, माना सान्त्वना न होकर कोई मल्हम हो, और बातें मानो उँगलिया। ठीक उसी तरह प्रलेप लगाते हुए सुधीर मामा बोले, "भूल नही पा रही हो ?"

तुम सिर हिला रही थी। याने बता दिया तुमने, बिल्कुल नही। "भूलना सभव नही है। भूल जाया जाए अगर।"

उसी समय पता नही तुम्हारे मन म क्या आया। गले मे आचल लपट कर सुधीर मामा को प्रणाम किया। मैं बाजार से जो अबीर लाया था, उसका ही अधिकाश उन्होने ढाल दिया।

बाद मे नक्शे के कपडे के बीच की खाली जगह को दिखाते हुए कहा था, यहाँ पर उसकी स्मृति मे क्या कुछ लिखा नही जा सकता है ? तुमने तो काफी कुछ पढा है सुधीर दा ! कुछ पक्तिया बता दो न ! किसी कविता की कुछ उपयुक्त पक्तिया ?"

सुधीर मामा, दूसरे दिन एक पुस्तक ले आए। उसके ही एक पृष्ठ से—

यहाँ से दूर, बहुत दूर,
स्वर्ग मे, अमरपुर मे,
हृदय के धन मेरे चले गए।
नही, नही, नही वह गया नही,
उन्होंने पकड लिया है॥
वह सब मरम पर रोक
मेरे ही प्राणो का शोक,
वह आग, यह हृदय जल रहा—जलेगा,
जरूरत क्या दिखाकर किसी को
किसके सीने म बजेगा !!

याद है उस पुस्तक का नाम 'काव्यकुसुमाजलि' था। पति विरहातुरा नारी की व्यथा को पुत्रशोकातुरा माता की अभिव्यक्ति बनाने के लिए थोडी हेर-फेर करनी पडी थी।

उसके बाद दादा की एक तस्वीर भी बँधवायी गयी न ! रोज ताजे फूल की माला उस पर पहनायी जाती। फूल मैं ले आता, माला तुम बनाती। सुधीर मामा आते, देखते। सिर हिलाते, मानो तुम्हारी वेदना उन्ह स्पर्श कर रही हो। बोलते, "थोडा, भी भूल नही पा रही हो ?"

तुम चौंककर बोलती, "नही, नही !" उस समय ईर्ष्या से नही, समवेदना से मैं भी आर्त हो उठता, पर आज थोडा खटका लग रहा है, मा। 'नहीं-नहीं', कहकर किस बात को अस्वीकार करना चाहती थी ? भूल न पाने को अथवा थोडा-थोडा करके भूलने लगी हो, उसको ? शोक का गाढा रग क्या थोडा हल्का पडने लगा

इसीलिए क्या स्मृतियों का मथन करती थीं ? फ्रेम मे बाँधकर ऊँची दीवार पर टाँग देने, और मत्रजाप की मात्रा बढाने की जरूरत पड गयी थी ?

उस समय समझ नही पाया था, इसलिए पूछा नही था। आज मेरी वह धारणा कीडे की तरह रेग रही है, पर जानने का कोई उपाय नही है, उपाय तुमने रखा नही है।

बाबा को शायद उसके थोडे दिन बाद ही घर पर देखा।

वह भी अचानक ही। जाडे मे जिस तरह त्वचा फटती है, और प्रखर ग्रीष्म मे माठ, हम लोगो के परिवार म भी ठीक उसी तरह, उसी समय से ही दरार पड़ने लगी। कम से कम तुम चाहे जिस तरह इसे देखो पर मुझे तो ऐसा ही लगा था। अच्छा हो, बुरा हो, इतने दिनो तक एक ही ढर्रे पर चल रहा था। उस ढग को ही मैं अभ्यास मानता था। उस ढग को ही मैं नियम मानता था। पर बाबा के आते ही न जाने क्या बदल गया। कुछ अलग तरह का। मैं सब कुछ स्वीकार नही कर पा रहा था।

(मा, तुम क्या बुरा मानोगी ? अगर परोक्ष मे यहाँ बाबा के लिए कुछ लिखूँ ? इस तरह लिखने का मन हो रहा है कि, बाबा ! तुम्हारे निकट मेरे किए गये अपराधो का अन्त नहीं है, उनमे पहला अपराध तो तुम्हें स्वीकार न कर पाने का है। यह अक्षमता आयी थी अदर्शन से, अनभ्यास से। मेरे शैशव मे, बचपन के भी दीर्घकाल तक, मेरे जीवन मे तुम्हारा एक तरह से कोई अस्तित्व ही नही था। तुम कभी-कभार आये हो। कभी-कभार पत्र आया है। वह भी हाथ से लिखा लिफाफा ही देख पाया हूँ सिर्फ। मा को लिखे गये उन पत्रो को मा छिपा कर रख देती। पढने कभी नही दिया। देना शायद सम्भव भी नहीं था। घर पर तुम्हारे नाम का उल्लेख बहुत सरसरी तौर पर किया जाता था, तुम्हारे बारे मे सुन-सुनकर जो तस्वीर मन मे बनी थी, वह तस्वीर निर्विकार किसी बाहरी आदमी की थी। एक ऐसा बाहरी आदमी, जो परिवार के दायित्व को नही सम्हालता हो। पुत्र-परिजनों के प्रति जिसका स्नेह यथोचित न हो। हमेशा ही जो राजबन्दी बने, या फिर यायावर। बीच-बीच म जो लगातार कई साल तक कही डूब जाता हो। बिजली की तरह जो अचानक ही चमक उठता हो। अपने परिवार म, अपने ही लिए कोई विशेष स्थान उसके लिए सुरक्षित नही था। कम से कम मैंने तो नही देखा था। कभी रहा होगा, पर उस समय मैं पैदा नही हुआ था।

सधवा होकर भी जो शून्य-शुभ्र विधवा का जीवन बिता रही थीं, जिसका माथा शीतल स्निग्ध आकाश की तरह था, वह तुम थी। तुम्हारी व्यावहारिक शुचिता थी। बाबा ! तुम्हारे लिए अगर सब कुछ उसने सुरक्षित रख लिया भी हो, उसके बावजूद उसके अन्तरतम की बात मैं नही कह सकता हूँ कि वहाँ क्या था और क्या नही ! तालाब को अगर निरन्तर साफ न किया जाये तो धीरे-धीरे वह भर जाता है, कीचड से। और मेरा तो कभी साफ किया ही नही गया। बन्द ही रहा हमेशा।

निरामिष भोजी जिस तरह थाल मे मछली देखकर घृणा से आक्रान्त हो उठता हो। इससे भी बढिया एक तुलना दूँ। कर्ण के मन से अपनी वास्तविक मा के लिए हाहाकार जिस तरह लुप्त हो गया था, मेरा भी वैसा ही हुआ। बाबा, क्षमा करना। तुम्हारी आकृति-प्रकृति कुछ भी तब मुझे ग्रहणीय नही लगी थी। तुम मानो किसी उत्पात की तरह एक अवांछित अनावश्यकता थे, क्योकि एक प्रतिरोध, एक तरह की विरोधिता पहले से पनपी हुई थी)।

उस दिन आधी रात को काफी आँधी तूफान आया था। भीगी हुई सुबह आँख ही नही खोलना चाह रही थी, और आधी-तूफान मे हम लोगो के मकान के टिन का छप्पर हिल रहा था, इसलिए हम लोगो की आँखो म भी नीद नही थी। बिस्तर पर बैठा ही रहा, ममहरी के अन्दर। उसी दिन हमे पता चला कि खिडकी का एक कपाट टूटा हुआ है। उसका ठक-ठक बजना, हमारी हड्डियो म प्रतिध्वनित होकर घुस रहा था, वायवीय भय बनकर। और बिजली! बिजली तो नही चमक रही थी, ऐसा लग रहा था, जैसे कोई डाकू आकाश को टुकडे-टुकडे करके काट रहा हो, आग का रग, ललाई लिए हुए पीला होता है न! मैंने बिजली की कौंध म खून का फव्वारा देखा था, काली रात के बदन से टपकता हुआ खून!

रात के अन्तिम प्रहर मे वही हवा, मृदु हो आयी थी। पहलवानी करतब की हुडदगबाजी के बाद मानो उसका करुण चेहरा हो। ठण्डी हवा के स्नेह-शीतल स्पश से हम लोग सो गये थे। तुम्हारी नीद जब टूटी, उस समय सुबह का चेहरा किसी आर्त पक्षी की तरह हो रहा था। बाद मे देखा था, किसी का घोसला टूटकर पेड पर झूल रहा है। पेड के नीचे फैले हुए, टूटकर बिखरे हुए कच्चे अडे कई आत पक्षियो के शोर से सुबह मुखर हो उठी थी। कच्चे अण्डे की जर्दी के रग जैसी ही धूप थी। धूप भी टूटे हुए अण्डे की तरह गुँथी-मुथी-सी होकर बिस्तर पर बिखरते ही तुम धडफडा कर उठ बैठी थी। रोज तुम पहले उठकर, सुबह के सूरज को नीद से जगाती हो। उस दिन सूरज ने तुम्हें जगाया।

माँ! तुम आगन में बिखरे पेड पत्तो को एक ओर समेट कर रख रही थी। सूखे डाल-पत्तो से चूल्हा जलाया जायेगा। उसके बाद ही सुधीर मामा आय। उनकी लाठी की ठकठक से ही व पहचान लिए जाते थे। सिर उठाकर मैंने एक बार उनकी ओर देखा। मफलर आज उनके सिर से लिपटा हुआ था। उस समय तक नीम का गिलास नही मिला था। इसलिए कल के तूफान और आज की सुबह के बारे मे तुमसे मृदुस्वर म बातें कर रहे थे। बहुत जरूरी बाते नही थी, बस यूँही चुप्पा तोडने के लिए।

उस समय एक बार और लगातार दरवाजे पर दस्तक पडी थी। किसी काम से तुम रसोई मे गयी थी, इसलिए शायद सुधीर मामा को ही उठना पडा था। मैं भी तब तक बिस्तर पर उठ बैठा था। दरवाजा खोला गया, और तुरन्त सुधीर मामा के स्वर म, "अरे आप! आइये! आइये!" जिसे सम्बोधित करके कहा गया, व प्रत्युत्तर

मे खडखडाती हुई आवाज मे क्या बोले, समझ मे नही आया। शायद कुछ भी नहीं बोले होंगे, सिफ एक बार कनखी से देखा होगा और उसके बाद बगल से निकलउ हुए सीधे सोने वाले कमर मे आ गये, जहा मैं उस समय बिस्तर पर ही था।

मैंन आख फाडकर उन्हे देखा था। यहाँ तक कि सुधीर मामा के बगल से निकलकर जब वे आग बढते आ रहे थे, उसी समय ही उनका चेहरा मन मे धस गया था। कद म छोटे, शायद सुधीर मामा के कधे से ज्यादा ऊँचे नही थे। पर मजबूत कद काठी। पाव पर वजन डालकर चलने की भगिमा। एक ओर लाठी पर बल डालकर झुके खडे, कृश, दुबल, बेतरतीब से लम्बे सुधीर मामा का चेहरा इतना कुठित हो उठा था कि दखने मे कुरूप लग रहा था।

चौखट पार करके, वे अन्दर आकर खड हो गए। बिस्तर के सामने, फली हुई परछाई से मुझे ढक कर, बहुत उत्सुक, तीव्र, स्थिर दृष्टि से मुझे देख रहे थे। मैंने देखा, एक भारी-सा कुर्ता नही फतुआ, चौडा कधा, रोयेदार बलिष्ठ दो हाथ, मानों दो पजे हो और घनी भौहो के बीच काफी बडा-सा मस्सा।

ज्यादा देर तक देख नही सका। आखें झुका ली थी। उन्होंने अचानक पीछे मुडकर देखा था। गमगमाती-सी आवाज म बोल पडे थे, "क्या ? इधर आओ। क्या बाते अभी भी खत्म नही हुइ ? उसे पता नही है कि मैं उसका बाबा हूँ ? गुरुजनो को प्रणाम करना नही सिखाया ?"

दरवाजे की आड मे एक परछाई पडी थी— तुम्हारी। उस परछाई को पहले कमरे मे भेजकर पीछे-पीछे तुम। दबी आवाज मे बोली, "उसके बाबा हो, किस तरह वह जानेगा। किसी के बदन पर तो लिखा हुआ नही रहता है न !"

वह गम्भीर आवाज अचानक हँसने लगी थी। मजा पाकर या विद्रूप से कहा नहीं जा सकता। हो-हो ध्वनि के बाद सुना गया, 'ठीक कहती हो। बदन पर लिखा हुआ नही रहता है। परिचय रहता है रक्त मे, रग-रग मे, शिराओ मे।"

तब तक मैंने उन्ह प्रणाम कर लिया था। उन्होने मुझे दोनो बाहो मे लपेटे उठा लिया था। अपने सीने से लगा लिया था। मेरा सिर उनके फतुए के बीच म, जहाँ बटन थे, ठीक वही गड रहा था। मोटा— न जाने कितने दिनो से बिना धुला, धूल मे अँटे हुए फतुए की गध से उबकाई आने लगी। फिर भी एक सिहरन, एक रोमाच, एक भय, दुर्बोध्य उस अनुभूति और आवेश को मा! इतने दिनो बाद किस तरह व्यक्त करूँ!

एक बार महसूस हुआ था कि छोड द तो छुटकारा मिले। पर साहस नही हो रहा था। और फिर उन्होंने जकड रखा ही था कितनी देर! शायद कुछ सेकेण्ड भर ही! उसके बाद सिर उठाकर, कनखी से देखते ही तुम्हे देख पाया था, मां!

छोटा-सा घूंघट निकाल कर तुम बगल म खडी थी। सिर पर घूघट डाले

तुम्हे पहली बार देखा । साथ के साथ तुमने भी थोडा त्रस्त भ[illegible] इधर-उधर देखकर, झुककर प्रणाम किया ।

वे बोले, "रहने दो, रहन दो ।" तुम जब उठकर खड़ी हुई, देखो तुम्हारा चेहरा आनन्द-अश्रु से भीगा-भीगा-सा हो रहा था । आज भोर मे चकचक धुले हुए पत्ता की तरह, पुरानी बात की कडी खीचते हुए तुमने कहा था, 'कैसे पहचानेगा ? वही कब्ब, जब्ब एकदम नन्हा-सा था तब देखा था न ? बल्कि जो पहचान सकता था, वह तो ।"

मॉं, शायद अब तक इस बात को कहने के लिए ही, तुम्हारा चेहरा तमतमाया हुआ था । "जो पहचान सकता था, वह तो " बात पूरी होते न होते, तुम्हारे चेहरे पर जितनी भर धूप थी मिट कर आषाढ की वर्षा उतर आई । दरवाजे के कॉंपते हुए पल्ले को छोडकर तुम दोनो हाथो से मुह ढँक कर बिस्तर पर असहाय-सी बैठ गईं । आज भी मैं तुम्हारी उस सिसकी को सुन पा रहा हूँ ।

धीरे-धीरे वे सिर हिला रहे थे । जिन्हे अभी-अभी जान पाया हूँ कि वे मेरे पिता हैं । इस बीच ही वे असहिष्णु से हो उठे हैं । अव्यक्त किसी अपराधबोध के कारण, असहज होकर तुम्हारी बात अनसुनी कर रहे थे, या फिर सुनना नही चाह रहे थे ।

"तुम्हें खबर नही मिली थी ? तुम्हे पता नही था ?" नम्र पर अकम्पित तुम्हारा स्वर, बाबा को स्थिर नही रहने दे रहा था । वह भारी-भरकम-सा व्यक्ति किस तरह जिरह के आगे निरुपाय होकर असलग्न उत्तर दिये जा रहा था । 'पता चला था कि नही ? नही, कहाँ जान पाया ? जब खबर मिली, उस समय तक मैं बहुत दूर चला गया था । छूटते ही, हरिद्वार, कनखल उसके बाद ऋषिकेश । वहाँ से कहा कहा तो ! रुद्रप्रयाग चमोली, तुमने नाम भी नही सुना होगा । नेपाल की तराई से होकर, उतर आया बिहार मे । सोनपुर मे हरिहर क्षेत्र के मेले म । कितना बडा मेला लगता है, तुम उसकी कल्पना भी नही कर सकती । वह सब कहानी फिर कभी सुनाऊँगा । हाथी, घोडा, लाखो मनुष्य के पाँव के निशान । उसके बाद थोडा और पश्चिम की ओर जाकर, सरयू नदी मे स्नान, पूर्ण अमावस्या, माघ की ठड, ठडा जल । पता है, इस बार जल से निकलते ही कैसा तो विरागी-सा महसूस करने लगा था ! ऐसा लगा, देश का काम करने से पहले, देश को जानना बहुत जरूरी है । मैंने देखा, यह देश अपने तीर्थों म फैला हुआ है, करोडा मनुष्यो की सहज जीवन-धाराएँ सरल विश्वासी चेहरे की रेखाओ म बिखरी पडी हैं । जैसे पहचानने की कोशिश की ।"

"सिर्फ अपने परिवार को जान-पहचान नही पाये ।" तुमने मृदु स्वर म कहा, "कौन देखभाल कर रहा है, गृहस्थी कैसे चल रही है "

इस बार बाबा नाराज हो गये । गुस्से को दबाते हुए, गुर्राते हुए, कुत्ते का जिस

तरह शात किया जाता है, मजाक मे हँस पडे, "तुम स्त्रिया, सिफ घर के कोने को ही पहचानती हो। देखभाल करने की बात कर रही हो।" होठो पर मुस्कराहट का तिरछी रेखा दिखलाई पडी। बाहर आगन की ओर देखत हुए बोले, 'देखभाल करनेवाले की कमी, तुम्हे थी क्या ? ऐसा लगता तो नही है।"

उसी समय बाहर आँगन से खाँसने की आवाज आयी। रोज का नियमित नीम का गिलास उस दिन भी दिया गया था, पर लगता है कड़वा रस अचानक गल मे फँस गया था।

हम सब बाहर आकर खडे हो गए। सुधीर मामा तब तक लाठी थामे उठ पडे थे। बाबा की ओर देखकर कैसे तो बुद्धू की तरह हँस दिए। तुम्हारी ओर देखकर भी हँसे। बाद मे नजर हटाकर बोले, मैं जाऊँ जानू। दिन चढ आया है। देखू, प्रणव बाबू के लिए अगर मछली-वछली मिले तो "

अपसृत दीघ देह को देख पा रहा हूँ। सिर सामने की ओर झुका हुआ। सुधीर मामा चले जा रहे हैं।

बाबा ने, आगन मे उतर कर, एक-एक कुम्हला गये, गेदे के फूल के पेड को उखाड फेका। "उखाड दिया ?" तुमने मानो डर कर कहा।

"हूँ, फेक दिया।" बाबा बडी सहजता से बोल गए। हाथ से धूल झाडते हुए "उखाड दिया, सूख गया था। जगल बन गया था। उसमे अब फूल नही खिलते।"

"पर आनेवाले मौसम मे बीज तो उसमे से ही '

"फिर होगा।" बाबा ने एकदम निर्विकार स्वर म कहा। उखाडे गये पेड को पाव से सट् से बेडे के पास फेक दिया।

बाबा से उस समय मैंने घृणा की।

*   *   *

आज स्वीकार करता हूँ, बाद के अनेको वर्षों के ऊपर जितनी भी पत पड जाएँ, उनके प्रति मेरी अनुभूति के नीचे विराग अथवा घृणा ही मूल उपादान रहा। उनके प्रति मैं न्याय नही कर पाया था। पर नियति का देखो कितना क्रूर विधान है। बाबा की आकृति, सघन-समथ चौडा कधा, जुडी हुई घनी भौंहो के ऊपर मस्सा। गले के ठीक ऊपर थुथना की दो-तीन पर्तें, आवाज बिजली कडकने जैसी— उस दिन मुझे कुछ भी पसन्द नही आया था, क्योकि मैं उस समय हल्का फुल्का, पीला-सा, दुबला-पतला, स्वय को कवि सा समझना, यह सब मेरी आदत म शुमार हो गया था। पर आज शीशे का सामने खडा करता पर उसके मुह से हूबहू बाबा के उस समय की आकृति का वर्णन सुन पाता हूँ। कच्ची त्वचा, भारी आवाज दोहरी ठुड्डी, मोटी गर्दन देख कर चौंक जाता हूँ। प्रकृति ने प्रतिशोध लिया है, उत्तराधिकार सूत्र-जनित समस्त जो मेरा प्राप्य था, वह मेरे सवाङ्ग पर थोप दिया गया है। उस आकृति के साथ मैं

कब से नियमित रह रहा हूँ ! वहन कर रहा हूँ, शरीर को जो शरीर मेरे अस्तित्व का भी प्रत्यक्ष रूप है, जो आज मेरा स्वीकृत स्वत्वाधिकार है। बाबा के प्रति घृणा-विराग का महसूल पाई-पाई वसूल हो गया है।

उस दिन माँ, मैंने घृणा की थी। तुमसे भी की थी, थोडी देर बाद। तुम अचानक क्या सुदर हो उठी थी ? तालाब मे नहा आयी। रोज ही जाती हो, उसके लिए कोई बात नही, पर उस दिन आकर बक्से से एक साडी निकाला, जो पता नही कब से उठाकर रखी हुई थी। पीली साडी, किनारी लाल। रगीन साडी पहनते हुए तुम्हें कभी नही देखा था। कितनी सुदर लग रही थी तुम ? कितना बुरा लग रहा था मुझे ? अच्छा लगना और बुरा लगना, किसी कटारी की तरह मुझे टुकडा-टुकडा काटती रही। फव्वारे-से छूटते खून से अतरमन घुल जाने लगा। उसका रग भी लाल था, पर जमीन सफेद-सफेद। सफेद और लाल मे घिरा हुआ तुम्हारा चेहरा अपरूप लगता। जिस देवीमूर्ति के चरणो पर तुम फूल दे रही हो, तुम उससे भी अधिक महिमामयी लगती। लाल किनारेवाली वह साधारण-सी साडी, मेरी आखो मे प्रगाढ पवित्र रग भर देता। मेरे अवचेतन म उस दिन की उस साडी ने, तुम्हारी महिमा चुरा कर उसके बदले निश्चय ही एक छटा दी, वरना मैं अपलक तुम्हारी ओर क्यो देखता रहा ! तुम्हारी भगिमा मे किसी चक्रवात का छद भले ही न हो, न रहे तुम्हारी वह दिव्य ज्योति, पर माँ ! तुम इतनी कोमल, इतनी अपरूप, इतनी सलज्ज हो सकती हो, यह पता नही था। तुम्हारा सलज्ज सौंदय मुझे प्रबल मोह से खीच रहा था, फिर भी उसमे ही निहित, मानो कोई लज्जाहीनता मुझम कडुवाहट भर रहा थी।

खाना खाते समय बाबा ने पूछ लिया कि, मैं क्या पढ रहा हूँ। दोनो पास-पास ही बैठे थे। तुम सिर पर थोडा-सा आचल डालकर खाना परोस रही थी। अनअभ्यस्त घूघट बार-बार सरक जाता। तुम हथेली से बार-बार उसे यथास्थान पर रख रही थी। यह सब देखते देखते अच्छा लगने न लगने से अस्थिर होते हुए मुह म कौर भर रहा था। बाबा जो कुछ जानना चाह रहे थे, उसे जितना हो सकता था, ठीक से बताए जा रहा था।

नहाने के बाद बाबा भी थोडा और तरह के लगने लगे थे। वह रूखा-सूखा भाव चेहरे पर था बातो मे नही था। सब मानो धुल-पुछ गया हो। थोडा कमनीय से, थोडे बलात भी। मुझे बीच-बीच म निरीक्षण कर रहे थ, मानो वे कोई परीक्षक हो। मैं चौकन्ना, सचेतन-सा उनके प्रश्नो का उत्तर दिये जा रहा था।

खाने के बाद मुझे कविता सुनानी पडी, 'आजी की तामार मोधूर मूरोती,' शुरू करते ही बोल पडे, "बनवास ! 'विद्रोही' नही जानते हो ?" पूछने के बाद स्वय ही दो लाइन बोल गए, 'बोलो बीर। बलो उन्नता मम शिर। शिर नेहारी आमारी मतो, शिर आई शिखँर हिमाद्रीर !' सुना नही है क्या ?"

लकडी के खिलौने की तरह सिर हिलाया, "नहा।'

"यह मधुर मूरती कविता तुम्हें किसने सिखाया है ? पाठ्य-पुस्तक में है क्या ?"

बोला, "जी हाँ !"

"पर इस तरह बनते हुए पढ़ना किसने सिखाया ?"

"सुधीर मामा ने ।"

"कौन ? ओह ! वह तुम्हे पढाते हैं क्या ?"

"हा ।"

"बोलो, जी हाँ । रोज पढाता है ?"

' रोज ही ।"

"तू जाता है ?"

"वे आते हैं ।"

"ओह !"

थोडी देर तक बाबा कुछ नही बोले । गुम-से रहे । ऐसा लगा सो गये हैं। पर अपनी गलती का पता दब पाव निकल आते समय चला ।

' कहा जा रहा है ? ' "ऐसे ही । ज्यादा दूर नही जाऊँगा, बस स्कूल के मैदान तक । व्रतचारी के सर ने बुलाया है ।"

बोल कर थाडी देर तक रुका रहा । थोडी देर बाद ही उनकी नाक से घर घर्र की आवाज निकलने लगी । सुनने की आदत नही थी, सो कैसा ता अद्भुत बुरा सा लग रहा था । उनका पेट एक लय के साथ उठ रहा था, गिर रहा था। प्रबल पराक्रांत व्यक्ति इस समय अवसन्न, दुबल-से । उस दिन वह दृश्य भी हास्यकर लगा था । आज तो पता है, मैं भी खर्राटे लेता हूँ । मेरी भी नाक बजती है । बहुत दिनो से ही बजती है ।

बाहर आते ही मा, तुम्हे देखा । आगन की सीढ़ी पर खडी होकर, पाव धोकर कमरे मे आ रही थी । ठिठककर मैं खडा हो गया । सोचा, डाटोगी । इसी से तुम्हारे कुछ पूछने के पहले ही जोर-जार से बोलने लगा ' स्कूल जा रहा हूँ । व्यायाम के सर ने बुलाया है ।"

"आज तो छुट्टी है न ? ' पर यह प्रत्याशित प्रश्न आज सुनने को नही मिला हालाकि कडी धूप से झुलसते आकाश की ओर ताकते हुए, उत्तर की ओर नारियल के मरे हुए डाल पर दो कौवो का हाहाकार सुनते हुए प्रतीक्षा म खडा रहा । उसके बाद दौडकर दरवाजे तक जाकर कुडी खोली । तब जिद चढ गया, साहस बढा मानो दरवाजे को ही उद्देश्य कर रहा हूँ, और भी ऊँची आवाज म बोला, 'जा रहा हूँ । शाम के पहले लौटूगा नहा । ' पर, 'टो-टा करके घूमना मत । सिर दुखेगा । ' पीछे से हमेशा की तरह किसी ने नही कहा ।

तुम्हे मालूम नही, उस दिन सारी दोपहर घूमता रहा । पहले सायी रटा भय । बाद म देखता हूँ, ज्योंहो तालाब के पानी के ऊपर सिर झुकाया, दादा भी आ

गया। झुककर हाथ डालकर, पानी हिलाते ही वह गायब हो गया। जल के स्थिर होते ही वह फिर आ गया। वह आया-गया। मैं पानी को हिलाऊँ, फिर ठहर जाऊ। उसे बहुत सारी बाते बतायी, बाबा के आने की सूचना, मेरी वितृष्णा, मेरे मान-अभिमान, सब के बारे मे। वह सब कुछ समझ गया, मानो गर्दन हिलाकर अपनी सहमति दी। खासकर जब, मैंने कहा, "तू ने चला जाकर तो अच्छा ही किया," वह जरूर धीरे से मुस्कराया था, वरना उसी समय बोष्टम दीघी के किनारे, जिस पेड के नीचे मैं बैठा था, उसकी डाल से टप-टप कुछ पत्ते क्या झर पडे ? एक बगुला लगातार उड-उड कर तालाब के पानी मे डुबकी लगा रहा था। एक दुग्ध-धवल शख-चील, जब हा-हा करती हुई उड गयी, उस समय भी मैं बैठा रहा। मैं क्या यही सब देखता रहूँ, अथवा वह बगुला, जो पानी मे कुछ ढूढ रहा है, पानी मे उतर कर उसकी सहायता करूँ ? पर ऐसा करना ठीक होगा कि नही, यही सब सोच रहा था। भय ? नही उस समय मैं था और दादा था। भय-वय कुछ नही था।

प्राय ही निकलन लगा। जब कभी मौका मिलता, निकल पडता। स्कूल की छुट्टी के बाद शाम को भी। डाट खाने के लिए तैयार, जवाब क्या दूगा वह भी सोचा हुआ था क्योकि घुसते ही देख लिया, तुलसी के चौरे के नीचे दीया जल रहा है, याने शाम हो गयी है, याने आकाश के इधर-उधर तारो का पहरा। सब कुछ से बचकर जब कमरे मे घुसता, उस समय नाटक पढा जा रहा होता। बाबा पढ रहे हैं, तुम गाल पर हाथ धरे सुन रही हो। बाबा के पढने का ढग अस्वाभाविक होता। कही नाटकीय अदाज से पढते तो कही अचानक ही स्वर मद्धिम कर देते, और फिर भारी आवाज मे लडकियो वाला अश बोलते समय जब स्वर को महीन बनाने की कोशिश करते, तो ऐसा लगता जैसे किसी भातरी पेंसिल को छील कर नुकीला बनाया जा रहा है। इतना अजीब-सा सुनने मे लगता न। फिर कभी सस्वर पाठ करने लगते। इतना मजेदार लगता उनका गला कँपाना! अपने पाँव पर हाथ थपड-थपड कर ताल देते रहते। कुछ भी समझ मे नही आता, और शायद समझ नही पाता था, इसलिए अच्छा भी नही लगता था।

फिर भी बैठ कर सुनते रहने से बाबा खुश हो जाते। गवार-से दीखते चेहरे पर एक तरह का आह्लाद झलक उठता। तुम कुनमुनाने लगी हो शायद। बोल रही हो, "जाऊँ, खाना बनाऊँ।" बाबा हाथ पकड कर खीच कर बैठा देते, 'अरे! सुनो न! थोडा-सा और सुन लो न! इस जगह पर बहुत मन लगाकर लिखा है।"

तुम्हारा हाथ छुडा सकू, उस समय मुझमे उतनी ताकत कहाँ थी, माँ! आक्रोश और अक्षमता मुझे काटकर टुकडे टुकडे करता। जो अनिच्छुक है, उसे जबरदस्ती लिखा हुआ पढकर सुनाना ? जबरदस्ती ? किस बात की जबरदस्ती, यह तो बहुयाई है।

(वही बहुयाई मुझे भी एक दिन करुणा का पात्र बना देगी, उस समय क्या मालूम था !)

तुम कहती, "तू पढने बैठ।"

जर्जर क्रोध से मैं कहता, "लालटेन तो एक ही है।"

पन्ने के ऊपर से आख उठाकर बाबा बोलते, "कल से उसे एक अलग ढिबरा जला कर दे देना। उस कोने मे बैठकर पढेगा, आज उसे यह नाटक ही सुनने दो।" बाबा बिना किसी हिचकिचाहट के बोल जाते।

फिर शुरू होता पाठ। काफी देर तक लगातार पढ जाने के बाद बाबा बोलते, "समझ रहे हो, क्या कहना चाह रहा हूँ? देवयानी पर लिखा है। वह दैत्य गुरु शुक्राचार्य की कन्या थी। प्रेम हो गया पितृ शिष्य देवपुत्र कच से। पर प्रेम नही मिला। तब देवयानी ने उसे अभिशाप दिया, जिसे उसने चाहा था। पर दूसरे को अभिशाप देने से क्या अपना दुःख मिट जाता है? नही, मिटता है। देवयानी का विवाह राजा ययाति से हुआ। ऐसा लगा अब शायद सब दुःख समाप्त हो गये हो। पर वहाँ भी दूसरी पत्नी थी। ईर्ष्या से पीडित देवयानी की इच्छा से शर्मिष्ठा निर्वासिता हुई, पर फिर भी क्या देवयानी जीत पाई? विशेषकर उस समय जब उसे यह पता चला कि, पति उसी निर्वासन-स्थान पर जाते रहे हैं निर्वासिता पत्नी के साथ गुप्त रूप से मिलते रहे है। उस समय देवयानी के मन में जो 'चिता धधक-धधक कर जलने लगी थी, उस असह्य पीडा की बात सोची भी नही जा सकती है। फिर से अभिशाप। इस बार पति को। पर जो स्वयं अभिशप्त हो, क्या उसके अभिशाप देने मात्र से दुःख दूर हो सकता है? बार-बार जिसने प्रेम किया, पर जिसे अपने जीवन में सच्चा प्रेम किसी से नही मिला, उसी नारी की वेदना को मैंने इस नाटक मे समझने, समझाने की कोशिश की है।"

माँ, उस समय तुम मेरी ओर कनखी से देख रही थी। मैं सुन रहा हू कि नही, समझ रहा हूँ कि नही। उस समय विशेष समझ भी नही पाया था, पर निगला जरूर हूँ। उस उम्र में शब्द और वाक्य मन में अनायास ही गुथ जाता था, इसलिए उसके साराश को आज उगलने मे कठिनाई नही हुई।

'देवयानी की वेदना को समझना चाहा है, समझाना भी चाहा है," बाबा इतना कहकर ज्यो-ही चुप हुए, उसी समय माँ तुम्हे धीरे-धीरे उठ जाते देखा। रसोई की ओर जा रही हो, पर सुन पा रहा हूँ, जाते-जाते गर्दन घुमा कर किस तरह तो बदले हुए स्वर में कहती हो, "दूसरी सब स्त्रियो का दुःख तुम खूब समझते हो। समझने में थोड़ी भी देर नहीं होती है।"

उस ग्रीवाभगी और उस स्वर में किसे देख पाया था, माँ! किसे? उसका नाम क्या है? अभिरूप देती है जो, वह क्या वही देवयानी है?

दूसरे दिन शाम से ही तुम रसोई मे थी। बाबा उस दिन पढकर कुछ सुना नहीं रहे थे, बल्कि लालटेन के सामने कापी खोलकर बैठे हुए थे—शायद नया नाटक लिख रहे हो। मेरे लिए अलग से एक नया लालटेन आया था। मैं पलग के एक किनारे बैठकर सवाल हल कर रहा था, क्योंकि जोर से कुछ पढने से बाबा को व्याघात होता। पर बाबा लिखने के साथ साथ पढते भी जा रहे थे, कभी माना अपने ही गद्य से आमोदित, स्वय ही हँस रहे थे। एक भी सवाल सही नही हो पा रहे थे। अन्त मे पेन्सिल-कापी रखकर, मैं तुम्हारे पास गया, माँ। तुम चूल्हे के सामने बैठकर, कडाही मे कुछ बना रही थी। तुम्हारी पीठ के ऊपर बाल बिखरे पडे थे। सिर पर पल्ला नही था। झुक कर, कधे पर गाल रगडते हुए, बहुत दिनो के बाद कुछ लाड-दुलार से मचलते हुए बोला, 'कान के पास इतने जोर-जोर से किसी के चिल्लाते रहने से क्या सवाल किए जा सकते हैं ?"

तुम कुछ नही बोली, कढाई और करछुल मे उतना ध्यान देने की क्या जरूरत थी, भगवान जाने। बोला, "बिल्कुल फेल हो जाऊँगा, टरमिनल परीक्षा मे। इससे तो अच्छा है, मैं कही और पढने चला जाया करूँ ?"

मुँह उठाकर तुमने पूछा, "कहाँ ?"

"मान लो," फटाक-से बोल गया "सुधीर मामा के यहा ? सुधीर मामा तो बहुत दिनो से नही आ रहे हैं।"

तुमने सिर हिलाकर स्वीकार किया, "नही आ रहे हैं।"

"बीमार-वीमार तो नही हो गये ?"

"शायद नही। मछली एक दो दिन छोड कर तो भिजवाते जा रहे हैं।"

कढाई खूब छूक-छूक कर रही थी। कढाई से धुआँ निकलने लगा था। तुम्हारा चेहरा ढँक गया था। तुम अपने काम मे बहुत व्यस्त हो गयी थी।

फिर भी मैं पूछता रहा, "जाऊँ, माँ ?"

कढाई मे करछुल चलाते हुए ही तुमने कहा, "वे अगर गुस्सा हुए तो ?"

"नही होंगे। बोलकर जाऊँगा। फिर इससे तो बाबा को भी सुविधा होगी। देखना, बाबा भी मान जायेंगे।"

तुम फिर कुछ नही बोली ।

बाबा से कहने के लिए कमरे मे गया, पर कहने का साहस ही नहीं हुआ, क्योकि दोना भौंहो को सिकोडे, ठीक बीच मे एक उंगली रखे, पता नही वे क्या सोच रहे थे । मैं पाँव दबा कर पलग पर चढ़ गया ।

*   *   *

सुधीर मामा आ नही रहे थे । बारह भुइयाँ की आखिरी कहानी, ईशा खाँ की कहानी पूरी सुन ही नही पाया था । सोचा, शायद इसीलिए मन उदास-उदास, दिन बुझे-बुझे-से लगते । बाद म सोच कर देखा था, वह कोई कारण ही नही था। वह सब मेरा खयाल भर था । ईशा खाँ की कहानी का अन्त जानने के लिए मैं उतना व्याकुल नही हुआ जा रहा था । दरअसल काटे की तरह जो चीज चुभ रही थी, वह थी शून्यता । एक अभावबोध की अस्वस्ति । सडक किनारे के नीम-पेड के पत्तों पर प्रथम फागुन के धूल जमने लगे थे । बहुत दिनो से तोडे नहीं गए, क्योकि जिसके लिए जरूरत पडती थी, वह आ नही रहा है । कुछ साल पहले एक सचमुच की मृत्यु को जाना है, उस समय स्वय ही अनुभव किया कि अनुपस्थिति भी एक तरह की मृत्यु है, मृत्यु के समान है । हमारे क्लास का एक लडका, कुछ दिना से आ नही रहा था । उसके साथ मेरी खास दोस्ती नही थी, फिर भी बेच पर उसके निर्दिष्ट जगह को खाली देखकर, कैसा तो मन खाली-खाली-सा लगता । ठीक सात साल की उम्र में जब पहली बार दात टूटे थे, उस समय जैसा लगा था । जीभ बेकार ही घूम घूम कर कुछ ढूढती फिरती । एक दिन पता चला वह क्लास-फ्रेड अब और नही आयगा। उसके पिता कलकत्ते मे नौकरी करते थे । वही उनका देहान्त हो गया है । उसकी मा पहले कलकत्ता, फिर वहा से सबको लेकर अपने भाई के घर चली गई हैं। लड़के के मामा एक दिन आकर ट्रासफर सर्टिफिकेट ले गए ।

अक्सर ही तुम्हारे और बाबा के बीच कहा-सुनी होने लगी थी । सुनकर बहुत बुरा लगता । हम लोगो के परिवार मे पहले यह सब नही था । पर कितने आश्चर्य की बात थी, अचानक अगर देखता, तुम लोग हसी मजाक कर रह हो, उस समय भी चौंक जाता । गला सूखा-सूखा लगने लगता ।

उस दिन शाम को खेल के मैदान से लौट कर घर पर आते ही ठिठक गया था । तुम्हारे चेहरे पर आचल था । आखो से मानो खुशियाँ बहती जा रही हो । तुम्हें भी हँसना आता है ! तो वह सब क्या झूठ था झूठ ! सुबह की प्रार्थना मिथ्या है, सूर्य-प्रणाम मत्र, श्लोक-पाठ केवल एक मुखौटा है, मुझे धोखा देने के लिए !

मुझे देखते ही तुम थोडा हट गयी थी । तुम्हारी उस भगिमा को मैं पहचानता हूँ, क्योकि अचार का मर्तबान खोलते समय कितनी दोपहर को पकडा गया हूँ—बाबा फिर से अपनी पोथी हाथ म लिए अन्यमनस्क-से हो गए । तुलसी चौरा के नीचे उस दिन दीया नही जल रहा था । नारियल के पेड पर एक बेढब-सा कटा हुआ

चाँद झूल रहा था। शायद इसीलिए उस पेड़ पर रहने वाला उल्लू और दिनों से पहले ही, 'समझता हूँ, समझता हूँ,' पुकारे जा रहा था।

उदास स्वर में बोला, "तालाब के किनारे काफ़ी बड़ा शामियाना लगाया गया है, माँ। सुनता हूँ, मैजिक लालटेन होगा, देखने चलोगी ?"

"मैं ? न-न। तू जायेगा ? जा न, देख आ।"

"बाबा अगर "

"मैं कह दूंगी।"

बाबा कापी के ऊपर झुककर अपने को इतना व्यस्त दिखा रहे थे, जैसे उनके कमरे में कोई बात जा ही नहीं रही हो।

तुरन्त अनुमति मिल गयी। मैं तुरन्त पीछे घूमकर चलने लगा। तुम मेरे साथ दरवाजे तक आयीं। "पर ज्यादा ठण्ड मत लगा लेना। अभी भी ओस गिरती है," यह चिरपरिचित वाक्य तुमसे सुनना चाहता था, पर नही सुन पाया।

प्रतारित ! प्रतारित-सा मैं सड़क पर दौड़ रहा था। ठीक डर से नही, हालाँकि शाम गहरा चुकी थी। किसी और दिन क्लास का एक गुण्डा किस्म का लड़का, जिसका नाम मानिक था, ने एक बार मेरी जेब से सारे कंचे, लट्टू सब छीन लिया था। मैं रोक नही सका था। ताकत नहीं थी न, इसीलिए आँख में पानी आ गया था। हाठ खारे हो गए थे। सोचा था, मेरा सब कुछ चला गया। मैं दुबला हूँ, कमजोर हूँ इसलिए कुछ भी कर नही पाता हूँ। आज भी तालाब के किनारे-किनारे दौड़ता हुआ, ठीक उसी तरह महसूस कर रहा था। आँखें धुँधली। मैं सोच रहा हूँ जायेगा-जायेगा, इसी तरह सब कुछ चला जायेगा। दादा गये, सुधीर मामा भी दूर हट गये, तुम ! तुम दोनों ने ही आज मुझे अनायास घर से निकल जाने दिया। मुझे बाहर निकाल कर मानो राहत मिली। मौका तो ढूंढ ही रहे थे। मेरी कोई माँ नही है, भाई नहीं है, सोचता हुआ सचमुच डर लगने लगा था। सामने की सड़क इतनी सुनसान क्या थी ? सब के जाने के बाद क्या सब कुछ इतना खाली हो जाता है ? रहने के लिए सिर्फ मैं और मेरे फेफड़े में जमी हुई हवा और कुछ नही ?

(उस दिन की अनुभूति आज किस तरह बदल चुकी है। अब मैं क्लान्त हो गया हूँ। मैं समझ चुका हूँ कि मैं भी चला जाऊँगा, और सब कुछ रह जायेगा। ये सारे पेड़ वैसे ही खड़े रह जायेंगे। घास सूख कर जमीन में फिर से फैल जायेगी। धूल वैसे ही उड़ती रहेगी। मरी हुई-सी चाँदनी छिटकेगी, सुबह का सूरज खून के फव्वारे ही फेंकेगा। जिस सीट पर बैठकर अभी तक प्रेक्षागृह में रहा, उस सीट पर दूसरे 'शो' के लिए कोई और आ बैठेगा। जो कुछ छुआ है, छाना है, लीपा हूँ जितने कीचड़, इन्हें बाद में कोई और आकर छानेगा, लीपेगा-पोतेगा। मैं नहीं रहूँगा। पर उस दिन यह ज्ञान नही था।)

सुधीर मामा को वहाँ देख पाने की उम्मीद नहीं थी। शाम को अपने कमरे

मे कोई पुस्तक वगैरह ही पढ़ते रहते हैं। ठण्ड के कारण बाहर नही निकलते थे।
वही सुधीर मामा भीड के एक कोने मे बैठे हुए हैं। दोनो घुटनो को जोडकर उस पर अपना सिर टिकाये हुए। पर उनका मफलर कहाँ गया ? मुझे देखकर पहले तो अवाक् हुए, फिर हाथ हिला कर बुलाया। चेहरे पर कैसी सकपकायी-सी हँसी थी। दरअसल वे थोडे से अप्रतिभ से हो उठे थे। इतने दिनो तक मुलाकात नही हुई थी न, इस लिए। गाल और ज्यादा पिचके हुए, आखे बैठ गयी हैं। नसे उभरी हुइ, पतली पतली बाहो पर खुश्की उडते साफ देखा। पर मफलर ?

ज्यादा बातें नही हो सकी, हालाकि उस समय तक छाया-चित्र दिखाना शुरु नही हुआ था। एक बार सिर्फ सुधीर मामा ने पूछा, "आनू कैसी है ?" और एक बार "तुझे अकेले आने दिया ?"

"आप यहाँ ?"

सुधीर मामा मुस्कराये। बातो का फ वारा, जिस आदमी के मह से छूटता था, क्षीण कण्ठ से कितनी बातें निकल आती थी। कितने प्रश्न, कितन उत्तर।

(आनू ! तुम्हारे इस लडके को मैं आदमी की तरह आदमी बनाऊगा। "मेरा लडका ?" "नही, नही, एक हिसाब से वह मेरा भी है। उसे उसी तरह देखता हूँ। उसे लेकर ही तो हूँ।")।

वही सुधीर मामा कैसे तो चुपचाप, उदास-से गैस की रोशनी म सिर घुटना पर टिकाये बैठे हुए हैं।

"पर मफ्लर कहा है ?"

सुधीर मामा ने कहा, "भूल गया। फिर उतनी ठण्ड भी तो नही है ! और फिर थोडी बहुत ठण्ड लगने से भी क्या फक पडता है ?"

साधारण-सी बाते थी। उस दिन सुनकर अजीब सी लगी थी। आज नहं लग रही हैं, "घर पर पढने के लिए कोई पुस्तक नही थी।" सुधीर मामा बता रहे थे, "इसलिए सोचा, यह लैनटन लेक्चर ही सुन लू। सुना है यह शिक्षामूलक है इसमे देश की बातें हैं। मन लगा कर देख। तुझे भी सीखने लायक बहुत कुछ मिलेगा।"

न मफलर लाए नही, भूल गए हैं लाना। अरे धत् ठण्ड नही है, लगेगी नहीं। फिर लगने से भी क्या फर्क पडता है ! बहुत होगा तो दो दिन बिस्तर पर पड जायेंगे। यह तो अच्छा ही होगा, थोडा आराम करने को मिलेगा।

लगने से भी क्या फर्क पडता है ! अस्पष्ट होने पर भी अगर उस दिन थोडी सी कोशिश करता तो इस बात का मतलब समझ जाता। सुधीर मामा जिस लिए आये हैं, मैं भी तो उसी लिए ही आया हूँ। परास्त, प्रहृत, प्रतारित, परित्यक्त 'प' के बाद 'प —जहाँ किसी तरह भी कुछ आता जाता नही है। दोनो को ठीक एक जगह ला छोडा है।

* * *

सुधीर मामा मुझे घर तक छोड़ गये थे। असल में वह दरवाजे तक किसी हालत में नहीं आये। सदर रास्ते से ही लौट गये। तुम अगर खिड़की के पास खड़ी होतीं माँ, तो देख पातीं। या फिर जिस समय मैंने दरवाजे पर जाकर तुम्हें आवाज लगायी थी, "माँ! माँ! माँ!" अगर उसी समय दरवाजा खोल देतीं, तो देख पाती एक शीर्ण-दीर्घ देह, उस समय छायाकार लम्बे-लम्बे डग फेंकती हुई जितनी जल्दी हो सके सड़क पार कर अँधेरे में डूब जाना चाहती है। अन्धकार था ही, क्योंकि उस समय रात थी, पर फागुन की मीठी बयार पुरानी थी, रंग की चाँदनी के साथ गड़मड़ तो हो ही रही थी।

फिर भी मैंने कहा था, "आइए न सुधीर मामा! आयेंगे नहीं?" बड़े सहज भाव से बोला था, क्योंकि लौटते हुए पूरे रास्ते के किनारे की झाड़ियाँ, जुगनुओं की आँखें जलाकर टिमटिमा जरूर रही थीं। हवा में फूलों की खुशबू घुली हुई थी। हालाँकि थोड़ा-बहुत अजीब-सा कष्ट भी पा रहा था मैं। फागुन का महीना, पता नहीं क्यों तभी से मेरे लिए बहुत कष्टकर हो गया था। उस नीम अँधेरे में फूलों की महक ही काँटे की तरह चुभने लगी थी। अहेतुक ही मन के किस कोने में बिंधने लगता है, पता नहीं। जो भी हो, उस दिन मैं डरा हुआ नहीं था। विशेषत साथ में जब कोई साथी हो, जिनकी मैं इतने दिनों तक इज्जत करता था। पर इस समय जिसके साथ मैं स्वच्छन्द हूँ, क्योंकि हम दोनों के बीच एक पुल बन गया है। इसलिए बोल सका था, "आइए न सुधीर मामा! आयेंगे नहीं?"

उन्होंने पल भर के लिए इतस्तत किया। फिर बोले, "नहीं, रहने दो। आनू शायद सो गयी होगी।" मैं जोर देकर बोला था, "मेरी माँ इतनी जल्दी सोती नहीं हैं।"

पर तुम तो सो गई थी! दबी आवाज में कितनी बार पुकारा था, "माँ! माँ! माँ!" तब कहीं जाकर सुन पाई थी। मानो मैं कोई प्रेत हूँ, रात को आवाज लगा रहा हूँ, इसलिए तुम बोल नहीं रही हो। एक छायामूर्ति हल्की चाँदनी में तैरती हुई, धीरे-धीरे विलीन होती जा रही है। मेरे पाँव क्रमश अवश होते जा रहे हैं। "माँ-माँ", पुकारते हुए आवाज काँपने लगी है।

मेरी माँ इतनी जल्दी सोती नहीं, कहा था। पर तुम तो सो गई थी। एक लैम्प हाथ में लिए तुम दरवाजा खोलने आयी थी। हल्की पीली रोशनी में तुम्हारी मूँजी हुई आँखें देखा। पूरे माथे पर सिंदूर फैला हुआ—काफी बड़ी-सी बिन्दी तुम इधर लगाने लगी थी न! इसलिए फैली हुई थी। पीली साड़ी को किसी तरह लपेटे हुए तुम्हें देखते ही समझ गया था कि सो गयी थी। तुम्हारे बदन से सटकर, छाती की महक से चूर होकर हमेशा सोया हूँ। तुम्हारे उस रूप को मैं भला नहीं पहचानता हूँ?

सीधे रसोई मे ले गई। खाना ढका हुआ था, परोस दिया। जम्हाई ले रही थीं, यह मैंने चुपके से देख लिया था। तुम्हें ज्यादा तकलीफ न हो, सो मैंने जल्दी जल्दी खा लिया। थोडा नमापन तो था ही। पीढे पर बैठकर मैं ऊँघता रहूँगा और तम जबरदस्ती मुह मे कौर ठूसती रहोगी, यही तो नियम था। वही नियम क्या आज उलट गया है?

खाकर उठते ही बिस्तर मे घुस गया। जो बिस्तर तुम्हारा मेरा था, खाकर बिछाई हुई चादर मन ही मन म कुछ गडबडा रहा हूँ। तकिये म लिपटी हुई तेल की महक-छाप कुछ नही। उसके लिए ाई खास बात नही थी, क्योंकि तुम्हारे रूखे बाल, खुले हुए थे। शायद उस दिन तुमने तेल नही लगाया था। पर तकिया ही तो नही था। आश्चय ता उसी बात का था।

बाबा की ओर हल्का अँधेरा था। पर वे खर्राटे नही भर रह थे। तो क्या वे सोये नही थे? उस बात की मुझे चिन्ता नही थी। तुम सोयी थी या नहीं, यही सोचते-सोचते मैं खुद न जाने कब सो गया।

थोडा-थोडा करके सब कुछ बदल रहा है, यह मैं बाहर देखते ही समझ गया था, आकाश का रग बदल रहा है, गरमी बढ रही है। तालपत्ते का पखा खरीद लाया गया। सुबह की धूप देखते-देखते गुस्सैल हो उठती है। पूरी दोपहर तावे जैसा। किसी-किसी दिन की शाम मटमैली हो जाती है, जब हाहाकार के साथ तूफान राक्षस की तरह दौडा आता है। सब कुछ कँपा जाता है। हमारे मकान का छप्पर खूटा समेत थरथरा जाता। रात को छटपटात हुए साँप बिल से निकल आते और बेडे या आगन मे आकर कुडली जमाकर बैठ जाते। अँधेरे मे सरसर करत हुए सडक के इस पार—उस पार आते-जाते।

उस समय एक-एक ऋतु एक-एक किस्म की छाप छोड जाती। जैसे गरमी वैसे ही बरसात की बडी-बडी बूदें भी मन की जमीन पर गुथ जाती।

बरसात के शायद कुछ पहले ही बाबा को बडी गम्भीर बीमारी हुई। खासी तो थी ही, उसके साथ ही छाती मे दद। बुखार छूटता ही नही था। आखे दिन भर लाल। बाबा कुछ और तरह के दीखते। जब आखें मुदी रहतीं, देखता हाठ काँप रहे हैं। कण्ठ स्वर भी रुँधा हुआ, बिडबिड करके जो कुछ बोलते सब समझ म नही आता। कभी सुनता, "यहा नही रहूँगा। मेरे छत्तीसगढ जाने की बात थी। वहाँ से और भी दूर पश्चिम म, एकदम द्वारका। एई! बोल न, मैं ठाक हो जाऊँगा तो! नही हा जाऊँगा?'

पास बुलाकर कभी मेरे माथे पर हाथ फेरत। गोखरू पडे हाथ। शिथिल, दुबल। फिर भी उतने से ही बदन के रागटे खडे हो जाते। कभी दौड कर दवा लाने जा रहा हूँ, ता कभी चौखट पर खडा देख रहा हूँ। तुम निश्चल मूर्ति-सी बाबा के सिरहान बैठी रहती। बुखार देख रही हो, माथे पर ठण्डी जल पट्टी। बाबा अगर औंधे लेटे हो, तो कमरे म बाल्टी भर-भर पानी उनके सिर पर ढाल रही हा। गमछा

से हौले-हौले सिर पोछ रही हो। धीरे-धीरे जब तुम हाथ से पखा झल रही होती हो, तो उस समय किसी बादल की तरह ममतामयी लगती हो। अपलक, दीर्घनि श्वसित, कभी-कभी तुम क्लान्त होकर वही लेट जाती।

पर मैं चौंकता नही। बरसात की ताजी बौछार ने मुझे कोमल बना दिया था।

* * *

आश्चर्य की बात है, ठीक उसी समय सुधीर मामा भी काबू मे आ गये। उनके साथ बीच-बीच मे मछली पकडने का काटा लेकर मैं भी निकल पडता था। मैंने पहले ही बताया है, हम दोनो के बीच अब तक एक समवेदित सख्यता पनप चुकी थी, यद्यपि हम लोग हमउम्र नही थे। इसलिए जब क्लास नही होती, घर पर भी मेरे करने लायक कोई काम नही होता, मैं सीधे वहा चला जाता। वहा से खेत-मैदान पार कर, बाँस-वन की कोमल छाया मे निमाई राय के तालाब म ! वही साथ-साथ काफी देर तक बैठा रहता। फतना तैरता है, उठता है, पर कनखी से देखकर समझ जाता हूँ। उस ओर सुधीर मामा का कोई ध्यान ही नही है। असल मे ध्यान कही और भटक रहा होगा। मछली पकडने-वकडने का सुधीर मामा को काई शौक तो है नही, कभी रहा भी नही। समझ जाता, वे एक नए अभ्यास मे प्रवेश करना चाह रहे हैं।

एकाध बातें सिर्फ होती। बातो की जरूरत भी नही थी। हम दानो एक दूसरे को समझ पाते थे। जिस दिन एक भी मछली नही फँसती, उस दिन, दिन ढलने पर सूता-वूता समेट कर सुधीर मामा अपने जजर शरीर के साथ उठते। हड्डी से हड्डी टकराने की आवाज भी मानो मैं सुन पाता। बोलत, "असल मे मैं यहा क्यो आता हूँ, पता है ? मछली पकडने से धैर्य की परीक्षा होती है। यहा बैठ-बैठकर सहिष्णुता सीखता हूँ।"

क्यो आते हैं वह मैं जानता हूँ।

पर एक दिन नही आ पाये। उनके घर जाकर देखा, लेट हुए हैं, चादर लपट, खिडकी बन्द, कमरे मे अँधेरा। पाव की आहट पाते ही चादर हटाते हुए बोले, "सिर मे बहुत दद है रे ! मानो फट जायेगा। कँपकँपी आ रही है। मुझे दबाकर पकड सकोगे ? एकबार दबाकर पकड।"

उन्हें दबाकर पकडा। वे माना तृष्णात की तरह मेरे माथे का घ्राण पीने लगे। माना चूस लेना चाह रहे थे मुझे, मेरी सत्ता को।

जकड के पकडा हुआ हाथ अपने आप ही एक समय ढीला पड गया। मैंने सिर उठाया, वे सो चुके थे, पर गरम साँस उस समय भी मेरे गाल से टकरा रही थी। मैं दबे पाँव बाहर निकल आया !

तुम्हें आकर बताया, "सुधीर मामा भी बीमार हैं। बहुत तेज बुखार है।"

तुम ताकती रहीं, मानो आँख से सुन रही हो। तुम्हारे चेहरे पर कोई भाव ही नही था। उस समय तुमने कुछ नही पूछा।

पूछा दूसरे दिन दोपहर को, तालाब के घाट पर।

"कैसे हैं रे ?"

"आज तो गया नही !"

"जाओगे नही ?"

"कहो तो चला जाऊँगा।" कहो तो पर कुछ ज्यादा ही जोर देकर बोला। तुरत सुनने को मिला, "मुझे ले चलोगे ?"

"घर छोडकर ? बाबा अकेले "

"वे तो अब कुछ ठीक ही है। पथ्य दे आयी हूँ। और फिर अभी तो मेरे नहाने-धोने का समय है जाना और आना है। ज्यादा देर नही होगी।

* * *

वही खिडकी बन्द कमरा। इस बार मैं साक्षी। सुधीर मामा सो रहे थे, गले तक ढँके हुए। दुबला-पतला आदमी माना बिस्तर मे ही समा गया हो।

मैं केवल देख रहा हूँ। तुम्हे आगे बढते देखा, आचल से बाहर निकला हुआ शाँखायुक्त करुण हाथ। बहुत हल्के से उसी हाथ की हथेली को, उनके माथे पर एक बार न छूने जैसा ही छुआया। बस और कुछ नही। मेरी ओर घूमकर बोली, "अभी तो काफी बुखार है।" बस और कुछ नही। न जलपट्टी, न हाथ पखा। सिर्फ घडे से निकाल कर एक गिलास पानी उनके सिरहाने रख दिया। कहा, 'अब चलो।' जिस तरह दबे पाव गयी थी, वैसे ही दबे पाव निकल आयी।

और कुछ क्या नहीं ? बाबा के सिरहाने भी ता मूर्तिमती शुश्रूषा, सेवा, उत्कठा और माया बनकर रहते तुम्हे देखा है। यहा यह कृपण, कृच्छ, नीरव निस्पृहता। यह वैपरित्य अच्छा नही लग रहा था। रास्ते भर तुमस एक बार भी नही बोला।

(उस दिन जिसे अमानवीय निर्ममता समझा था, बाद मे उसका कारण समझ पाया था। एक ही वस्तु के दो पक्ष— कही सब कुछ उडेल कर भी लगता है और दे दूं, तो कही हाय घोघे के मुह की तरह सिमटा रह जाता है। कुछ न देना, देना न चाहना या न सकना भी सब कुछ देना है।')

बाबा जाग गये थे। उठ कर बाहर घडे पर आकर बैठे थे। तुम चौंक गयी थी, "बीमार शरीर लेकर यह क्या ?" लगभग चीख की तरह तुम्हारी आवाज सुनायी पडी थी। पर बाबा की आँखें उस समय एकदम ठडी थी। बेहद कोमल स्वर मे पूछा था, 'कहाँ गयी थी ?"

पोखर म नही, यह तुम्ह देखकर समझा जा सकता था। अमरूद के पेड स सरसराती हुई दो गिलहरिया आकर आँगन मे कुछ खा रही थी। हमे दखते ही भाग

गयीं। थोडा रुक गयी तुम, क्षण भर के लिए, फिर मामो बाबा के ही स्वर की नकल करती हुई बोली, "सुधीर दा के यहाँ।"

तुम बच गयी माँ ! थोडा-सा भी कुछ भी बनाकर उस समय न बोलने के कारण तुम मेरे पास पहले जैसी ही रह गयीं। मैं साँस रोके खडा था। जैसे ही तुम्हारा जवाब सुना, उसी समय एक नेवला जो खिडकी से बार-बार मिचमिचाई आँखों से झाँक रहा था, उसकी ओर डंडा लेकर दौड पडा।

"वहाँ क्यों ?"

"सुधीर दा को भी बुखार है।"

"खबर किसने दी थी ?"

हाथ से मेरी ओर इशारा किया तुमने। सत्य अस्वस्तिकर होता है, पर उसका रंग कितना सफेद होता है। इस आँगन के ऊपर खुले आकाश की तरह। मैंने उसी समय अनुभव किया था।

देखा, बाबा काँपते हुए खूटा पकड कर खडे हो गये। लडखडाते हुए कमरे मे घुस गये। फिर उसी बीमार बिस्तर पर।

शायद उसी दिन शाम को ही बाबा को दोबारा बुखार आ गया।

और उसी दिन रात को ? अचानक डर कर नींद टूट गयी था। मुहू के ऊपर गरम हवा। न जाने किसका तप्त श्वास। एक टिमटिमाता सा दीया जल रहा था। बाबा की बीमारी के समय से ही रोज ही जला कर रखा रहता। समझने मे देर नही लगी कि वह किसकी साँस थी। कई दिनो की बढी हुई हजामत, घनी भौंहे ! बाबा को आसानी से पहचान गया। उसी दाढी-मूछ के जंगल मे बाघ की तरह जल रही थी एक जोडी आँखें। बाघ नही, वह दृष्टि पागल की मुने खडखडाती-रूखी जीभ से चाट रही है। मा, आ मा ! तुम अभी भी पलँग के एक किनारे माना बिखरी हुई लता हो। तुम्हारी नींद क्या नही टूटती ?

मैंने तुरन्त आख मूँद ली, जैसे कुछ देखा ही नही। सोते रहने के भान से सचमुच सो जाना कितना आसान है ? पर मैं तो सोऊँगा नही, जागूगा। हिलना-डुलना, साँस लेना सब कुछ बन्द करके। सेकेण्ड गुजरता है, एक-दो-तीन। कितने सेकेण्ड मे एक मिनट, कितने मिनट म हे भगवान पूरी एक रात ? उसके बाद आख बन्द किये हुए ही पता चल गया है, शिकारी की व्यग्र-एकाग्र दृष्टि हट गयी है। जाते-जाते एक पाँव से लालटेन उलट जाती है। जरूर तेल चू रहा होगा। कल सुबह फर्श के ऊपर जरूर काला दाग देख पाऊगा। फीते की तरह। फाता या फिर भीगी हुई वेणी की तरह। पसाने के तरबतर होते हुए मैं यही सब सोच जाता हूँ। पसीने की कलकल ध्वनि क्या कभी सुनाई पडती है ?

ऊटपटाग बहुत कुछ सोचता रहा, सिर्फ समझ नही पाया, झुककर बाबा मेरे चेहरे म क्या देख रहे थे ? उतनी गहरी सास व क्यो भर रहे थ ?

दूसरे दिन सुबह उठते ही सुन पाया, बाबा तुमसे कह रहे थे, "मैं अब जाऊँगा।"

दोनो ही बराडे मे थे। बाबा का स्वर मुलायम, जैसे कोई और व्यक्ति हों। एक बार अचानक कमरे मे आये, शायद गमछा लेने। मेरी ओर देखा नही, फिर भी मैंने देखा, इस बीच बाबा, दाढ़ी-बाढ़ी साफ कराकर, एकदम फिट !

असल मे गयी रात की नीद थी जो मैं ही शायद देर से उठा था।

बाबा दोबारा बराडे मे निकल आये। तुम्हे बोले, "कल या परसो जाऊगा।" तुम्हे कहते हुए सुना "ऐसा क्या ? तबीयत तुम्हारी अभी भी पूरी तरह ठीक नही।" बाबा ने तत्क्षण "मेरी बीमारी क्या जान वाली है ? तुम्ही बताओ ?" आवाज स समझ जाता हूँ बाबा हल्के-हल्के हँस रहे हैं। वाह ! कितना मधुर ! पर मा तुम मान नही रही हो। धीमी आवाज मे कहती हो, "पर मेरी ऐसी हालत मे "

"डर रही हो ?"

"रही हूँ।"

"पक्का पता है ?"

"एकदम पक्के तौर से क्या कहूँ। पर पहले की ही तरह सब कुछ बीच-बीच मे तुम आते हो और यह सब होता है। तुम्हे क्या ! दायहीन, तुम एक दायहीन डाकू हो " माँ, तुमसे माना बोला नही जा रहा था।

हो हो करके बाबा को निर्मल हँसी हसते सुना, मानो अपने कौतुक भरे स्वर से खुद ही रस लेन लगे हो। "अच्छा ही तो हुआ। तुम इतना सोच क्यो रही हो। यह लोग ही तो देश के भावी सग्राम के एक-एक सैनिक हैं "

' ऐसा नही हो सकता। नही होगा।" माँ, तुम हाँफ रही हो, पर पता चल-रहा है, तुम्हारे दाँत स दाँत लग गये हैं, "हो नही सकता। न होगा।"

' क्या नही होगा ? '

"कौन खींचेगा इतना ? कौन पालपोस कर आदमी बनायेगा ?"

हा-हा-हा-हा ! बाबा के अकुण्ठ अनाविल ठहाके। पर बात वे धीरे-धीरे कर रहे हैं। "क्या खींचनेवाला तो है। और आदमी बनाना ? यह ठीक-ठीक मालूम नही।"

"मतलब ? '

"अगर तुम जानती नहीं हो तो बोलूँगा नही। पर देखो, जो है यह ठीक लायक नहीं बन रहा है।' इस बार बाबा ने वही भयकर बात कही, "खाच रहा हूँ उस मैं से आऊगा। यहाँ नही रखूँगा। यहाँ बल्कि उसके बुरे प्रभाव के कारण अमानुष ही बन रहा है। उसे अपने पास रखकर आदमी बनाऊँगा।"

उसे बाद मुझे। सुन कर सुन रहा था। माँ, रुँधे हुए स्वर म तुम्हें कहते सुना, ' क्या कर रहे हो ?

"सोच-विचार कर ही बोल रहा हूँ।"

"तुम राक्षस हो, तुम ही इस तरह की बाते कर सकते हो।"

"एकदम से घबडा मत जाओ।" दरवाजे की फाक से देख रहा हूँ, बाबा ने आख दबायी, "उसे वापस भी भेज सकता हूँ।"

"मतलब ?"

"बताता हूँ। पर पहले तुम एक बार और हिसाब लगाकर बताओ तो। मैं वही एक बार आया, वह कौन-सा साल था ? मुझे थोडा याद करा दो। उसके बाद जब आया, तो कितने साल बाद ? दो या तीन। उसे देखा, तुमने कहा वह पूरे दो साल का है। सच्च बताना तो, वह उस समय पूरे दो साल का था ? कुछ कम कम नही न ?"

तुम निर्वाक-सी, क्रोध, घृणा और रुलाई मानों सब एक साथ गडमड हो जा रही थी। "निर्लज्ज, बदमाश, पाजी !" खूटी पकड कर अपने को किसी तरह सम्हालते हुए तुम ये सिर्फ तीन शब्द बोल पायी थीं।

"आहा हा, गाली गलौज बाद मे। पहले मेरी बात तो सुनो। मेरे प्रश्नो का जवाब फटाफट दे देने से ही तो सारी शका मिट जाये। मेरी रानी ! मेरे लिए क्यो नही सोचती हो ? पता है मैं बीच-बीच मे उससे अपना चेहरा मिलाकर देखता हूँ, फिर खुद को शीशे मे देखता हूँ। किसी-किसी रात को, वह जब सो जाता है, उसे देखता हूँ, देखता ही रहता हूँ। मेरी तक्लीफ को तुम क्यो नही समझने की कोशिश करतीं ?"

तुम मानो गूगी हो गयी थी। आखो की पुतलियाँ बाहर निकली आ रही थी। पर चेहरा बिल्कुल सफेद हो गया था। किसी तरह खीच-खींच कर पर तीव्र स्वर मे तुमने कहा था, "तु म जाओ ! चले जाओ !"

"जाऊँगा तो। कहो तो आज ही चला जाऊँ। पर क्या एकदम से इस तरह विदा करोगी ? पत्रा खोल कर यात्रा शुभ-अशुभ का विचार नही करोगी ?"

कोई उत्तर नही।

"बताया तो है, उसे भी ले जाऊँगा, कलकत्ते म आजकल बहुत तरह की परीक्षा होती है। ब्लड टेस्ट, कभी इसके बारे मे सुना है ? खून के साथ खून मिलाना। बातें जब उठी ही हैं तो जिसे अपने हाथ से आदमी बनाना है, उसके बारे मे एकबार नि सशय हो जाना ही तो अच्छा है न !"

तुम्हारे हाथ के पास कुछ था। उसे ही खीचकर तुमने बाबा को मारा था। समस्त दृश्य धुधला गया था। सिर्फ मेरे दोनो कान मे प्रत्येक शब्द घुस रहे थे। उस भयकर सुबह को आज भी नही भूल पाया हूँ। बहुत-सी बातें, बहुत से इगित उस दिन थे अस्वच्छ, पर वे बातें भयकर भी थी, यह उस अबोध आयु के सहजात बोध म भी घेर जाने मे कोई मुश्किल नहीं पड़ी थी।

वह दोपहर भी बीत गयी। समय का एक महत्व स्वभाव होता है, वह बीत जाता है। यदि नही बीतता, ठहर जाता एक ही जगह पर तो वह एक दुखद स्थिति होती। जमें हुए जजाल से भयकर दुर्गंध आती। समय का सबसे बडा गुण है उसका बीतते रहना। उसके चरित्र मे ठहराव कहीं नही है। वह बहता ही जाता है, और साथ ही अपने साथ सारी गन्दगी भी बहा ले जाता है। समय क्या कोई शुचि ग्रस्त विधवा है ? या फिर वह एक अदम्य प्राणशक्ति से भरपूर युवा है, जो पानी में कूद जाता है। एक-एक मौसम को ही देखो न, लगता है जैसे बाढ मे डूब गया। उसके बाद ही झिलमिलाती धूप में पीठ उघाड कर बैठ गया, घना-नीला आसमान।

हमारे यहा भी उस दिन समय किसी वैरागी की तरह 'भीख दो' के साथ हाथ पसार कर हाँफता नही रह गया। और इसलिए ही सब कुछ सहज हो गया।

* * *

माँ तुम और बाबा आपस मे बोल नही रहे थे, यह मैंने देख लिया था। तुम दानो के बीच एक झीना-सा परदा पड़ा हुआ था। फिर भी काम-धाम चलता ही रहा। तुमने ठीक समय पर चूल्हा जलाया, चाय बनी। बाबा ने भी चाय पी। ठीक समय पर तुमने उनके सिरहाने दवा की शीशी और गिलास रख दिया। इस बीच बाबा अपनी छिटपुट चीज़ो को सहेजते जा रहे थे। फतुए मे बटन क्यो नही है, इस बात पर थोडी देर तक बडबडाते रहे। न जाने कब सुई धागा लेकर खुद ही रफ़ू करने बैठ गए। शाम होते ही रोज की ही तरह शख बज उठा। बडी बाडी के मन्दिर से कासे का घटा पीटने की आवाज ने, घर लौटते हुए पक्षियो को और अधिक भयार्त बना दिया। इस समय रोज पूरा आकाश जले हुए लोहे में जग लगने की तरह हो जाता।

क्योकि मैं उस दिन कुछ समझ नही पाया था। सिर्फ हिस्स-हिस्स की आवाज मे एक दूसरे पर वाक् प्रहार करते सुना था। इतना समझ गया था कि जो कुछ हो रहा है, बहुत बुरा हो रहा है। पर घटा बजने के ढग-ढग के आघात से महसूस हो रहा था कि सब कुछ बीतता जा रहा है। जैसा पहले था फिर से सब कुछ वैसा ही होगा। मैं तुम्हारी बगल मे तुमसे लिपट कर सोऊँगा। तुम्हारे शरीर की उष्णता पाऊँगा। जिस तरह जड मिट्टी की गहराई को सोख लेता है, उसी तरह तुम्हारी प्रगाढ़ ममता को मैं सोख लूगा, क्योकि मैं व्याकुल होकर यह सोचे जा रहा था कि

सब कुछ जल्दी ही खत्म हो जाए । इसलिए और भी कौन-कौन सी घटनाएँ आगामी एक प्रहर के साजघर मे तैयार हो रही थी, उसकी कोई जानकारी मुझे नही थी ।

अपना बैग ठीक कर लेने के बाद, बाबा ने अचानक मुझे चौंकाते हुए कहा, "तुझे जो कुछ ठीक करना था, किया नही ?"

मैं ? हाँ, बाबा जब कह रहे हैं, तब निश्चय ही मैं ही । स्थिर स्वर मे वे बोल रहे हैं, "तू भी जायेगा । एकबार मैं जो सोच लेता हूँ, उसमे फिर कोई फेर बदल नही होता है । आज रात को ही गाडी है । शायद नौ बजे । जाकर तैयार हो जाओ ।"

तुम सामने आकर खडी हो गयी थीं । मैं जहाँ था, वहाँ ही खडा रहा । बाबा का बक्सा तैयार हो गया था । इतने दिन बाद पीछे मुडकर देखने पर लगता है, जैसे एक दृश्य रहा हो । जिनका जो पार्ट था, वे तीनो तीन जगह पर जडे हुए । प्रत्येक अपना पार्ट भूल कर निर्वाक्-सा देखता हुआ । कोई किसी की ओर सुई भर भी बढ़ नहीं पा रहा है ।

उस दिन नाटक हमारे घर पर खेला जा रहा था । मेरी निर्ममतम स्मृतियो में यह अन्यतम है ।

नहीं कोई विस्फोट[नहीं] हुआ था, एक हिमस्रोत बहता जा रहा था । बाबा ने एकबार कैसी तो उलझी-सी अद्भुत स्वर मे पूछा था, "क्यों ? तुझे क्या-क्या लेना है, लाया नही ?"

पुराना टाइम पीस अक्सर बन्द पडा रहता था, पर उस दिन ठीक टिक-टिक करता रहा ।

उस फूल-पत्ते वाले छोटे टीन के बक्से के लिए तुमसे कहूँ माँ ? दो-तीन कपडे-लत्ते, किताब-विताब तुम बक्से मे भरने लगी थीं । मानो किसी मुर्दे को सजाया जा रहा हो, माना दादा की मृत्यु की तरह एक और रात वापस लौट आयी हो । फर्क सिर्फ इतना ही था, तुम्हारी सूखी आँखो मे आँसू नही थे ।

उस अविश्वास्य क्षणों मे हमलोग टुकडा टुकडो मे कट कर क्या कर रहे थे ? मुह म भात ठूस रहा था, या फिर तुम ही एक के बाद एक ग्रास उठाकर मेरे मुँह मे भरती जा रही थी ?

मैं तैयार होकर टुकुर-टुकुर देखे जा रहा हूँ । अब जाऊँगा । तुमने मृदु स्वर मे कहा, "बाल नही सँवारोगे ?" यही एकमात्र साधारण-सा निरुत्ताप स्वर । बाबा बोल पडे, "नही रात को शीशे म मुह नही देखते हैं ।" तुमने कहा तो फिर तस्मेवाला जूता पहन ले ?" बाबा बोले, "नही बाबूगिरी करने की कोई जरूरत नही । चप्पल ही ठीक है ।" फिर तुम्हारी ओर देखते हुए, "तुम समझ नही पा रही हो कि यह अब ओर तुम्हारी मरजी पर नही चलेगा । उस पर तुम्हारा हुक्म नहीं चलेगा ?"

तुमने सुना । मैंने भी । जो नाखून किसी को नोचना चाहता है, पर नोच नहीं पाता है, बेशक न नोच पाये, पर जीवन भर सोचता रहा हूँ, वे लोग तब स्वय को ही हिंस्रतापूर्वक क्या नोचने-खसोटने लगते हैं !

* * *

दादा से मन-ही-मन में बोला, "जा रहा हूँ। तुम्हें प्रणाम करता हूँ, कहाँ जा रहा हूँ, कितने दिनो के लिये, पता नही। प्रणाम करता हूँ तुम्हें। तुमने हाथ बढा कर मुझे छुआ। उस स्पर्श में धडकन नही थी। बाहर अंधकार, दूर दूर एकाध रोशना। वे लोग जाग रहे हैं पर उन्हे कुछ पता नही कि कौन चला जा रहा है। फिर भी आश्चर्य है। उसके लिए कोई शोक भी नही है। कम से कम बाहर उसका कोई चिह्न नही ही है। यह मोहल्ला मानो मेरी एक और मां है। वह भी उस दिन मानो तुम्हारी ही तरह अचानक जड-स्तब्ध हो गयी थी। साफ-साफ कह दूँ, मेरी छाती के अन्दर से रुलाई, भय बाहर निकलने का हा रहे थे। अंधेरा होने पर भी मेरी जानी-पहचानी सडक थी। इसके प्रत्येक टूटे-फूटे गड्ढा से मैं परिचित था, फिर भी ठोकर खा रहा हूँ और आगे-आगे चलते हुए बाबा मुझे जल्दी चलने के लिए कहे जा रहे हैं।

जा तो रहा हूँ, पर इस तरह कोई जाता है ? इस तरह चोरो की तरह ? कल भी सुबह होगी। पाडे का क्या उस समय कुछ पता चलेगा ? कौन था, कौन नहीं अब और यहा नही दीखेगा ! मेरी जेब एक बार फटी हुई थी, उस समय पता नहीं चला था, मेरे दो पैसे गिर गये थे। फिर भी मुझे उसी दिन पता चल गया था। खोये हुए पैसो का छान मारा था ! इस पाडे मे क्या उतना भर भी आहट नहीं होगी ? इधर उधर आख फेरकर मुझे वह नही खोजेगा ? मेरी क्या दो पैसे भर भी कीमत नहीं है ? रुलाई आ रही थी।

पाडे की तरफ से आँख घुमाकर आकाश की ओर देखता हूँ। वहा वे लोग हैं। हजारों चमकती आखें किसी का चले जाना देख रही हैं ! साहस मिला, मन मे भरोसा हुआ। जहा भी जाऊँ, डर क्या है। कही भी क्या न जाऊँ, डर किस बात का ! कहीं भी क्यों न जाऊँ, आखें मूदे अवाक आकाश से बोला, "कही भी जाऊँ, तुम लोग साथ रहना।"

तुम शायद बिस्तर पर निढाल हो गयी होगी, या फिर दीवार से सट गयी होगी। तुम शायद जान नही पायी होगी, कितने लोगो स उस दिन मन ही मन मे विदा लेता हुआ जा रहा था। एक-एक बार मे एक-एक जन स बात करूँ, और सबको ठेलकर बराबर तुम सामने आ जाती रही। तुम्हे क्या बोलू ? तुमसे तो कोई बात ही नही हो सकी।

वही सूखा कुआ। सडक जहा मुडकर खेत की ओर चली जाती है, उसी मोड के कुएँ म झुककर बात करना बडा मजेदार लगता। कुएँ मे कुछ फेंक देने से गुड़प से डूब जाता, तैरता नहीं। पर उसकी छाती पर मुह रखकर जा मरजी कहते जाओ, प्रत्येक शब्द का दस गुना फुलाकर, बढाकर वह ऊपर की ओर फेंक देता है। बडा मजेदार खेल था वह। खाई हुई बात को वापस पाना। आखिरी बार के लिए खेलने का मन हुआ। मन हुआ उसके सीने में मुह डुबो दूँ। डुबो दूँ, डुबो कर पडा रहूँ, और फिर अचानक हो बालू, 'मैं जा रहा हूँ। अब शायद लौट न सकू।"

"जाऊँगा नहीं," मेन की सड़क मार्केट है। उस पार स्टेशन की सड़क के ठीक मुँह पर जो बरगद का पेड है, अँधेरे में छिपे डर से सबसे बाबा वाला भाग सकना, डर से काँप जाता, आज चिरपरिचित की तरह उसे भी यही बात कहो।

कुछेक पंक्तियाँ बार-बार याद आ रही थीं। यही सीताहरण वाली जगह पर, उत्तर पढ़ते-पढ़ते यहीं आवाज रुँध जाती तुम्हारी-मेरी। यही, वह तालाब है, जिसके उस पार वह मकान है। आज दोपहर को भी गया हूँ। सिरहाने रखे गिलास से अब तक उन्होंने जरूर पानी पिया होगा? उन्हें भी कुछ मालूम नहीं। उन्हें क्या अभी ज्वर है? या उतर गया होगा? मैं लड़का हूँ, फिर भी स्वयं को सीता समझ रहा हूँ। सीता तो आते-जाते कितना कुछ फेंकती गयी थीं, ताकि चिह्न रहे, ताकि राम-लक्ष्मण को पता चल जाये। पर हार कंगन-केयूर कुछ भी तो मेरे पास नहीं है! मैं कौन-सा चिह्न छोड़ जाऊँ?

बाबा थोड़ा आगे हो गये थे। मैं थोड़ा पिछड़ गया था। एक सेकेण्ड के लिये रुका। जेब में सिलप लगा स्टाइलो पेन। सुधीर मामा ने दिया था। टप् से उसे गिरा दिया। सड़क के किनारे। बाबा ने घुड़की दी, "क्या हुआ? पाँव चला कर आ।" मैं जल्दी-जल्दी चलने लगा। बहुत धीरे-धीरे किसी से मानो मैं कह रहा था, "उनका बुखार ठीक हो जाये। रोज मॉर्निंग वॉक की उनकी आदत है। कल सुबह भी टहलने निकल पड़े। देख लें। उन्हीं की दी हुई चीज है न! जरूर पहचान जाएँगे कलम को। उठा लेंगे। कलम सब कुछ बता देगा। सुधीर मामा को पता चल जायेगा।"

*　　　　*　　　　*

चारो ओर सब कुछ चुपचाप, खामोश, पर स्टेशन पर रौनक थी। सिर से पाँव तक ढँके न जाने कौन लोग सब सोए हुए हैं। दो छकड़ा गाड़ी और एक पही कपड़े का घूँघट डाले टैक्सी, जो ट्रेन के आते ही, जितनी मरजी पैसेंजरों को लूट कर, हम लोगों के उस मुफस्सिल शहर से जिला-सदर तक धुआँ धूल उड़ाती, दौड़ती रहती है। जिला सदर में रेल नहीं है।

उस समय तक ट्रेन नहीं आयी थी। हम लोग पहुँचे ही थे कि ढन ढन ढन पहला घंटा बज पड़ा। मतलब यह कि गाड़ी आने में अभी और पन्द्रह मिनट की देरी है। गैस की बत्ती जलाकर बूढ़ा पान वाला, पान लगाये जा रहा है। ट्रेन आते ही प्लेटफाम की ओर दौड़ेगा, 'पान-बीड़ी सिगरेट!' मैं उसकी आवाज की बहुत बढ़िया नकल उतार सकता हूँ। बाबा टिकट घर के सामने खड़े हो गये। भीतर खटाग-खटाग की आवाज, लटके हुए टेलीफोन को कान से लगाये, उसके चोंगे पर मुँह रखे, स्टेशन मास्टर बहुत दूर किसी को हैलो-हैलो किए जा रहे हैं, बीच-बीच में खट-खट टर्र-टक्का! निश्चुप चारो ओर की नींद में यह स्टेशन अपनी गहमागहमी, रोशनी चंचलता और व्यस्तता के साथ किसी द्वीप की तरह जाग रहा है।

बाहर प्लेटफार्म काफी शान्त था। प्लेटफार्म के दूसरे छोर पर सिगनल की खूंटी। टिमटिम करती रोशनी। अन्धकार मे अचानक ऊँचे उठकर, फल से तारा बनकर आकाश में उठ जाना चाहती हो, जिस तरह कार्तिक महीने में आकाश प्रदीप चाहता है, पर उठ नही पाता है। इस सिगनल की रोशनियाँ भी नहीं उठ पा रही हैं। इच्छा को दबाये चिकचिक आँखो से देख भर रही हैं।

जिन लैम्पपोस्टो के शीशे पर स्टेशन का नाम लिखा हुआ है, उन्हीं में से एक के नीचे खडा हो गया। पास मे ही एक करबी पेड की झाडी, बहुत नीचे तक झुककर धीरे-धीरे साँस ले रही हैं। उसी हवा मे हल्की-सी एक महक भी मिली।

बाबा का चेहरा ठीक देख नहीं पा रहा हूँ, हालाँकि वे बगल मे ही खडे हैं, पर मुह दूसरी ओर घुमाया हुआ है। शायद उधर से ही गाडी आये। इसलिए चेहरा देख नहीं पा रहा था। अस्पष्ट, अधेरा घुमाया हुआ चेहरा, अचानक पता चला, कुछ बोल रहा है। कान लगाकर सुनते ही समझ मे आ गया, एक प्रश्न मुझसे ही, "मुझे तू क्या समझ रहा है रे ? बदमिजाज खामखयाली, यही न ? तुझे छीन कर लिए जा रहा हूँ।"

अचानक बाबा घूम कर मेरी मुट्ठी दबा कर पकड लेते हैं, उनके हाथ काँप रहे हैं। मेरा शरीर भी काप रहा है। यह तो कोई दूसरा आदमी है। एकदम दूसरी आवाज, मैं इसे नही पहचानता हूँ। उस मायावी मनोरम रोशनी मे अभिसारी सिगनल को साक्षी रखकर, क्या वे बदल गए ? अभी भी ठीक समझ नही पाया हूं। उस क्षण उनके अन्दर क्या घट रहा था ? क्यो उस चुस्त-दुरुस्त आदमी का हाथ उस समय काँप रहा था। मुझे छीन कर ले जा रहे थे, जानकर भी क्या, हम दोनों के अकेले होते ही दूसरा आदमी बन जाना चाह रहे थे।

"मुझे तू पहचानता नहीं है। पहले देखा नहीं है। देखकर भी याद नही रखा है। बता तो मैं कौन हूँ ?"

"बाबा !" मैं किसी गुडडे की तरह बोल पडा।

"पर करता क्या हूँ ? मैं कौन हूँ ?"

क्या करते हैं, उसकी कोई स्पष्ट धारणा मुझे नही थी। इसलिए जो मन में आया, वही बोल बैठा, "आप नाटक लिखते हैं न ?"

"नाटक ?" करबी की झाडी के निश्वास के साथ एक और निश्वास मिलकर नि शब्द हो गया। "लिखता हूं, पर इस बात का पता कितनो को है ? कौन पढता है ? एकाध लोगो को बुलाकर सुनाता हूँ। इतना भर ही। वैसे तो सारी रचनायें बक्से मे बन्द ही रह गइ, पन्ने पीले पडते जा रहे हैं। फटने लगे हैं।"

"प्ले होता नहीं है ?" पूछ बैठा।

"कौन करेगा ? दल चाहिए, रुपया चाहिए।"

अचानक माना दिमाग मे बुद्धि आ गयी। बोला, "बाबा किताब छपवाने से तो पैसा मिलेगा। इन नाटको की पुस्तक नहीं बन सकती है ?"

बाबा बोले, "धत् ! छापने के लिए भी पैसा चाहिए। मेरे पास पैसा कहाँ है ? टो-टा करके घूमता रहता हूँ, कहीं बंधता नही हूँ। हाथ में जो कुछ आता है, खच हो जाता है। जीवन में कभी कुछ जोड ही नही पाया।" बाबा खीच-खीच कर बोल रहे थे, मानो बोलते हुए उन्हे तकलीफ हो रही हो। उस तकलीफ को मैं भी अपने बदन पर हवा के थपेडो की तरह महसूस करने लगा। "कुछ जमा-पूँजी तो है नही। कोई पहचानता नही है। खुद कौन आकर यह सब छापेगा ? इन सब बातो को तू नही समझ सकता है। मैं मैं केवल लिखूगा, लिखता रहूँगा, छपेगा नही।"

मेरे ही चेहरे पर आँख गडाये, बाबा बात कर रहे हैं। उनका मुँह अब फेरा हुआ नही है। पूरा दीख रहा है। भारी आवाज लहदार ठुड्डी, दोनो भौंहो के बीच प्रदीप्त दो आँखें। उन्होंने जो कुछ कहा था, उसे अभी भी सुन पा रहा हूँ।

"छपेगा नही, पर रहेगा। रख तो जाऊँगा ही। तू बडा होकर पढना। और और स्वर सूखते हुए कपडो की तरह काँप रहा था। "और और तुझे अगर लायक बना सका, अगर तेरे पास कभी पैसा हुआ, तो तू छपवा देना।"

बहुत क्लान्त थे, इसलिए बाबा ने रुक कर दम लिया। "एक स्मृति। किस तरह का पता है ? तू क्या समझेगा ? गिरा हुआ एक टुकडा कागज, कील या फिर टूटी हुई रस्सी। तुरन्त किसी काम मे नही लग रहा है, फिर भी बहुत-से लोग सम्हाल कर रख देते हैं। इस खयाल से कि शायद कभी किसी काम में आ जाये। ये नाटक भी समझ ले उसी तरह की चीज़ है। आज शायद इसकी जरूरत किसी को न हो, इसलिए कोई पूछ नही रहा है, पर कहा तो नही जा सकता है, बहुत-बहुत दिनो के बाद किसी की नजर पड गयी। आज जो चीज़ खारिज हो रही है, अचानक कभी वह बहुत जरूरी हो जाए, पर सम्हाल कर रखा रहेगा, तभी तो ?"

उस समय दूसरा घंटा बज रहा था। खूब जल्दी-जल्दी। गाडी आने ही वाली थी। बाबा का चेहरा असहाय-सा, पर आँखें धक्-धक् जल रही थी। इंजन के धधकते हुए आग को उस तरह जलते देखा है। बहुत जल्दी-जल्दी लोहे का जो प्रकाण्ड डंडा सामने के चक्कों को ठेलता है, उसी तरह अस्थिर पर सहसा शक्तिमान बाबा व्याकुल कण्ठो से कहते हैं, 'वादा कर, जैसे भी हो, तू इन नाटको को छापेगा ?"

"वचन दे, वादा कर " उनके बढे हुए नाखून मेरी बाँहो मे खुब रही हैं, उस तकलीफ से नही, शायद यूं ही मैं चीखना चाहता था। घस्-घस-घस् कोयले के धूल से टिमटिमाती रोशनी ढँप गयी। गाडी आ चुकी थी। धक्कम-धुक्का। कमरों के बन्द दरवाजे पर धक्के। एक दरवाजा शायद खुला मिल गया। धडधडाते हुए सब अन्दर घुसना चाह रहे थे। मेरे हाथ बाबा की मुट्ठी मे। सबसे आखिर में चढकर, दरवाजे का राड पकड कर हाँफ रहे हैं। उसी समय सुन पाया, बाबा बोल रहे हैं, "रहने दे।"

रहने दे, मतलब न चढू ? उनका हाथ ढीला हो गया है। खिडकी से मेरा

बक्सा, वापस मुझे थमा दिया। स्तम्भित-सा मैं क्या गुन रहा हूँ ? "तू रहने दे।" गर्दन बढ़ाकर बाबा मेरे कान में फुसफुसाते हैं, "मैं एक गलती करने जा रहा था। मैं आवारा-मुसाफिर, घूमता रहता हूँ। तुझे भी वैसा ही बनाना चाह रहा था। पर तू अगर मेरे जैसा बन गया, तो फिर कैसे उन्हें छापेगा ?"

माना मेरे चले जाने से, उन किताबों को कौन छापेगा, इसलिए बाबा मुझे सहेजे जा रहे हैं और कोई कारण नहीं था।

* * *

इंजन पानी ले रहा था। गाड़ी छोड़ने में देर हो रही थी। न जाने किस समय वे टप-से नीचे उतर आये थे। मेरे कंधे पर हाथ रखकर बोल रहे हैं, "जीवन में किसी को सुख नहीं दे सका। तेरी माँ को भी नहीं। तुझे भी छीन लेने से उसके पास रह क्या जायेगा ? कुछ दे भले ही न पाऊँ, पर लूँगा भी नहीं, तू लौट जा।"

कैसी तो एक करुण मुस्कराहट उनके चेहरे पर फैलती जा रही थी। सिगनल का रक्त-चक्षु उसी समय कोमल हो गया। वे धीरे धीरे फिर से पाँवदानी में चढ़ गए। गर्दन घुमा कर बोले, "माँ से कहना क्या कहेगा ? तेरे खामखयाली बाबा का एक और कारनामा, यही न ? न हो तो यही बोल देना। पर इतनी रात को तुझे अकेले लौटने में डर नहीं लगेगा ?"

टूटे स्वर में सीटी की आवाज उनकी आवाज को दबा गयी। सब कुछ डूबता जा रहा है। ये लोग-बाग, ओवरब्रिज, धुएँ के कोहरे में सब ढँक गया। विराटकाय एक अजगर हिस्स-हिस्स करता हुआ चल रहा है। बाबा उस समय भी दरवाजे पर खड़े हैं या नहीं मालूम नहीं। आँख में कोयले की किन्नी चुभने लगी है, देखूँगा किस तरह ? उन्हें देख नहीं पा रहा हूँ। टीन का बक्सा घुटने पर ठक-ठक करके लग रहा है। मैं गेट की ओर बढ़ चला।

डर ! धत्, डर कहाँ है ? माथे पर बूँद बूँद पसीना। जीवन में शायद पहली बार मैं निडर होकर उतना रास्ता तय किया। इतना लम्बा रास्ता, इतनी जल्दी तय कर गया !

एक समूचे दिन ने मुझे किसी गेंद की तरह इधर से उधर उछालते हुए छोड़ दिया। डर नहीं लग रहा था।

मां ! यहाँ से लिखने की स्याही थोडी अलग किस्म की, पता नही कैसे हो गयी ? बीच मे कुछ दिन खाली गया है। वह कलम भी आज नही मिल रहा है। जब लिखने बैठा था, उस समय सोचा भी नही था, कि इतना बातें लिखने को है। यह सोच कर इस काम को उठाया था कि, यह एक कृत्य है। एक समापन। रोज सुबह हस्तपद प्रक्षालन के बाद, आसन बिछाकर आह्निक मे बैठने की तरह, सज्ञान मे एक-एक पुष्प निवेदन करता जाऊँगा, यही तो स्थिर किया था ? कुछ अपराध स्वीकार करूँगा। सुनो सुनो कहता हुआ आत्म उन्मोचन नहीं, उन्मोचन नही, केवल स्वय का ही मोचन ! ताप-सताप में आयु के इस हिमऋतु मे हाथ-पाँव सेंक लूगा, यही सोचा था। पर तर्पण की वह परिकल्पना पूरी नहीं हो पा रही है। देख रहा हूँ, पन्ने पर पन्ने भरते जा रहे हैं, पर मैं लिख नही रहा हूँ। कोई लिखवा ले रहा है मुझसे। जैसे लिखने की मेज न होकर, प्लानचेट हो। अनुभव कर रहा हूँ, अमोघ एक शक्ति का दबाव और उसी का सकेत। कितना आश्चर्य है देखो इतने दिनों से इतनी जो कलाएँ सीखी हैं, वाक्‌चातुरी सीखा हूँ, वह सब किसी काम में नही आ रहा है। लग रहा है, हाय ! सब कुछ भूलते जाना ही अच्छा है। सब कुछ भूल जाने मे ही तो राहत था ! सब कुछ भूलना तो पडा ही !

इतनी बातें कहनी को हैं। कुछ लोगो से क्षमा माँग लेने की कातरता। कुछ लोगो का क्षमा न कर पाने की अक्षमता। उस दिन किसी सुहृद ने कहा, जिनके साथ श्रद्धा सहित जुड नहीं पा रहे हो, उन लोगो के साथ घृणा मे ही क्यों जुडोगे ? ये सारी बातें मेरे लिखने के तेवर को ही बदल द रही हैं। फिर इसके साथ हा क्लान्ति भी है। रोज एक-एक, दो-दो के हिसाब से उत्सर्गपत्र लिखना सम्भव नही हो रहा है। फिर दोबारा बीमार पड जाने के कारण भी कलम चलाना बन्द रहा। इसे भी भाग्य के सिवा और क्या कहा जा सकता है ? मैं, जो स्वय को लोहे का बना हुआ समझता था, अपने खुद के शरीर का जिसने स्वय ही लगातार घर्षण किया है, अनियम का वह प्रबल पण भी धीरे धीरे सुस्त पडता जा रहा है।

मध्यआयु की मध्यरात्रि भी भयकर होती है, यह अब पता चल रहा है, माँ ! सजा ? प्रायश्चित ? पता नही। ये समस्त मध्यरातें, अचानक ही एक-एक दिन जाग

उठती हैं। शोर मचाती हुई धक्के दे देकर, आँखों का जलना, स्मृति, मरे हुए पृष्ठ और इतिहास। सुराही उड़ेल कर गट्-गट् पानी का गिलास, अन्त में ठन-ठन गिलास। लगातार सिगरेट। हरिध्वनि देते हुए जो सब शववाही, पालकी-कहारों की तरह दौड़ जाते हैं, वे लोग इतने कर्कश भाव से त्राहि-त्राहि क्यों मचाते हैं? दरअसल वे लोग भी डरते हैं, मृत्यु-भय। चिल्ला-चिल्ला कर भय को अपने से दूर भगाना चाहते हैं। आज मुझे मालूम है कि राह चलती टैक्सी खामखाह हार्न क्यों बजाती रहती है। क्यों रात का चौकीदार फुटपाथ पर जोर-जार से लाठी ठोंकता है। डरपोक ईर्ष्यातुर वह अकेले जग रहा है न, इसलिए सबको उठा देना चाहता है।

यह सब मुझे अब मालूम पड़ गया है। निस्तब्ध रात को सुई तक गिरने की आवाज भी सुन पाता हूँ। आज मुखहीन हूँ, पर किसी किसी दिन परिचित लोगों की भीड़ आ जुटती है। विश्वरहस्य किसी बक्स के ढक्कन की तरह ढँका रहता है। एकमात्र मनुष्य को ही वे बीच बीच मे ढक्कन खोल कर थोड़ा-बहुत दिखाते हैं। अर्जुन को जिस तरह दिखाया था। सिर्फ अर्जुन ही नहीं, विश्वरूप किसी न किसी समय प्रत्यक्ष होकर, प्रत्येक मनुष्य के निकट ही व्यक्त होता रहता है।

पागल हो जाऊँगा। पर पागल हो जाना भी तो उतना आसान नहीं है। जो लोग हो जाते हैं, उनसे आज मैं ईर्ष्या करता हूँ। वे लोग अस्तित्व के अन्यतर एक छाया मे सुस्ता रहे हैं, स्थान-काल की सीमा रेखा के बाहर।

जानती हो माँ! उस स्थान-काल की सापेक्षिकता की दिशा को मैं भी समझता हूँ। उस छोटी उम्र से ही सब कुछ समझने लगा था। जैसे, उस दिन उस स्टेशन पर खड़े होकर, जब अचानक देखा, एक कालखण्ड एक स्थान ने किस झटके के साथ एक व्यक्ति को किस तरह बदल दिया, बाबा को और तरह का हो जाते देखा। मन ही मन मे वचन देता हूँ, उनके नाटको को छापूगा।

* * *

माँ, यहाँ एक स्वीकारोक्ति करने दो, एक स्खालन! वरना यह सब लिखने का कोई अर्थ ही नही रह जायेगा। बाबा के उन नाटकों को मैंने नहीं छापा, यद्यपि छाप सकता था। उनके पुराने बक्से मे पाडुलिपियाँ रहती थीं। उसके बाद क्रमागत जगह बदलने, मकान बदलने के हुडकम्प मे न जाने कहाँ खो गयीं। मैंने भी उन्हें खो जाने दिया, क्योंकि मैं जान गया था न, कि वह सब कुछ नही बेकार के नाटक हैं। व्यर्थ।

उस दिन निश्चय ही मेरे अगोचर में कोई हँसा होगा। आज स्वय भी नष्ट हो चला मैं इस बात को अच्छी तरह समझ पा रहा हूँ कि, मेरा वह अहकार कितना भयानक था। मानो किसी न खजाने का रुपया नष्ट कर दिया हो। किसी अभिभावक ने मानो अपने पास पालित किसी और की सन्तान की हत्या कर दी हो। दत्तवाक्य हत्या का वह पापबोध, अशरीरी ककाल की भाँति मेरा अनुसरण करता रहता है,

"अरे ओ! मेरी रचनायें! कहाँ रखी हैं? कहाँ फेंक दी हैं?" कभी व्याकुल, कभी निर्मम प्रश्नों की बौछारें, कनपटियों पर चोट करने लगती हैं। माँ, मैं दर्द के मारे अपने दोनों कान बन्द कर लेता हूँ। फिर भी अट्टहास सुन पाता हूँ। प्रश्नकर्ता के साथ समय का स्वर एकाकार हो गया है। समय ने बाबा के बगल मे मुझे ला खड़ा किया है। उनकी पाण्डुलिपियों के साथ ही अपनी रचनाओं को भी सिकुड़ कर उड़ जाते देख कर सिहर जाता हूँ। समान रूप से नापा हुआ न्याय उस दिन क्या मुझे पता था कि मैं भी एक परित्यक्त हो जाऊँगा, जीर्ण, पुराना? अमोघ देव समय का अर्थ हुआ मृत्यु मृत्यु से भरा हुआ एक भगाड़!

* * *

उसी दिन रात को दरवाजे पर लगातार दस्तक देने के बाद, अवाक सी तुम्हें मैंने क्या कहा था? हाँफते-हाँफते क्या सिर्फ एक ही बात कह पाया था, "लौट आया हूँ" तुमने क्या विश्वास-अविश्वास से आँखें रगड़ते हुए देखा था? दबे स्वर में एक बार पूछा था, "वे कहाँ हैं?" झाँककर देखा भी था।

"बाबा नही आये हैं। मैं अकेला हूँ।"

और उसी समय वह विस्फोट हुआ था। सीधी खड़ी तुम, अचानक आगे बढ़ आयी और फिर तड़-तड़ कई चाँटें मेरे गाल पर पड़े। "अकेले आया है! लौट आया है? अकेला ही अकेला!" तुम्हारा स्वर असहज हो उठा था। उसके बाद यह क्या? तुम्हें दोनों हाथों से मुंह ढाँपे पागल की तरह फफक-फफक कर रोते देखता हूँ।

थप्पड़ के निशान गाल पर उभर आये थे। मुझे तकलीफ हो रही थी। गलत बात नहीं हो रही थी। तुम रो रही थी। मैं नहीं रो रहा था। सहर्ष, सर्वाङ्ग से बल्कि उसी दिन जान पाया था, मैं, मैं ही हूँ। मैं दादा अथवा किसी और का डुप्लीकेट नहीं हूँ।

दूसरे दिन सुबह एक दौड़ मे वहाँ पहुँच गया, जहाँ कलम फेंक आया था। वहाँ से सुधीर मामा के घर। नही, अभी ठीक नही हुए हैं। बिस्तर पर ही केवल उठकर बैठते हैं। फिर भी मुंह मे कोई बात नही। एक तरह से उन्हें घसीटता हुआ अपने घर ले आया।

आँगन मे खड़े होकर सुधीर मामा काँप रहे हैं, मैं बड़े उत्साह के साथ नीम के पत्ते तोड़ रहा हूँ। सब कुछ ठीक पहले जैसा लग रहा है। सब कुछ ठीक पहले जैसा हो जायेगा। बीच के ये कुछ दिन बेकार के थे, यह जानकर निश्चिन्त हो गया हूँ।

पर ठीक पहले जैसा तो हुआ नहीं। माँ! तुम बात नही कर पा रही थी। सुधीर मामा भी नहीं। वे लौट गये, हालाँकि दूसरे दिन दोबारा लौटे भी। गये-आये, आये-गये। पर आना-जाना पहले जैसा बात-बात मे भर नहीं उठ पा रहा था।

वह फिर भी अच्छा था। बात न करना। पर एक दिन शायद महीने भर बाद, क्योंकि तब सारा दिन आकाश मे बादल छाये रहते। शाम को अचानक बिजली चमक उठती। तुमने पता नही सुधीर मामा से क्या कहा कि, उनका चेहरा बिल्कुल राख जैसा हो गया। कैसे तो अप्रस्तुत, आहत, अचानक मानो किसी चीज से ठोकर खा गये हों ? तुमने कहा था कि उनकी नज़रों मे कोई बात अपने आप आ गयी ?

देख रहा हूँ, सिर्फ उनका चेहरा ही नही, स्वर भी विवर्ण हो जाता है। वे बोल रहे हैं, "क्या कह रही हो तुम आनू ? इस बार भी ? फिर से ?" दुर्बोध्य, संक्षिप्त, सांकेतिक कोई भाषा।

तुम आगन मे बैठी हुई। दोनो घुटनो के बीच तुम्हारा मुह बिल्कुल डूबा हुआ। उसी मुह को धीरे-धीरे उठाया। कैसे तो अस्थिर-से हो रह हैं सुधीर मामा। उनका बुखार वापस आ गया क्या ? तीखे पर अस्वाभाविक स्वर म बोल पड़े, "यह मैं सोच भी नही सकता हूँ। छि छि छि !"

विनम्र-सी तुम अचानक फुफकार उठी। देख पा रहा हूँ तुम्हारी दोनो आँखें, उस समय सिर्फ आख ही नही रह गई थी, खत्म हो आये तेल का कोई दिया दप्-दप् जल रहा हो, पूरी शक्ति के साथ सारे सकोच को झाड कर फेंकते हुए तुम अचानक एक चीख हो गयी, "तुम्हे तुम्हे क्या ?"

"मुझे ?" सिर झुका हुआ है, सुधीर मामा का। मानो शर्म एक टुकड़ा कपडा हो, जिसे तुमने अभी-अभी उनकी ओर फेंका है। वही कपडा उनके चेहरे से लिपट गया हो। अपने चेहरे से उसे हटाते हुए बोले, 'मुझे ? नही मुझे क्या ? कुछ नही। पर सोच कर देखो, यह क्या उसके प्रति विश्वासघातकता नही है ?" सुधीर मामा ने यहाँ दादा का नाम लिया। दुबले-पतले व्यक्ति हाँफ रहे हैं। उन्हें इतना ज्यादा गुस्साते पहले कभी नहीं देखा। सतत शान्त आखें मानो छोटी हो गयी हैं। गुस्साने पर आदमी का चेहरा कैसा बदसूरत-सा हो जाता है। गुस्सा, बहुत बदसूरत चीज है। माँ ! तुम भी क्या तुरन्त नाराज हो उठोगी ? तुम्हारे पाँव पडता हूँ माँ ! तुम्हारी दोनों आँखें दप से जल कर ही भरी-भरी सी राख जैसी क्यों उड़ने लगी ? दो बिल्लियाँ मौका पाकर ठीक इसी समय मकान के पिछवाड़े झगडने लगी हैं— आह !

अभी कुछ देर पहले ही तुम्हें अपराधिन-सी, शर्मीली-सी देख रहा था। वही शर्म ही क्या इतनी बेपरवाह हो गयी ? इतनी जल्दी हो जाता है क्या ?

"विश्वास-अविश्वास की बात कहाँ उठ रही है ? कह तो रही हूँ, एक भूल, एक जबरदस्ती "

"सिर्फ जबरदस्ती ?" सुधीर मामा कैसी तो आवाज मे बोल रहे हैं। दुबले-पतले गुस्सैल। अपने हाथ की लाठी की तरह ही सूखे हुए, मानों एक मृत डाल हों। सुधीर मामा देखने में इतने बुरे हैं, यह उस दिन पहली बार महसूस किया।

"तुम्हे थोड़ा अलग किस्म का समझा था आनू !" स्वर मे जब नाराजगी थी, उसी समय देखो आँखे कितनी करुण, मानों वहाँ बादल घुमड़ने लगे हो, उनके क्रोध को छीनते हुए तुमने कहा था, "मैं जो हूँ, वही हूँ।"

सुधीर मामा फिर रुके नही।

कुछ समझ मे नही आया। कुछ समझ नही पा रहा था, इसलिए दोनो मे से किसी की तरफ नहीं हो पा रहा था।

कुएँ पर जाकर, मुह म पानी के छीटे दे आयी। अब तुम काफी शान्त हो। पर उस दिन ही तुम्हारा मुह बहुत उतरा हुआ देखा। तुम्हारी आँख के नीचे कालापन था, कितनी दुबला गयी हो माँ! तुम्हारे गले की हड्डी इतनी उठी हुई तो कभी न थी।

थोड़ा डगमगा रहो थी। आँगन के एक किनारे चटाई लपेट कर रखी हुई थी। उसे वही बिछाकर तुम लेट गयी। मुह थोड़ा-सा खुला हुआ। क्या बात ? हाफने क्यो लगी हो ? तुम्हारे आँख के कोने मे एक बूँद खून का नहीं है। मैं दौड़ता हुआ आकर धप् से तुम्हारे पास बैठ गया। तुम अलसाई-सी पड़ी हो, फिर भी कौतूहल मुझे खाये जा रहा है। उसे दबा कर नहीं रख पा रहा हूँ।

"तू आज चावल धो ला सकेगा ?" तुमने धीरे-धीरे पूछा।

"ले आऊँगा माँ।"

"मैं ही उबाल दूगा। थोडी-सी झपकी ले लू। आलू का चोखा, कद्दू का चोखा और बैगन का भर्ता। खा नही सकेगा ?"

बोला, "खूब ब।"

"अच्छे बेटे हो। होगा तो दाल भी बना लूगी।" तुमने हाथ बढ़ाकर मेरा माथा छुआ। ठण्डा, पर कोमल, विश्वस्त हाथ झुकते हुए बोलता हूँ, "सुधीर मामा क्या बोल रहे थे माँ ? क्या तो विश्वास-फिश्वास "

"तूने सुना है ?"

"यही तो था।"

क्या तो काँप उठे। तुम या तुम्हारे होठ ? आख मूदते हुए तुम कहती हो, "मेरी तबीयत ठीक नही है न, इसलिए बाल रहे थे।'

तबीयत खराब होने की बात तो ठीक है,- पर किसी की बीमारी के साथ विश्वास तोडने-फोडने का क्या सम्पर्क है, यही सोच रहा था।

"मैं बहुत बीमार हूँ, और ज्यादा बीमार हो जाऊँगी। दिन भर गला जलता है। खट्टी डकार, मिचली आती है, सिर चकराता है "

"तुम थोड़ा-सा सो जाओ माँ। मैं तुरन्त चावल धो लाता हूँ।"

"ठहर, थोड़ा साफ कर दूँ।" तुम उठकर बैठ गयी। उस समय भी तुम जोर-जोर से साँस खीच रही थी। आँख झुकाकर, पुरानी बातो का सूत्र पकडते हुए कहती हो, "विश्वास ! विश्वास तोडने-फोडने की बात कहाँ से आती है ? तेरे

सुधीर मामा ऐसी ही बातें करते हैं। शुरू से दब्बू। कभी कुछ नहीं कहा। किया। आज, अब मुह खुल रहा है।"

किसे सुना रही थी तुम ? मुझे या खुद को ?

"वे लोग सबके सब नासमझ ईर्ष्यालु हैं जैसे तेरे बाबा हैं, वैसे ही सुधीर मामा भी।"

तुम बोल रही हो न, इसलिए मेरी भी हिम्मत बढ रही है। पूछने का साहस कर पा रहा हूँ, ' पर सुधीर मामा अचानक न जाने कैसे हो गए हैं ? तुरत चले गए। नीम का रस भी नही पिया।"

"थोडा पानी ला दे।" ला दिया। पीकर तुमने होठ पोछे। फिर अचानक, "पता है ! तरा दादा वापस आ रहा है।"

क्या क्या क्या ? मेरे कान मेरे ही थे या किसी और के ? तुम्हारी आवाज, तुम्हारी आवाज तुम्हारी या फिर किसी और की ? क्या सुन रहा हूँ ? क्या सुन रहा हूँ मैं ? असम्भव-सी एक घोषणा कर रही हो तुम। पर अगर कर ही रही हो माँ ! तो तुम्हारी पलकें झुकी हुई क्या हैं ?

"आ रहा है।" तुमने एक बार और कहा। इस बार स्वर में विश्वास था।

"जायेगा तो नही न !"

' ऐसा ही हो, प्रार्थना करो।" ऊपर की ओर देखते हुए मानों तुमने प्रार्थना की कि, "अब न जाए, कि अच्छी तरह आ सके।"

और कुछ सुनने की जरूरत नही है न ! मैं एक कूद के साथ, दौड़कर कमरे मे गया, दादा की तस्वीर के सामने। मानो उस फ्रेम के अन्दर रुकना नही चाह रहा हो। सम्भव हो तो तुरन्त निकल आए। आने पर मैं क्या करूँगा ठीक समझ नहीं पा रहा हूँ। गले से लिपट जाऊँगा, जैसे पहले लिपटता था। पाव पर वजन डालकर, थोडा मुह उठाकर उसके कान पर मुह रखकर यह भी कहूँगा कि, "फिर वे लोग क्यों कहते थे कि तू स्वर्ग में है। तू भी देवता बन गया है ?"

"कौन कहता था ? माँ और सुधीर मामा" दादा के होठ हिलते हुए से मानों सुन पा रहा हूँ। "वे लोग गलत कहते थे।"

"कहने दे।" दबे स्वर, दबी खुशी में उसे भरोसा देने के-लिए बोल ही बैठा, "दादा ! तू देवता था, फिर से आदमी बनेगा।"

और फिर सारा दिन, उन्मना-सा बीत जाने के बाद, उस दिन रात को ? तुम थोडी देर पहले ही सो चुकी हो। मैं बिस्तर पर कूद कर पहले तो क्या करू, क्या करूँ क्या बोलूं, सोचता रहा। फिर अचानक तुम्हारे सीने मे अपना मुह गडा दिया, क्योंकि तुम्हारी तबियत ठीक नहीं है। अब और कोई दूसरी बात नहीं। दादा बाबा-मामा, किसी के बारे में कोई आलोचना नही। तुम्हें लिपटा कर, तुमसे

लिपट कर फिर भी, एक ही प्रश्न कर पाया। अद्भुत था वह प्रश्न, "माँ! दादा आने पर तुम्हारे किस ओर सोयेगा ?"

*　　　　*　　　　*

बाबा का पत्र आया। अचानक एक दिन एक पोस्टकार्ड—मेरे नाम से। मेरे नाम से लिखा हुआ वह पहला पत्र था। घुमा फिरा कर, उलट-पुलट कर न जाने कितनी बार पढ गया। तुम्हे भी दिया था। तुमने एक बार सरसरी तौर पर देखा, फिर पास में रख दिया। तारीख के ऊपर लिखा था, "जबलपुर"। वह कितनी दूर है, नक्शे में मिलाकर देख लिया। तुम्हें भी दिखाया, "देखो यहाँ है।"

पत्र मे विशेष कुछ नही लिखा था। नया कोई नाटक-वाटक लिख रहे हैं कि नहीं, उस बारे मे भी कुछ नही। सिर्फ कैसा हूँ, तुम्हारी तबीयत कैसी है। अच्छी तरह से रहना। आदमी बनना होगा, यही सब। नर्मदा नदी, मार्बेल रॉक के बारे में भी शायद एक लाइन लिखा था। स्मृति जिस तरह अलग-अलग कटोरे में बहुत कुछ रखती है, उसी तरह बहुत कुछ सिरप-बर्फ-पानी की तरह एक ही गिलास में डालकर कभी-कभी मिलाती रहती है।

पत्र में कोई पता नही दिया हुआ था। उत्तर देना चाहूँ तो कहाँ दूँ। उसका कोई उल्लेख नहीं था। इसी से मन में थोड़ा चुभ रहा था। पहला पत्र मिला, पर उसका भी उत्तर देने का कोई उपाय नही, बाबा भी पता नहीं कैसे हैं ? फिर से उन्हें थोड़ा दूर-दूर, पराया-पराया-सा महसूस करता हूँ। अपना समाचार भेजकर ही सन्तुष्ट हैं। हम लोग कैसे हैं, यह सब जानने की जरूरत नही। मान लो मैं मर जाऊँ, दादा जिस तरह चला गया, उस तरह चला जाऊँ! उन्हें तो बताया नहीं जा सकेगा। जानने के लिये वे भी कोई खास उत्सुक नही हैं—निश्चिन्त, निर्विकार। मन ही मन में सोच लेता हूँ, तुम ही ठीक हो। उनके बारे में जो कुछ कहा करती थी वही एकदम खाँटी बात थी—बाबा निष्ठुर, भयकर निष्ठुर और स्वार्थपर हैं।

*　　　　*　　　　*

इस बीच बूढ़ा डाक्टर एक दिन आकर तुम्हें देख गया। तुम्हारी छाती-पेट पर टकोर देते हुए बोला, "अभी भी काफी देर है।" जब तुम फर्श पर निढाल-सी लेटी रहती, उस समय उसी पेट पर कान रखकर मैं क्या तो सुनने की कोशिश करता। सुनता रहता। दादा अब तस्वीर में नहीं, वहीं है।

मोहल्ले की बूढ़ी दायी एक दिन खबर ले गयी। कमर पर हाथ धर कर, थोड़ी तिरछी होकर उसने तिरछी नजर से तुम्हें देखा। मिस्सी मिली थूक फेंकते हुए कहा। "दुर्र! अभी तो सिर्फ दो-अढ़ाई महीना हुआ है। अभी से कातर हो गयी! तू बिआयेगी कैसे?"

मैंने उसका पीछा किया। तालाब के किनारे उसे रोक कर पूछा, "कितनी देर है ?"

भौंहे सिकोड कर उसने पूछा, "किस बात की ?"

"याने-याने," मैं ठीक से बोल नही पा रहा था, हाँफ रहा था।

"तेरी माँ कब बिआयेगी, यही जानना चाहता है न ?" बुढिया का बात करने का तरीका कितना फूहड है! बिल्कुल मिस्सी मिले थूक की तरह। बुढ़िया ने कहा, "अभी पक्का सात या छह साढे छह महीने बाकी हैं।"

"लगता है, तुम्हें हाथ देखना आता है।"

"क्या, विश्वास नही हो रहा ? मुझे क्या मालूम नहीं है ? कितनी बेटियों बहुओं को इस हाथ से पार किया है। तुझे भी किसने खलास किया था रे ? मैंने ही!" अपने सीने पर उँगली देकर बुढिया कहती रही, "भगियाँ तो पेट में धर कर ही खलास करती हैं। तुम लोगो को खलास करती हूँ मैं।"

गुस्से के मारे मैं अधा हुआ जा रहा था। गन्दी गालियाँ सुनकर मैं बौखला रहा था। जोर से सिर हिलाता हुआ बोला, "नही, उतनी देर नहीं है, कभी नही है।"

"रहा नहीं जा रहा न! देखूं-देखूं! बच्चे का मुह देखू तो एक बार!" बुढिया बोली, "वट्टा! मरा क्यो जा रहा! जो पात्र आ रहा है। आते ही तेरे हिस्से पर अपना हिस्सा बैठायेगा।"

मैंने मन ही मन म उसे एक गन्दी-सी गाली दी। उसे पता नहीं है कि दादा आ रहा है। मारूंगा, उसे मैं मारूंगा। एक ढेला उठा लेता हूँ।

हाथ उठाकर बुढिया ने अपना सिर बचाया। जाते-जाते बोल गयी, "तेरी मा का कच्चा-पक्का दिन है। रोज उसे परवल का पत्ता खाने को देना। समझा ? थू थू।"

पक्का सात या छह साढे छह महीना। याने पूजा-वूजा बीतने के बाद वही जाडे मे ? बदन थोडा सिहर उठा। दादा गया था, वह भी तो उसी जाडे म ? जाडे में गया, जाडे मे ही आ रहा है। दादा ही लौट रहा है, इस बारे मे मैं तब बिल्कुल नि सशय हो गया।

जिस दिन तुम्हारी तबीयत ज्यादा खराब हो जाती है डाक्टरखाने से दवा ले आता हूँ। गागुलीबाडी की बुआ जी उस दिन आकर खाना बना जाती। आँचल से ढँक कर अचार ले आती। तुम खाती, मैं खाता, तुम ज्यादा खाती, बार-बार, ज्यादा-ज्यादा। सब आते हैं, पर सुधीर मामा कहाँ हैं ? उन्होंने आना बन्द क्यों कर दिया ?

बाबा चले गये। पर वहाँ, सब कुछ ठीक पहले जैसा तो नही हुआ ? तबीयत थोडी सम्हलते ही तुम कथरी लेकर बैठ जाती। मेरे लिए नही, यह मैं समझ गया

था। बात नही होती थी, फिर भी तुम्हारे पास बैठता था। बार बार वही एक ही बात, "दादा आ रहा है माँ ?"

गर्दन हिलाकर "हाँ" कहती तुम।

"याने फिर से हम लोग तीन जन ?"

"तीनजन ?" हामी भरते हुए तुमने कहा था "पर वह न हा-सा होकर आ रहा है।" कथरी दिखाकर "इसमे सोयेगा।"

"नन्हा-सा होकर ?"

"नन्हा-सा।"

अपने को दबाकर रख नही पा रहा था, मैं। मन मे जो विचार आया था, उसी का परखना चाहा। तुम्हारे मुह से सुनना चाहा। न हा-सा याने मैं होऊँगा"

"दादा।" मेरे गाल पर हल्के-से टकोरते हुए तुमने कहा, "और इस बार वह होगा तेरा छोटा भाई।"

एकदम उलट जायेगा। समझ रहा हूँ, फिर भी मानो विश्वास नही हो रहा था। वही, फिर भी थोडा दूसरी तरह का। क्या मजा ? जी भर कर शोध। पिछली बार का शोध लिया जायेगा। प्यार ठीक ही करूँगा। पर मान लो जब शैतानी करेगा, या फिर पढना नही चाहेगा, उस समय, उस समय क्या उसे मैं डाटूगा ? या फिर मौका मिलते ही कस्स से थोडा कान ऐंठना ? भेंसे रो पडेगा। ऐसी की तैसी। पर अगर वह भी पलटकर मुझ पर हमला करे और फिर आँखे तरेरते हुए या फिर छलछलाते हुए बोले, "एई! मैं पिछले जनम म तेरा दादा नही था।" माँ ओ माँ! तुमसे कहता हूँ, क्या होन से क्या हा सकता है, तुम थाडा समझा दो न।

पर सुधीर मामा न आना बन्द क्यो कर दिया। दादा ही आ रहा है, शायद यह वे समझ नही पाये हो। लगता है, उन्हे बताना जरूरी है, बहुत जरूरी है। फिर रथ का मेला भी तो नजदीक आता जा रहा है। अकेले कैसे जाऊँगा, इसलिए भी एक दिन, बहुत दिनो के बाद दौडकर वह माठ पार कर गया।

पहचाना हुआ मकान, जाना हुआ कमरा। पर क्या देखा उस दिन ? उस समय की भाषा को इस समय व्यक्त करना कठिन है। जो कुछ समझ पाया था, उस समय की समझ से समझाना, वह तो और भी कठिन है। पर एक बात थोड़ा बहुत समझ गया था। उस दिन लौटकर तुमसे कुछ भी नहीं बताया था। शायद कभी भी नही बताया।

सुधीर मामा लेटे हुए नहीं थे। बैठे हुए हैं एक आराम कुर्सी मे। थोड़ी दूर से ही देख पाया था, देखकर आश्वस्त हो गया था, क्योंकि रास्ते भर जल्दी-जल्दी पाँव चलाते हुए आने के बावजूद, मन मे थोड़ी हिचकिचाहट भी थी। बहुत दिनों बाद उनके यहाँ गया था न, इसलिये, क्या देखूगा जाकर ? फिर से बीमार हैं ? लेटे हुए हैं, एक हाथ से सिर दबाये ? उनके सिरहाने किसी ने पानी नही रखा ? या फिर, हे भगवान ! अगर ठीक हुए तो क्या बोलेंगे ? मुझे देखकर क्या चेहरा खुशी से भर जायेगा ? हाथ बढ़ाकर बोलेंगे, "आओ, इतने दिन आये क्यो नहीं ?" मैं उस समय जो कुछ बोलना था, उसे भी मन ही मन में तय कर लिया, "आप भी तो इतने दिन से गये नहीं।" उसके बाद ? पास खीचते हुए अगर घ्राण लेने लग गये, उस समय कैसा तो लगेगा। मुझे गुदगुदी लगती है। अगर पढाई के बारे मे पूछा सोचता-सोचता मैं वहाँ पहुँच गया।

आरामकुर्सी मे सुधीर मामा, आहट पाते ही गर्दन घुमा कर, हल्के-से एक बार हंसते हैं, पर कहा नहीं तो, 'आओ ?" मैं पाँवपोश पर पैर रगड रहा हूं। न बुलाने पर भी थोड़ा-थोड़ा आगे बढ़ रहा हूँ। कोई कारण नहीं है, फिर भी थोड़ा अटपटा-सा लग रहा है। सुधीर मामा ही हैं तो ? महीन लुगी और जालीदार गंजी बदन पर। पहले कभी उन्हें इस वेश में नहीं देखा था। हाथ में एक शीशा और छोटी-सी एक कँघी। देखा सुधीर मामा ने हल्की-सी मूछ भी रखी है। उसी को तराश रहे हैं क्या ? उनके बाल हल्के ही हैं, फिर भी टेरी काटे हुए। अपने कमरे में जो आदमी पुस्तक में मुह गड़ाये पड़ा रहता था, वह कहाँ चला गया ? थोड़ी बाबू गिरी की महक मिल रही है। एक बार सोचा। नहीं असल में सुधीर मामा खास हँस नहीं रहे, न बात ही कर रहे हैं, शायद इसी से सब कुछ अलग-थलग अजीब सा लग रहा होगा। मैं और भी उदास-बिखरे बाल, और भी कमजोर हुए सुधीर मामा को देखना चाहा था। बगल में हालांकि एक पुस्तक रखी हुई

थी। बंधी हुई मोटी। पर मेरे नजदीक जाते ही वे चौंक कर उसे जल्दी से ढंप देते हैं। पता नहीं क्या था उस पुस्तक मे? जानने के लिए मैं उतावला हो उठा।

अभी थोड़ा और अवाक होना बाकी था। दूसरी तरफ घूमकर मैंने देखा, सुधीर मामा के बायीं तरफ के कान के पास के जो बाल कच्चे-पक्के थे, वे इस समय बिलकुल काले हैं। बाल भी छँटे हुए। सब कुछ दूसरी तरह का। उन्होंने जरूर बाल कटवाये होंगे। बये पक्षी उड़ गये होंगे। पहले तुमने कितनी बार हँस कर कहा है, बया का घोंसला है उस सिर पर।

(वे लोग चुन-चुन कर क्या खाते हैं सुधीर दा! तुम्हारा मगज? खोपड़ी तो विद्या-बुद्धि से ठसाठस भरा पड़ा है)

इसलिए क्या और तरह का लग रहा है? सफेद बाल काले कैसे हो गये? एक शीशी देख पा रहा हूँ। पास मे एक ब्रश भी है। ब्रश की कूची में काला रंग लगा हुआ है। काले बालों का रहस्य उसी में है या नहीं, जानने के लिए, ज्योंही झुका हूँ, सुधीर मामा ने त्योंही उसे जल्दी से उठा लिया। आज उनके हर काम मे जल्दबाजी थी। सब कुछ छिपाना चाह रहे थे। अपने को भी। पीछे घूमकर मैं भी एक कंघी से अपने बालों को खींचता हूँ। ज्यादा कंघी फेरने से वे डाँटा करते थे, उस दिन शायद समझ ही गया था कि, आज नहीं डाँटेंगे, इसलिए खींच खींच कर कंघी चला रहा हूँ। दुख रहा था। डाँटा नही, देखकर तकलीफ हो रही थीं।

रैक पर रखी किताबों के पास ही एक डब्बा था। एक लाल रंग के तेल की शीशी थी। अनचीन्हा-सा गन्ध। पहचाना हुआ था सिर्फ बिस्कुट का वह डब्बा। खोलकर मुह में डाल लेता हूँ। कुड़मुड़ की आवाज सुनकर उन्होंने सिर्फ मेरी ओर देखा, कहा कुछ नहीं। क्या उन्होंने हमेशा की तरह कहा था, "खा रहा है? और एक खा ले?" नहीं, वह भी नहीं।

बोल नही रहे हैं, कुछ भी नही बोल रहे हैं, हालांकि वैसे ही सहज-स्वाभाविक हैं। कैसा हूँ, कैसा था, कौन कैसे हैं, माना रोज ही आता हूँ। आज भी आया हूँ, बोध म कुछ नही है, कुछ नही हुआ है। पर बाहर थोड़ा सा शब्द होते ही चौंक जा रहे हैं। एक बार भीतर के बरांडे से निकलकर झांक कर देखा भी, पर कुछ बोल नही रहे हैं। तो क्या वे किसी का इंतजार कर रहे हैं? किसे आना है? कौन आ सकता है? उनका तो कोई खास दोस्त भी नही है। कुछ बोल नही रहे हैं। पलंग पर ताश बिखरे पड़े हैं। किसके हैं? उस ब्रुश और शीशी को इस समय कहाँ छिपा दिया है? उसमे क्या है देखना है। कुछ भी नही बोल रहे हैं। मैं एक बिस्कुट और खाऊँगा — मैं चला जाऊँगा।

दादा ही आ रहा है, यह सुधीर मामा को बताया नही जा सका।

* * *

मैंने तुम्हें बताया नहीं, बताना चाहा नही क्योंकि बताने लायक कुछ था

नही। फिर भी माँ, पकड़ा गया। किस तरह, उसकी कोई विस्तृत व्याख्या आज भी नही दे सकता हूँ। आज की बातचीत के सिवा भी हम दोनो के बीच एक तरह का साकेतिक, कूट-गूढ भावो के आदान-प्रदान की अलग भाषा थी। इशारे मे भी बातें होती थी ? छिपाया कुछ भी नही जा सकता था। छिपा रहता भी नही था कुछ। मेरा चेहरा देखकर ही जिस तरह तुम बता देती थी कि उस दिन स्कूल में क्या हुआ। डाट खाई या नही। यहाँ तक कि एक दिन बाहर से मीठी सुपारी खाकर आने पर पकड़ा गया। किस तरह पकड़ाया उसकी कोई सटीक व्याख्या आज भी नही दे सकूगा। आपस की बातो के सिवा भी हम दोनो मे वैसा तो एक साकेतिक, कूट गूढ किसी भावो के आदान-प्रदान की अलग भाषा थी। आँखो-आँखो मे बातें होती थीं ? एक लम्बे अरसे तक मेरी काफी उम्र हो जाने तक, यह अलौकिक शक्ति तुममें थी, मानो मन्त्रबल हो। आज जिस तरह मैं किसी भी कठिन से कठिन पुस्तक को पढ़कर समझ लेता हूँ, उसी तरह उस समय बेटे का चेहरा देखते ही पढ लेना, तुम्हारे लिए असाध्य नही था। मन ही मन मे गर्वित होता, गर्व के साथ एक प्रकार का भय भी मन मे समाया हुआ था—मेरी माँ जादू जानती है, यहाँ तक कि कब किस मैदान से घूम कर आ रहा हूँ, वह भी पाव का धूल देखकर बता देती हैं।

पाठोद्धार करने की तुम्हारी वह क्षमता न जाने कहाँ कब लुप्त हो गयी। उम्र की अधिकता ने छीन लिया क्या ? या कि मेरी उम्र ने ही उसे छीन लिया था ? बडा होकर खुद हो चालाकी पूवक, आहिस्ता-आहिस्ता, तुम्हारे लिए अनजाने एक लिपि मे अपनी आँखों की दृष्टि और चेहरे की रेखाओ को लिख लिया था। उस समय ऊपर के होठ पर मूछें उभर आयी थी। ठुड्डी पर हल्की हल्की दाढी, आखें धसी हुई कसा हुआ जवडा, और गाल पर ढेर सारे मुहासे। शुरू शुरू मे नये पाठ के आरम्भ होने के सूत्रपात से, मैं स्वय भी भयातुर हो उठा। जिस दिन स्वर भग हुआ, वह भी मानों कोई अपराध हो ! मेरा ही अपराध ! सोचा था, अदरख और नमक के गरम पानी से गरारे करने से ठीक हो जायेगा। धत् ! कुछ भी नहीं हुआ। तुमने कहा, डरने की कोई बात नही। वय सन्धि काल मे सबका ऐसा ही होता है। बडे होने की पहली कीमत क्या कण्ठस्वर है ? जो कुछ अपने साथ लेकर पैदा हुआ हूँ, उनमे से बहुत कुछ जिस तरह खोता चला जाता है, मसलन दूध के दाँत ! उसी तरह स्वर, आकृति के साथ प्रकृति, प्रकृति के साथ विभिन्न प्रकार के विश्वास, भरोसा, प्रेम इत्यादि सब कुछ अपना रूप बदल लेता है।

खैर, ये सारी बातें तो आयेंगी ढेर सारे ज्वार-भाटा खेल जाने के बाद। उस दिन लेकिन तुमने मुझे पकड लिया।

"क्या कहा रे ?'

"कौन ?'

'तेरे सुधीर मामा ने ?'

'कुछ नही।'

"बात नही की ?"

बिल्कुल कुछ नहीं बोले होने से तो कोई बात ही नही थी, पर सुधीर मामा ने बात तो की थी। गडबडी तो सारी वही थी। पर वह कोई बातचीत करने लायक बातें भी नही थी। जैसे, इतने दिन आये क्यो नही। वे क्यो नही आ पाये। पहले की तरह अगर एक भी बात की होती, पहले की तरह कोई एक भी चीज देख पाता, तो उस दिन मेरे अन्दर ही अन्दर भाषाहीन जो सारी बाते उथलने लगी थी, वे नही उथलतीं। जो कुछ मैं स्वय ही नही समझ सका, उसे कैसे समझा सकता हूँ ?

पर तुम खुरच-खुरच कर सब कुछ निकाले जा रही थी।

"कुछ खाकर आया है वहा से ?"

बोला, "बिस्कुट !" होठो के किनारे चूरा उस समय भी लगा हुआ था।

"खुद दिया था ?"

निरुत्तर रहा। तुमने तब सुई धागा और कथरी को परे रख दिया, "क्या कर रहा था ?"

"करगे क्या ? किताब पढ रहे थे।"

सुधीर मामा की आदतो में पहचाने हुए उस आदत को सुनकर तुमने मानो थोडी चैन की साँस लेकर, सहज होकर बैठ गयी। "यही तो उसका स्वभाव है। एकदम किताबी कीडा। तुम्हे कुछ पढकर सुनाया ?"

"नही तो ?"

थोडा अवाक्-सी तुम, सौन्-सुलफ का हिसाब न मिलने पर जिस तरह बेचैन-सी हो जाती हो, उसी तरह थोडी बेचैन हो उठी। सुई दोबारा उठाते हुए कहा, "लगता है कोई कठिन पुस्तक होगी। तुम्हे सुनान लायक नही होगी !"

माँ ! उस दिन मैंने पुस्तक वाली पूरी बात तुम्ह नही बताई थी। सुधीर मामा थोडी देर के लिए बाहर गये थे। ठीक उसी समय मैंने झुक कर उस पुस्तक के पन्ने उलट दिये थे। कठिन थी कि नही मालूम नही, पर वे तस्वीरे ! एक के बाद एक तस्वीरे ! मा, उस समय भी नहाते समय मैं गमछा नही बाधे रहता और तुम अगर अचानक कुछ धाने कुएँ के पास आ जाती, तो मैं फौरन कुएँ की आड में चला जाता था। हाथ हिला-हिलाकर अस्थिर होता हुआ कहता रहता, "चली जाओ, हट जाओ तुम," या फिर तालाब के किनारे तुम्हे देखकर ! माँ, तुम्ह देखकर भी फौरन नजर फेर लेता था।

वे सारी तस्वीरे, एक के बाद एक तस्वीरें ! लगता है मानो मेरी आँखों को जलाकर जुबान तक सुखा डालेंगी ! तुम्हारे पेट मे पडी हुई आडी तिरछी रेखाओं तक की ओर मैं ताक नही पाता था, अचीन्हे वे सारी लाज-लज्जा विहीन शक्लें और भगिमाएँ ! सहजत भाषाहीन, व्याख्याहीन, बोधशक्ति तो मूक प्राणियो मे भी होती है, मैं भी तो उसी आयु का प्राणी हूँ, फिर भी अनुभव करता हूँ कि वे सारी भगिमाएँ अश्लील हैं, उन लोगो की दृष्टि कम से कम तुम्हारे जैसी तो नही ही है। कान मे

हाथ देकर महसूसता हूँ, गर्म ! थूक कितना घना ! छि ! मुझे बुखार हो गया क्या ? वह तो अच्छा हुआ कि कुछ सेकेण्ड की वह बात रही। सुधीर मामा लौट आये थे। उससे पहले ही मैंने पुस्तक बन्द कर दी थी। बिल्कुल पहले की तरह रख दिया था। पर बिल्कुल पहले जैसा रह नहीं गया सिर्फ मैं।

तो इसका मतलब यह हुआ कि सुधीर मामा अकेले मे ये सब किताबें पढते हैं ? पढते नही हैं देखते हैं याने पहले नही देखते थे, अब देखने लगे हैं।

उस दिन अगर तुम एक के बाद एक प्रश्नों की बौछारें न छोडकर सिर्फ हाथ बढाकर मेरा छूकर देखती, मेरा शरीर गर्म पातीं। घुस-घुसा बुखार सा था मुझे। फिर इसके सिवा बालों को काला करने वाली शीशी। ब्रुश में लगा हुआ काला रंग। कालापन सुधीर मामा के तमाम चेहरे पर ! नाक पर फैला हुआ पाउडर, सुगंधित तेल। माँ ! मेरा जी कैसा-कैसा तो करने लगा। उल्टी-सी आने लगी थी।

तुम्हें बता नही पाता था। कारण तो बताया न तुम्हें ! एक ऐसा अबोध ज्ञान जो मुझे साफ-साफ बताए दे रहा था कि वह सब तुम्हे बताया नही जा सकता। बताना ठीक न होगा। तुम्हें तकलीफ होगी। बल्कि उस तकलीफ को मैं अकेले ही झेलूँ। कोई भी लडका किसी उम्र मे हमारे समय मे अपनी माँ से वह सब बातें नहीं कर पाता था। यहाँ तक कि बडे होकर भी नहीं। पर देखो, किस तरह फटाफट तुम्हें सब कुछ लिख दिया ? वह वस्तु, जो सख्त, शुष्क, सिरहनदार था, जिसका नाम बाद मे ज्ञात हुआ, यौनताबोध था। सज्ञान में मेरा पहला यौनताबोध !

(स्तोत्र स्तोत्रपाठ करना तुम्हारा बन्द नहीं हुआ था। हाथ का बुना हुआ आसन बिछाकर नित्य बैठती थी। मैं समझ नही पाता था कि जब तबीयत ठीक नहीं है, तब भी तुम क्यो रोज भोर में नहाकर ठण्ड लगाती थी ! फिर यह सब तो तुम्हारा दादा के जाने के बाद से ही शुरू हुआ था। वही दादा ही जब वापस लौट कर आ रहा है, तो फिर यह सब क्यो ? या फिर अपनी बाद की उम्र की एक कठोर सन्देह की बात तुम्हें बताऊँ ? तुम्हें पता था कि दादा सचमुच का नहीं आ रहा है सिर्फ मेरा मन बहलाया था, वह सब कहकर। इसलिए दादा के कल्याण के लिए मन्त्रपाठ के साथ साथ तुम्हारा कथरी नाने का भी काम चल रहा था।)

मैंने कुछ भी नहीं बताया। पर कानाफूसी मे बातें दबी कहाँ रही। मैंने तो मान लो निर्बोध सहानुभूति के कारण तय कर लिया था कि तकलीफ को ही झेलूँगा। अकेले कष्ट झेलना अथवा कष्ट के कारण अकेला पड जाने का अभ्यास मुझमें उसी समय से जड जमाने लगा था। अनेक वेदनाएँ होती हैं, जो किसी से कही नहीं जा सकती। कहने से भी कोई लाभ नही होता है, इसलिए सोचकर देखा है, मेरे चरित्र में जहाँ एक ओर फैल जाने का बहिर्मुखी भाव है, वहीं दूसरी ओर सिमट कर अन्तर्मुखी हो जाना भी है। जैसे कोई शीशा, एक ओर प्रकाशक काँच, पर दूसरी ओर पारे से लिपा हुआ अव्यक्त।

मैं सुधीर मामा के यहाँ जाया करता था जाता रहा। वैसा तो एक अप्रमोह

मुझे वहाँ बार-बार खींच ले जाता। नहीं उस कमरे के अन्दर नहीं, बाहर सडक पर। आसपास कहीं। खडा होता देखता, जितना जो कुछ देखा जा सकता था। एक व्यक्ति किस तरह अलग हो गया, मुझे, हम लोगों के मकान को छोडकर? और उसे क्या मिला? अथवा वह क्या अलग था भी? जो आदमी लुंगी पहनता है वैसी सब तस्वीरों वाली किताब रखता है, बालों को रंगता है, फुनगे निकालता है, वह क्या कोई भाड था, या फिर बहुरूपिया? जो गुनगुना कर गाता है, भजन नहीं और कोई गीत! वह सब क्या उसे पहले से आता था?

मकान के अन्दर जा सकता था, पर गया नही। उस दिन उन्होंने मुझे डाँटा थोडे ही था! पर वह न डाँटना ही, भावलेशहीन निर्विकार चेहरा ही मानों कुछ भी न हुआ हो, बाधक होकर खडा हो गया। प्यार नहीं करते हैं, मुझे अब और प्यार नही करते हैं। प्यार नहीं करते हैं, उसका भी कोई स्पष्ट प्रमाण नही था। पर प्रमाण न रहना ही मानों उनकी गलती थी, जो मुझे अन्दर तक हिलाती रही। मानो अपने खेल की टीम का खिलाडी किसी दूसरी टीम मे चला गया हो। विश्वास तोडने-थोडने की बात उसी दिन सुधीर मामा ने कही थी न? उनका इस तरह बदल जाना भी तो एक तरह का विश्वासघात ही था? अभी तो कुछ दिन पहले भी बाबा जब यहाँ आए थे, माँ! तुम और बाबा एक तरफ हो गए थे। मैं और सुधीर मामा दूसरी तरफ। मनो आमने सामने दो टीम हो। पर अब क्या हुआ? मेरे दल मे काई भी नहो रहा। क्या करूँ? मैं अकेला पड गया हूँ, या कि मन ही मन में बाबा के दल में चला जा रहा हूँ। यद्यपि तुम भी हो, पर तुम तो लडकी हा! जो मित्र बन सके, साथी बन सके लडको का, कम से कम उस तरह का एक लडका तो चाहिए ही।

वह जो उस आदमी को देख रहा हूँ, जो सुधीर मामा थे, पर सुधीर मामा तो वे नही हैं! इतने दिनो तक दूसरा रूप था। कहाँ दबा हुआ था यह रूप? अब और स्थिर स्थित दुखी तो नही लगते हैं! खासे फूर्तिवान, उतने दुबले भी नही दिखते हैं, और न ही असहाय। बल्कि अच्छे खासे सख्त मजबूत एक व्यक्ति! कोई प्रमाण नहीं है, फिर भी एक वैसी धारणा गढ ली थी। मैं मानो तभी से कोई बूढ़ा कुम्हार रहा होऊ, जा मिट्टी से मूर्ति गढता है, मनपसन्द न होने पर तोडता है। मैं भी उसी तरह एक मूर्ति तोडकर, बिल्कुल मिट्टी का लादा बनाकर, एक दूसरी मूर्ति गढ ले रहा था। पर उसकी असली सूरत छुपी हुई थी। उसने मुझे ठगा था। उस बहु-रूपिये ने।

पर बताया न, कुछ भी तुम्हारी आँखो से नही छुपता था। तुम क्या कहानी की वही जादूगरनी थी, जो हाथ के स्फटिक पत्थर पर नजर टिकाये सब कुछ बता देती थी। किसी तीसरी आँख से तुम्हे पता चल जाता था कि कहाँ मैं मौका पाते ही दौड जाता हूँ। बदन मे पसीना, पाँव मे धूल लिए तुरन्त वहाँ से भागता हुआ लौट रहा हूँ।

५

पर उस दिन माँ, तुमने बेकार मे ही मेरा झोटा पकडा। तुम्हारी तो तबीयत खराब थी न ! जम्हाई ले रही थी और बार-बार लेट जा रही थीं। कुएं के पास जाकर बार-बार आँख में पानी का छीटा दे रही थी। अचानक तुम्हारा उतना नाराज हो जाना उचित नही था। सोच भी नही सकता कि मेरे बदन पर तुम हाथ उठा रही हो। अवाक होकर ताकता रहा, इसलिए ठीक समय पर सिर नही हटा पाया था। अपनी मुट्ठी मे बाल पकड कर बार-बार झिझोड रही हो। बेर तोडते समय जिस तरह हम लोग डाल हिलाते हैं, ठीक उसी तरह। दर्द के मारे मैं घबरा गया। शरीर की यन्त्रणा तो थी ही, एक असम्भव घटना के कारण मन मे भी यन्त्रणा थी। गोद मे बैठा कर झिनुक से जब दूध पिलाते समय मारती मारा क्या नही है या फिर न सोने पर लोरी सुनाना बन्द करके जब एक चाँटा जडती

जरूर जडा होगा वह सब तो मुझे याद नही है। पर होश सम्हालने पर कभी तुम्हारे हाथ का हल्का चाँटा भी खाया हूँ, ख्याल नही पडता। स्टेशन से जिस रात को अचानक लौट आया था, उस रात का थप्पड अलग किस्म का था। वह तो कोई मार नही थी, अपने कल्पनातीत आह्लाद के कारण फुलझडी हो जाना था।

(स्वय हो जो बैठे-बैठे किस्मत के हाथो मार खाता रहता है, वह तो स्वत ही मिट्टी मे समाया हुआ है अथवा उठ गया है उपासना से, वह भला दूसरे को क्या मारेगा।)

इसलिए उस दिन चोट महसूस हुई थी। देखे जा रहा था, सुधीर मामा की तरह तुम भी अलग हो गयी क्या ? जिस मा को जानता हूँ, तुम क्या वह माँ नही हो। सब कुछ क्या बदल जा रहा है। सब कोई ?

"क्यो जाता है ? क्यो जाता है वहा तू ? उसने भी क्या तुम पर जादू किया है ?" दाँत से होंठ दबाये, होंठो के किनारे झाग।

"जाता तो नही हूँ सिर्फ खडा रहता हूँ। सडक पर।"

"जाता नही है ? सिर्फ खडा रहता है ? इसका मतलब उसने तुम पर भी जादू किया है।" बालो का गुच्छा छोडकर तुमने हाँफते हुए कहा।

'कौन ? सुधीर मामा ?'

तुम अपलक देखे जा रही थी। क्लान्त-सी। थोडा-थोडा निढाल-सा भी होती जा रही थी। "नही, वही-वही बदमाश औरत। तूने उसे जरूर देखा होगा।"

बोला, "मैंने किसी को नही देखा है माँ।"

अफवाहें तुम्हारे भी कानो में आयी थी। क्लास मे भी इन सब बातो की चर्चा होती। उस समय सारी बातें समझ मे नही आतीं। हम लोगो में माणिक जो कद मे हम लोगों से बडा था, एक दिन वह खूब रस ले लेकर अपने हमजोलियो से बोल रहा था। कोई-कोई तिरछी नजर से मेरी ओर देखे जा रहा था। एक ने मुझे ठेलते हुए कहा, "क्यों रे ! तेरे सुधीर मामा तुम्हारे यहाँ रोज आते हैं तो ? आते नहीं हैं ?" बोला था, "नहीं।" उसने कहा, "एकदम बन्द है ?" सिर हिलाया।

तब "हूँ, हूँ आयेगा कहाँ से ? घोघे ने पाँव काट लिया है न !" घोघा क्या चीज है, समझ नही पाया था । सोचा था, सुधीर मामा के पाँव मे घोघे-वोघे के काटने का कोई निशान तो नही दिखा !

इधर-उधर की चर्चा तुम्हारे भी कान मे आयी थी । "देखा नही है ? तूने उसे देखा नही है ?"

"नहीं तो ?"

"पर माँ, तुमसे मैंने झूठ बोला था । उसे मैंने देखा था ।"

मुँह में झूठ था । पर मेरी आँखो मे उस समय एक झाडी से दूसरी झाडी मे एक के बाद एक खरगोश दौडे जा रहे थे । उसी तरह की एक के बाद एक तस्वीर । सुधीर मामा बाहर निकल रहे हैं । मैं पेड की आड मे झट् से छिप जाता हूँ । दरवाजा खोलने के बाद दो कदम आगे आकर कौन पीछे हट गया ? इसे तो पहले कभी नही देखा ! जो बुढिया उनके यहाँ पानी भरती है, चूल्हा ठीक कर देती है, उसे मैं पहचानता हूँ । काली दासी है वह । धुधला-सा जिसे देख पाया, वह कोई दूसरी थी । माँ से रग थोडा दबा हुआ, पर उम्र माँ जितनी ही, बल्कि थोडी छोटी ही होगी । हर कोई इस समय बदल रहा है, पर कालीदासी के लिए इतना ज्यादा अपना हुलिया बदल लेना क्या सभव होगा ? शायद नही ।

"घटिया औरत, बदमाश औरत ।" आँगन मे ही बैठ कर मुह ढाँपे तुमने कहा था । "लोगो की बाते अब सुनी नही जाती ।"

मैं पेड की आड से निकल कर न जाने कब सडक से होता हुआ, एक खुली खिडकी के पास आकर खडा हो गया था । खिडकी से झाँककर देखता हूँ—यही तो है वह । दरवाजा खोलकर बाहर निकल आयी थी जो, वही न ? काफी चौडे काले पाड की साडी, भरे भरे गाल वाला चेहरा, आँखें सूजी-सूजी सी । पर आँख क्या किसी की इतनी काली होती हैं ! क्या इसी से कहते हैं, काजल अजी आँखें ! पर काजल तो बच्चे आँजते हैं । मुझसे भी छोटे बच्चे । वे लोग याने लडकियाँ भी भला काजल पहनती हैं ! मैंने तो कम से कम देखा नही है । पर चेहरा मिला कर देखने पर देखा जायेगा कि गोलगाल मुह के नीचे की ओर क्रमश लम्बोतरा-सा वह मुह किसकी तरह है ? ठीक-ठीक अब याद आया, ताश मे देखे हुए बेगम की तरह । "सुना है दखन मे काले मेंढक की तरह, एकदम हाथी के बच्चे की तरह ।" माँ कौन बोल रहा है यह सब, तुम ? अगर तुम बोल रही हो, तो मैं कहाँ हूँ ? कहाँ हूँ इस समय ? किसकी आवाज सुन रहा हूँ ? पर वह देखो वह तुरन्त बुला रही है । दाँत के बीच मे काला फीता दबाए, एक हाथ मे किस तरह दो उगलियाँ घुमा-घुमाकर, सीने के सामने लाकर चोटी बाँध रही है, दूसरे हाथ से इशारे से मुझे बुला रही है । मैं जा रहा हूँ । बुलाया क्यो है ? तू कौन है ? वहाँ क्यों खडा है ? सुधीर मामा घर पर नही हैं ? वे मेरे मामा हैं । तेरे मामा ? यान तेरी माँ उनकी बहन है ? बहन या दीदी ? कैसी बहन लगती है रे ? यह तो मालूम नही । वे मेरे मामा हैं, सुधीर मामा ।

आपको तो पहले कभी नही देखा। मैं ? मैं आयी हूँ, यही रहती हूँ। रह रही हूँ। पर कालीदासी ? हटा दिया उसे कब का ! दो जन तो कुल प्राणी हैं। ऐसा भी क्या काम रहता है ? मैं अकेली ही कर सकती हूँ, फु मेरी कलाई। हाथ कितने मोटे हैं। देखा है तुमने ! तेरे सुधीर मामा भी मरोड नही सकते हैं, बल्कि एक दिन उनका ही हाथ पट से मुचक गया था। पर इतनी बातें क्या पूछ रहा है ? देखने मे तो भीगी बिल्ली की तरह हो ! पर छोकरे ! तू तो बडा चालाक है। तेरे पेट में इतनी शैतानी है। मेरे पेट से बात निकलवाना चाहता है ! भाग, अब भाग यहा से, नहीं ठहर। दौड कर उस दूकान से मेरे लिए सुर्ती ला दे। यह ले दो आना। हाथ फैला, मैं यही से फेंक रही हूँ। हाथ फैला न ! "हर समय कहते हैं मुह मे पान का बीडा ठसा रहता है, पर है विधवा !" माँ ! थोडा रुको न रुको न ! दो तरह की आवाज से मेरा दिमाग गडबडा रहा है। देख नही रही हो, सुर्ती-पत्ता लेकर भागता हुआ आकर मैं हाँफ रहा हूँ ! खिडकी ऊँची हैं, वहाँ से देगा कैसे रे ? ओ छोकरे ! तू भीतर आ जा। आ न ! ओ माँ ! कुन इतने ही ? बुद्धू देखकर तुझे ठग लिया है ! तुझे जसा समझा था, तू वैसा नही निकला। एकदम होशियार नही है, दूकानदार भी ठग निकला। उसे आने दो शिकायत करूँगी। "उसे-उसे कहा क्यो ?" बात सुनो, फिर भला क्या कहूँगी। क्यो सुधीर दा ! दृदा ? दादा मेरा कब से हुआ ? वो मेरा दादा-बादा नही लगता है। तो फिर ? बताने से तू समझ पायेगा ? उसका रिश्ते मे एक ममेरा भाई है। वह मेरे जेठ लगते हैं। "आपकी शादी हो चुकी है ?" माँग सूनी देखकर पूछा है ? इस उम्र मे देख रही हूँ, तू बहुत कुछ जान चुका है। शादी ? हुई थी। यानि मैं विधवा हूँ। 'छी छी, इस उम्र मे जिसे गोबर गणेश समझती रही, वह गणेश नहीं चूहा है। गणेश का वाहन चूहा। वह भी पूस का बना हुआ"—कौन यह सब बाल रहा है, मैं समझ नही पा रहा हूँ। सुनना नही चाह रहा हूँ। देख नहीं रही हो, उसने मेरे दोनो गाल अभी अभी दबाया है ? नाक का सिरा भी ! इस ! दबाने से अभी भी दूध निकलता है। सुर्ती-पत्ता ला दिया, तुझे क्या दूँ, बता तो ! बताशा खायेगा ? बताशा ? और उसके साथ ठण्डा पानी या फिर नीबू का शरबत ? कितनी ठण्ड है। अभी कोई बात मत करो। एक ठण्डी लहर, सीने के भीतर उतरती जा रही है। "आपको क्या कहकर बुलाऊँ ?" मामी ! मामी बोल सकता है ! नहीं मामी नहीं, फिर कोई कुछ बोल बैठेगा, बल्कि मासी कहकर बुलाया कर। और जब जब मेरा सुर्ती-पत्ता खत्म हो जाया करे, ला दिया करना, रोज आना।

तुम्हें मैंने यह सब कुछ भी नहीं बताया था। उस दिन न जाने किस तरह मुह से झूठ निकल गया। बताया नहीं भी था और एक तरह से बताया भी था। रात को सोते समय, मन ही मन में या फिर नीद में, सपने। उसे मैंने देखा है, देखा है। उसके हाथ का बना हुआ शरबत पिया है। इसके बाद भी और दो दिनों तक छागे-

मोटी फरमाइश मैं पूरी करता रहा। कभी सुर्ती, कभी बाल बाँधने वाला फीता। सब कुछ तुम्हें उस तरह बताकर हल्का हो गया हूँ। तुम सुन भले ही नहीं पायी हो। पर न बताता तो उस दिन सोता कैसे ?

और तुम ? पहले मेरे बाल मुट्ठी में पकडा, फिर ठसाठस चाँटा जड दिया। पर मैं रोया तो नहीं, बल्कि तुम खुद ही मुझे पूछताछ करते समय, आवाज मे कडुवाहट घोलते न जाने क्या-क्या कहते हुए रो पडी थी। तुम्हारी आँखो से ऐसा पानी बह चला कि, रुकने का नाम ही न ले। बहुत आश्चर्य हुआ माँ, मेरी ओर से तुम ही रोने बैठ गयी ?

"बदमाश औरत, खराब औरत," आँगन मे ही बैठाकर, मुह ढपे, तुम यह सब बोल रही हो। तुम शायद सोच रही थी कि वह सब स्वगत भाषण था, कोई सुन नही रहा होगा, पर सुन रहा है। उस दिन समझा नही था, पर बाद मे एक दिन उसके सामने सब कुछ साफ हो गया था।

"इस तरह वह बदला ले रहा है, इस तरह।" सिर झुकाए, स्वर और भी मध्यम। तुम बोले जा रही थीं। "भले ही मोहल्ले के बाहर है, फिर भी इतना साहस की तबीयत खराब के बहाने किसे लाया, और लाकर उसे रख दिया ?" तुम फुफकार रही थीं। "रख देना" शब्द पर उतने भद्दे ढग से जोर देने का भी क्या मतलब हुआ ?

"हार गयी हूँ।" एकदम शान्त मे तुमने बहुत आहिस्ता से कहा, "मैं हार गयी हूँ। वह सह नही पाया, इसलिए बदला लेने के लिए मुझे हरा दिया।"

उस दिन समझ नहीं पाया था, उस दिन अगर समझ पाता तो तुम्हें तुरन्त कह देता, "माँ! हार तुम नही गयी हो, सुधीर मामा गए हैं। सुर्ती मे आसक्त किसी को लाना पडा उसमे सोलह आने जीत तो तुम्हारी ही है!"

चढा है ? वही होगा, वरना चारो ओर से सर-सर की आवाज क्यो आ रही। एक साथ झिंगुर बोलने लगे हैं। *बाहर नही मेरे मस्तिष्क के भीतर।* *नारियल के पेड* की छाया एक बहुत बडे कछुवे की तरह, मुह हिलाती चली आ रही है। तुम्हें ढँक देगी, उठो जल्दी उठो। नही तो मैं भी ठीक तुम्हारे पास ही मूर्च्छित होकर गिर पड़ूगा।

कितनी देर बाद, कितनी देर बाद देखा कि तुम आँख खोल रही हो। एक हाथ, धीरे से मेरे माथे के ऊपर आ गया। आँख के इशारे से तुम मुझे उठो के लिए कह रही हो। आँख के इशारे से ही समझ कर तुम्हें गिलास में पानी देता हूँ। तुम्हारे हाथ काँप रहे हैं, पर गटागट एक ही साँस मे पूरा गिलास खाली कर देती हो।

"वहाँ स्वण सिंदूर है, हमाम-दिस्ता भी है। कूट कर ला सकोगे ?" जागने के बाद वही तुम्हारा पहला कठ स्वर था। नही सकूगा भला ! तुम लौट आयी, वरना न जाने कहाँ *डूब गयी थी।* अक्सर पोखर मे जिस तरह डुबकी लगा जाती हो। काफी देर तक सिर नही निकालती। पानी के नीचे मैं तुम्हारे गोल होकर फूली हुई साडी देखता रहता। उठ नही रही हो, अभी भी उठ नही रही हो। क्यो ! डुबकी लगाकर क्या तुम नीचे से मिट्टी निकाल लाना चाहती हो ? पर नीचे तो ढेर सारे लतागुल्म हैं। उनके बीच अगर कही फँस गयी ता तुम निकल नही सकोगी। हाथ में तुम्हारे ही सूखे कपडे थामे, मैं थर थर काँप रहा हूँ।

वही डुबकी लगाकर, डराने वाला मजा पाने वाला खेल क्या आज भी तुमने खेला ! खेला है अगर, तो चला ठीक है। इस समय तुम थकी हुई हो। तुम्हारे मुह से झाग निकल रहे हैं। धौंकनी की तरह साँस ले रही हा, पर लौट तो आयी हो न ! तुम लौट आ सकती हो, और मैं थोडा-सा स्वण सिंदूर कूट कर नही ला सकता ! घर के काम में मैं अनाडी हो सही, पर मुसीबतो ने मुझे काम करना सिखा दिया है।

मैं बडा हो रहा हूँ। इस बार के रथ के मेले मे मैं एक दिन के लिये भी नही गया।

पर बडा हो जाने के बाद भी भोदू की तरह कभी कभार बात करने की मेरी *आदत गयी* नही। अभी उसी दिन तो *खल से स्वणसिंदूर चाट-चाट कर खाने के* बाद, मैंने फुसफुसाते हुए तुमसे पूछा था, "माँ, वे लोग तुम पर चढ़ क्यों गये थे ? ज्यादा आ रहा है इस लिए उन्हे जलन हो रही है ? सह नहीं पा रहे हैं ?"

तुम हँसी थी। अभी भी याद है हँसी पीली, मधुर और मृत्यु की तरह ही थी। खल को हटाते हुए कहा था, "मै शायद अब ज्यादा दिन जिन्दा नही रहूँगी, वह आयेगा नहीं, शायद मुझी को अपने साथ ले जाये।"

तुम्हारे मुह पर हाथ रखते हुए मैंने कहा है, "चुप, चुप। चुप करो।" और हाथ हटाते हुए तुमने कहा, "पर मरा मन केवल यही कह रहा है। वरना

पर तुम मुझे क्रमश डराती गयी। आज लगता है, वैसा तुम जानबूझकर करती थी। कभी-कभी ऐसा समय आता है, जब जीवित रहना किसी बुद्बुद की तरह लगता है। एक फूक मारो और फटास! इससे किसी का कुछ भी नही बनता बिगडता है, क्योंकि बुदबुद का कोई मतलब नही होता है, बल्कि उस अर्थहीनता को टिकाये रखना ही यातनादायक है। मानो मेहनत से हल किए गए किसी सवाल को मास्टर साहब ने काटकर वहाँ एक बडा-सा शून्य बैठा दिया हो।

तुम्हारे चेहरे पर भी एक बारीक-सी सफेद पर्त पडने लगी थी। ठीक सूखे हुए घाव पर नयी त्वचा के अस्तर पडने जैसा। गौर किया, तुम ठीक से खा नहीं रही हो। गांगुलीबाडी की बुआ ने एक दिन कहा, 'तुम्हें इतनी अरुचि हुई है दवा मगा कर खाओ!' दवा मँगवायी भी जाती, पर तुम खाती नही।

पडोस की बुआ जी की तरह मुझे इस बात का विश्वास ही नहीं हुआ था कि तुम पर भूत-प्रेत चढा होगा ओझा वोझा बुलाना बिल्कुल वाहियात है। फिर झाडने फूकने के जो किस्से सुने हैं, वह सब तुमसे बरदाश्त नही होगा। फिर भी एक दिन मंत्र-पढा पानी ला दिया। बुआ जी के कहे अनुसार एक दिन बडे बाडी के मंदिर के पीछे जाकर एक टुकडा पत्थर बाँध आया। उधर के झाड झखाड मे साँप-वाप, सियार, जिसकी आँखें चिक चिक करती हैं, धूत-धूसर नेवले और फिर इधर-उधर छिपे हुए कटीले पौधे। नगे पाँव जाने से पाँव खुजलाते हैं, जलते हैं। फिर भी तुम्हारे लिए मैं कहाँ नही जा सकता हूँ! पडोस की बुआ जी ने सिखा दिया, मनौती मानने के लिए। किस तरह वह सब करते हैं, क्या पता? माथे पर हाथ रखकर देवता से यह कहना, 'माँ को ठीक कर दो?'' यही न! शुद्ध ढग से न करने पर पाप होगा। होता है तो होने दो। होने पर तो मेरा ही होगा न! पर मा पहले जैसी ही बन जाये।

मन्नत मान कर लौटा हूँ। शाम अभी पूरी तरह उतरी नही है। कमरे मे घुसते ही यह क्या? बिखरे बाल, डयोढी के ऊपर तुम बिल्कुल चित लेटी हुई। अस्त व्यस्त कपडे। माँ! तुम्हारी छाती भी ऊपर नीचे नहीं हो रही थी!

एक चीख के साथ मैं भी उठग-सा तुम्हारी छाती के ऊपर आ गया हूँ। फूँक मार रहा हूँ, पानी का छींटा दे रहा हूँ। यह सब करने के लिए किसने कह दिया, मालूम नही। शायद फिट पडने पर यही सब किया जाता है। कही देखा होगा। भूत

पड़ा है ? वही होगा, वरना चारो ओर से सर-सर की आवाज़ क्यो आ रही। एक साथ झिंगुर बोलने लगे हैं। बाहर नही मेरे मस्तिष्क के भीतर। नारियल के पेड की छाया एक बहुत बडे कछुवे की तरह, मुह हिलाती चली आ रही है। तुम्हें ढँक देगी, उठो जल्दी उठो। नही तो मैं भी ठीक तुम्हारे पास ही मूर्च्छित होकर गिर पड़ूगा।

कितनी देर बाद, कितनी दर बाद देखा कि तुम आँख खोल रही हो। एक हाथ, धीरे से मेरे माथे के ऊपर आ गया। आँख के इशारे से तुम मुझे उठने के लिए कह रही हो। आँख के इशारे से ही समझ कर तुम्हें गिलास में पानी देता हूँ। तुम्हारे हाथ काँप रहे हैं, पर गटागट एक ही साँस मे पूरा गिलास खाली कर देती हो।

"वहाँ स्वण सिंदूर है, हमाम-दिस्ता भी है।, कूट कर ला सकोगे ?" जागने के बाद वही तुम्हारा पहला कठ स्वर था। नही सकूगा भला ! तुम लौट आयी, वरना न जाने कहाँ डूब गयी थी। अक्सर पोखर मे जिस तरह डुबकी लगा जाती हो। काफी देर तक सिर नही निकालती। पानी के नीचे मैं तुम्हारे गोल हारर फूली हुई साडी देखता रहता। उठ नही रही हो, अभी भी उठ नहीं रही हो। क्यो ! डुबकी लगाकर क्या तुम नीचे से मिट्टी निकाल लाना चाहती हो ? पर नीचे तो ढेर सारे लतागुल्म हैं। उनके बीच अगर कही फँस गयी तो तुम निकल नहीं सकोगी। हाथ में तुम्हारे ही सूखे कपडे थामे, मैं थर-थर काँप रहा हूँ।

वही डुबकी लगाकर, डराने वाला मजा पाने वाला खेल क्या आज भी तुमने खेला ! खेला है अगर, तो चला ठीक है। इस समय तुम थकी हुई हो। तुम्हारे मुह से झाग निकल रहे हैं। धौकनी की तरह साँस ले रही हो, पर लौट तो आयी हो न ! तुम लौट आ सकती हो, और मैं थोडा-सा स्वण सिंदूर कूट कर नही ला सकता ! घर के काम में मैं अनाडी हो सही, पर मुसीबतो ने मुझे काम करना सिखा दिया है।

मैं बडा हो रहा हूँ। इस बार के रथ के मेले मे मैं एक दिन के लिये भी नही गया।

पर बडा हो जाने के बाद भी भादू की तरह कभी कभार बात करने की मेरी आदत गयी नही। अभी उसी दिन तो खल से स्वणसिन्दूर चाट-चाट कर खाते के बाद, मैंने फुसफुसाते हुए तुमसे पूछा था, "माँ, वे लोग तुम पर चढ़ क्यो गये थे ? दादा आ रहा है इस लिए उन्हे जलन हो रही है ? सह नही पा रहे हैं ?"

तुम हसी थी। अभी भी याद है हँसी पीली, मधुर और मृत्यु की तरह ही थी। खल को हटाते हुए कहा था, "मै शायद अब ज्यादा दिन जिन्दा नहीं रहूँगी, वह आयेगा नही, शायद मुझी को अपने साथ ले जाये।"

तुम्हारे मुह पर हाथ रखते हुए मैंने कहा है, "चुप, चुप। चुप करो।" और हाथ हटाते हुए तुमने कहा, "पर मेरा मन केवल यही कह रहा है। वरना

पहले तो कभी ऐसा नही हुआ है ! शरीर इतना दुर्बल, इस तरह मूर्छा आ जाना, डरे रहना ।"

"तुम चुप क्यो नही होती हो ? अगर तुम तुरत चुप नही होती हो, और बेकार की बदसगुनी बातें करती ही रही, तो मैं खाऊँगा नहीं, सोऊँगा नहीं । इतनी रात को भी बरगद के पेड के नीचे जाकर खडा हो जाऊँगा, उसके बाद भूत-चुडैल सब उतर आये, आने दो न । मैं परवाह नही करता । तुम तो चाहती भी यही हो न ?"

बैठे बैठे ही हाथो के बल घिसटते हुए तुम मेरे पास सरक आयीं । "सच कह रही हूँ, बिल्कुल सच । सुन न छिपकली की आवाज । बता न क्या होगा अगर मैं मर जाऊँ ।"

याने तुम दादा के पास ही जाना चाहती हो ! मैं तुम्हारा कोई भी नहीं ! अभिमान से फूले हुए होठो से, भरी हुई आखो से यह सब कहा नही, लिखा जा रहा था । मेरी पीठ पर तुमने हाथ रखा है, पर मुझे नही चाहिए, तुम्हारा यह लाड दुलार । हटा लो, हटा लो तुरत ।

हाथ फेरते हुए फिर भी तुम, या तो मुझे दुख देने के लिए, अथवा अपना दुख ढँकने के लिए कहे जा रही थी, "अगर मर ही जाऊँ, भगवान अगर मुझे अपने पास बुला ही लें, तो उससे तेरा क्या बिगडेगा

(नहीं मेरा कुछ भी नहीं बिगडेगा),

तेरे बाबा आकर तुझे ले जायेंगे, लिखना-पढना सीखोगे । बडे होवोगे, तेरा एक प्यारी सी दुल्हन होगी ।

(दुल्हन ! तुम्हारे बिना ! पर अपनी जैसी ही एक प्यारी-सी किसी और की तस्वीर तुम उस समय से ही बनाती जा रही थी । एक अलग किस्म की अनुभूति, उस समय तक कोई कामना नही, सिफ सुन्दर-सी एक कामना),

तब मुझे भूल जायेगा न ?

"भूल गये तो भूल गये,' तब तक तुम सम्हल चुकी हो, और हल्के स्वर में हँसना शुरू कर दिया है । मजाक करके शरीर-मन की व्यथा के ऊपर चादर तान देना, "भूल गये तो भूल गये, मैं उस समय कहा रहूँगी ! देखने तो आऊगी नहीं ! देखू, जरा चेहरा तो देखू ! ऊहूँ थोडी बहुत भी याद नही आऊँगी ? कभी-कभी, बीच-बीच में ! क्या याद करोगे कि, मेरी एक मा थी । वही तेरी कहानी की किताब की दूसरी रानी, गोयठे वाली, जिसने सबको सिर्फ दुख ही दिया । सब को तग किया । तुझे, तेरे बाबा को—सुधीर मामा को और खुद भी जलती-कुढती एक दिन खत्म हो गयी ।

(झूठ-झूठ । मुझे कुछ भी याद नही आयेगा ।)

"याद आयेगा रे, याद आयेगा। कि तुम्हें ठीक से खाने को नही देती थी, क्यों ? तेरे बाल मुट्ठी मे पकड़कर तुझे मारती थी, क्यो ? जाडे के दिनो मे भी जबरदस्ती तुझे पकड़कर नहला देती थी। मछली का काटा ठीक से निकाल नही देती थी। इसलिए गले मे कांटे चुभ जाते थे। और भी क्या-क्या, सब इसी समय बता दे रे! पता चल जाये, उस समय तो मालूम नही पड़ सकेगा न ! एई ! आँख पोछ जल्दी। तूने देखा नही, तेरे बाबा किस तरह गटगट चलते-फिरते हैं और उ ही का बेटा होकर तू इस तरह की रोनी सूरत बनाये रहता है ! छि देख रही हूँ, तुझे दुल्हन बनाकर तेरी शादी करनी होगी। नाक मे नथ, सिर पर घूघट, देखू-देखू कैसे दीखोगे।

(खबरदार कह देता हूँ, अपना आँचल मेरे सिर पर डालकर, घूघट बनाने मत आना)।

उछल कर दूर हट गया हूँ। दरवाजे पर पीठ टिकाये। उँगली उठाकर तुम्हें धमका रहा हूँ रो कहाँ रहा हूँ ! झूठी कहीं की ! तुम्हारी आँखो की शरारत को अपनी आँखो मे थोडा-सा भर कर मैं भी दखा हँस पडा हूँ। दख नही रही हो ?

सुर्ती का पत्ता हाथ मे लेकर वह बोली, "यही आखिरी बार है। तुझे अब शायद मेरे लिए दुकानो मे आना-जाना न पडे।"

"छोड देंगी ?"

खिलखिला कर हँसती हुई वह बोली, "इस जगह का ही छोड जाऊँगी। यहाँ टिकना दूभर हो रहा है।"

इसका मतलब वह कह रही है, वह चली जायेगी। इसका मतलब यह कि फिर से सब कुछ पहले जैसा हो जायेगा ? मेरे अन्दर कुछ घुमडने लगा था। थोडे आह्लाद से, तो थोडी उदासी से भी। तुम्हे ठीक-ठीक समझा नहीं सकूगा। पर अब बहुत अच्छी तरह समझता हूँ। मैं खुश जरूर हुआ था कि, मन ही मन जो मैं चाहता था कि, 'चली जाये वह चली जाये।' तुम्हारी वह आडी तिरछी बातो का छीटा भरे भी मन के एक हिस्से मे आ लगा था। इसलिए "उसके चले जाने से सुधीर मामा फिर स हम लोगा के हो जायेंगे।" इस आशा के ऊपर मन बार-बार उड कर जा बैठता था। कबूतर जिस तरह बार बार छप्पर और आले के अन्दर घुस कर अण्डे के ऊपर जा बैठती है।

(यह भी उसी उम्र की एक और बेवकूफी है। प्रकृति मे जो कुछ देखता हूँ, जीवन मे भी उसी की प्रार्थना करना, धुन्ध छँटने के बाद जिस तरह पेड-पौधे फिर से स्पष्ट हो जात हैं, बाढ का पानी उतर जाने के बाद, खेत-मैदान-आगन फिर वैसे के वैसा ही हो उठता है। बरसात थमी नहीं कि आकाश फिर से धूप से झिलमिला उठा। उसी तरह सब कुछ उसी तरह, कोई घटना घट कर, थोडा-बहुत इधर-उधर

वह बोल रही थी, "उस पेड पर वे लोग चढ कर बैठे रहते हैं। नहानघर की ओर ताकझाक करते रहते हैं, सोच कर देख, उस समय मेरे बदन पर कपडे नही होते हैं। परसों जात्रा सुनने गये थे, वे थोडा आगे वढ गये थे। पता नही कौन लोग मेरा पीछा करने लगे। धप्-धप्-धप् पाँव की आहट ! बाप रे ! सोचते ही छाती धडकने लगती है। सुना-सुना कर सीटी बजाना, और क्या चटकीले गाने ! घर के पास आते न आते, जो होगा सो होगा सोचकर दौडने लगी। साकल चढा दिया था, फिर भी थर-थर काँपती रही। वे लोग खिडकी के बाहर से जाते-जाते, लबडुरो का दल, जोर-जोर से बाल गया, "तुमने उस पर टोटका किया है। तुम्हारा हिस्सा हमे भी चाहिए तू इन सब फूहड बातो का मतलब समझता है ?"

हल्के से जूडे को उसने अचानक खोल दिया। घमौरी नही थी, फिर भी पता नही क्यो गले के ठीक नीचे खुजलाती रही ! "तेरे सुधीर मामा को सारी बातें बतायी। वे कैसे भीगी बिल्ली सरीखे हैं, मालूम है न ! एक दिन मजाक मे खिजाब की शीशी छुपा कर मैंने रख दिया। बेचारे की कितनी दुर्दशा हुई ! दूसरे दिन सारे बाल नये उग आम के पत्तो की तरह ताबे की तरह दीखने लगे। जो हुलिया बना न उनका, एक बार अगर देखता न तू ! घूम-घूमकर, लगभग रेंगते हुए-से द दो, दे दो, कहते हुए मुझसे चिरौरी करने लगे। उस जात्रा में जिस तरह कृष्ण राधा के पास घुटने मोडकर कह रहा था ठीक वैसा ही। खैर, इस कदर जो भीगी बिल्ली सरीखे हैं, वह भी सब कुछ सुनते ही बोला, "भामती ! यहाँ नही रहना है।"

भामती ! उसका नाम भामती है। मुझे मामी मासी कहने के लिए कहती।

छोटी-छोटी जुम्हाइयाँ भरती हुई वह हाथ घुमा-घुमा कर हवा कर रही थी। घाट के किनारे बैठ कर हाथ से छोटी-छोटी लहरें उठाने की तरह। बोल रही थी, "यहाँ कचहरी का काम अच्छा ही चल रहा था। ज्यादातर तो छुट्टियाँ ही रहती हैं। फिर सुना है, पहले लडको को अपने यहा बुला-बुला कर पढाया करते थे। घर म अँधेरा रखकर मस्जिद मे दीया जलाने का पागलपन अब नही है। यह अच्छा ही हुआ। खैर कोई बात नही, मर्द आदमी है, पढ़ा-लिखा है। दूसरी जगह जाकर भी गुजारा कर लेगा। दो जनों का पेट लेता ही कितना है ? नहीं चला सकेगा तो मुझे क्या ? जहाँ से आयी थी, वही चली जाऊँगी।"

'लौट जायेंगी ? यहाँ सुधीर मामा के पास नहीं रहेंगी ?"

"नही रह पायेंगे, तो क्या किया जायेगा ? यहाँ के पाजी लोग हम लोगों के पीछे पड गये हैं। सीटी मारते हैं ढेला फेंकते हैं। अच्छा बता तो, वे कह रहे थे कि ढेला फेंकने वालों म स्कूल के भी कुछ छोकरे हैं ?"

"हो सकता है।" मैं बोला।

"एक दिन घर से निकले थे। हेडमास्टर को कहने के लिए। पर लौट आये खिसिआये हुये-से। बता तो क्यों ? पहले दिमाग मे बात आयी नहीं थी, बाद म ख्याल आया, जाकर कहेंगे क्या ? फिर तो यह भी बताना होगा कि मैं कौन हूँ।

और फिर केंचुवा निकालने की कोशिश मे साप ही निकल आयेगा।" वह जिसका नाम भामती है और थोडी देर पहले जिसका आचल हाथ पखा था, उसी को मुँह मे ठूस कर अपनी हँसी रोक रही थी। "केंचुवा निकालने जाओ तो साप निकले, ही ही," हँसी का इस्तेमाल वह कोमा-सेमी कोलोन की तरह कर रही थी।

"समझे कुछ! तेरे सुधीर मामा इसी लिए लौट आये, आकर सिर हिला-हिलाकर बोले, "कोई उपाय नही है। नहीं होगा तो हम लोग यहा से चले ही जायेंगे।"

'चोरो की तरह' कहते समय उसका चेहरा अचानक उदास हो गया। आवाज भी रुध गयी। हालाँकि अभी भी वह हँस रही थी। पर उस समय मैं उसकी आँखो की ओर देखकर समझ नही पा रहा था, कि वह चिकचिक क्यो कर रही हैं? यह सब कुछ जो वह कहे जा रही है, मजाक या ठिठोली है, यानि हँसी पेट मे दबाने के कारण ऐसा हो रहा है? या फिर यह तकलीफ शरीर के एक अश मे, जो पेट के काफी ऊपर होता है, वहा हो रही है? और शायद इसी से उसकी आवाज रुँध गयी थी?

यह सब मैं कुछ भी समझ नही पा रहा था माँ, इसलिए मुझे भी कष्ट हो रहा था। वह हँसमुख भामती, जिसकी चाल ढाल एकदम तुम्हारे विपरीत थी, क्षणाश मे उसे 'तुम' हो जाते देखा—तुम्हारी तरह। उसके चेहरे पर तुम्हारी छाया पड रही थी। कहाँ से आकर तुम उसे ढँक दे रही थी, चमकते हुए चाँद के उपर बादलों के झीन पर्त की तरह। तो उसकी भी आखें छलछलाती हैं, भामती की भी? बडा आश्चर्य है।

बाद म सारा जीवन इस तरह के धूप-छाव बहुत देखें। किसी भी मनुष्य को लगातार किसी एक ही धारणा के साँचे मे फिट बैठ जाते नहीं देखा। श्रद्धा के पात्र का अचानक ही अधकार पक्ष उजागर हो जाते देखा है। देखकर सिहर उठा हूँ। इसी तरह धूप-छाँव चलता रहा है। मनुष्य कितना बहुरूपिया होता है! नहीं, नहीं बहुरूपा कोई नहीं होता है, हमी लोग उसे अनेक रूपा में देखते हैं। सम्पर्क का तो सिर्फ बाह्य ही स्थाई होता है, आतरिक सम्पर्क का कोई चिरस्थाई बन्दोबस्त नहीं है। ज्वार-भाटा, फिर ज्वार।

इस दर्शन की सूचना आयु के प्रात काल में ही मिल जाती है। सिर्फ उस समय घोर कर देखने की दृष्टि नहीं होती है। मुझे भी मिल रही थी। कितने फकीर अपने धूसर अलखल्ले के अन्दर से चकमक करते स्फटिक निकाल कर दिखा देते हैं, और कितनी कुहकिनियों के अन्तर्वास की दुर्गंध भक-से नाक में लगते ही, मुह घुमाना पड़ा।

ठीक इसी तरह, बाबा एक दिन स्टेशन के नीम अधेरी रोशनी में कितने

वह बोल रही थी, "उस पेड पर वे लोग चढ कर बैठे रहते हैं। नहानघर की ओर ताकझाक करते रहते हैं, सोच कर देख, उस समय मेरे बदन पर कपडे नही होते हैं। परसा जात्रा सुनने गये थे, वे थोडा आगे बढ गये थे। पता नही कौन लोग मेरा पीछा करने लगे। धप्-धप्-धप पाँव की आहट! बाप रे! सोचते ही छाती धडकने लगती है। सुना-सुना कर सीटी बजाना, और क्या चटकीले गाने! घर के पास आते न आते, जो होगा सो होगा सोचकर दौडने लगी। साकल चढा दिया था, फिर भी थर-थर काँपती रही। वे लोग खिडकी के बाहर से जाते-जाते, लबडुरा का दल, जोर-जोर से बाल गया, "तुमने उस पर टोटका किया है। तुम्हारा हिस्सा हमे भी चाहिए तू इन सब फूहड बातो का मतलब समझता है?"

हल्के से जूडे को उसने अचानक खोल दिया। घमौरी नही थी, फिर भी पता नही क्यो गले के ठीक नीचे खुजलाती रही। "तेरे सुधीर मामा को सारी बातें बतायीं। वे वैसे भीगी बिल्ली सरीखे हैं, मालूम है न! एक दिन मजाक म खिजाब की शीशी छुपा कर मैंने रख दिया। बेचारे की कितनी दुर्दशा हुई! दूसरे दिल सारे बाल नये उगे आम के पत्ता की तरह ताबे की तरह दीखन लगे। जो हुलिया बना न उनका, एक बार अगर देखता न तू! घूम-घूमकर, लगभग रेंगते हुए-से द दो, दे दो, कहते हुए मुझसे चिरौरी करने लगे। उस जात्रा मे जिस तरह कृष्ण राधा के पास घुटने मोडकर कह रहा था ठीक वैसा ही। खैर, इस कदर जो भीगी बिल्ली सरीखे हैं, वह भी सब कुछ सुनते ही बोला, "भामती! यहाँ नही रहना है।"

भामती! उसका नाम भामती है। मुझे मामी मासी कहने के लिए कहती।

छोटी-छोटी जुम्हाइया भरती हुई वह हाथ घुमा-घुमा कर हवा कर रही थी। घाट के किनारे बैठ कर हाथ से छोटी-छोटी लहरें उठान की तरह। बोल रही थी, "यहाँ कचहरी का काम अच्छा ही चल रहा था। ज्यादातर तो छुट्टिया ही रहती हैं। फिर सुना है, पहले लडको को अपने यहा बुला-बुला कर पढाया करते थे। घर मे अधेरा रखकर मस्जिद में दीया जलाने का पागलपन अब नही है। यह अच्छा ही हुआ। खैर कोई बात नही, मर्द आदमी है, पढा-लिखा है। दूसरी जगह जाकर भी गुजारा कर लेगा। दो जनों का पेट लेता ही कितना है? नही चला सकेगा तो मुझे क्या? जहा से आयी थी, वही चली जाऊगी!"

'लौट जायेंगी? यहा सुधीर मामा के पास नहीं रहेंगी?"

"नही रख पायेंगे, तो क्या किया जायेगा? यहा के पाजी लोग हम लागो के पीछे पड गये हैं। सीटी मारते हैं, ढेला फेंकते हैं। अच्छा बता तो, वे कह रहे थे कि ढेला फेंकने वालो मे स्कूल के भी कुछ छोकरे हैं?"

"हो सकता है।' मैं बोला।

"एक दिन घर से निकले थे। हेडमास्टर को कहने के लिए। पर लौट आये खिसिआये हुये-से। बता तो क्यों? पहले दिमाग म बात आयी नहीं थी, बाद मे ख्याल आया, जाकर कहेंगे क्या? फिर तो यह भी बताना होगा कि मैं कौन हू।

और फिर केंचुवा निकालने की कोशिश में साप ही निकल आयेगा।" वह जिसका नाम भामती है और थोडी देर पहले जिसका आँचल हाथ पखा था, उसी को मुँह में ठूस कर अपनी हँसी रोक रही थी। "केंचुवा निकालने जाओ तो साप निकले, ही ही," हँसी का इस्तेमाल वह कोमा-सेमी कोलोन की तरह कर रही थी।

"समझे कुछ! तेरे सुधीर मामा इसी लिए लौट आये, आकर सिर हिला-हिलाकर बोले, "कोई उपाय नही है। नही होगा तो हम लोग यहाँ से चले ही जायेगे।"

'चोरो की तरह' कहते समय उसका चेहरा अचानक उदास हो गया। आवाज भी रुँध गयी। हालांकि अभी भी वह हँस रही थी। पर उस समय मैं उसकी आखो की ओर देखकर समझ नही पा रहा था, कि वह चिकचिक क्यो कर रही हैं? यह सब कुछ जो वह कहे जा रही है, मजाक या ठिठोली है, यानि हँसी पेट मे दबाने के कारण ऐसा हो रहा है? या फिर यह तकलीफ शरीर के एक अश मे, जो पट के काफी ऊपर होता है, वहा हो रहा है? और शायद इसी से उसकी आवाज रुँध गयी थी?

यह सब मैं कुछ भी समझ नही पा रहा था माँ, इसलिए मुझे भी कष्ट हो रहा था। वह हँसमुख भामती, जिसकी चाल-ढाल एकदम तुम्हारे विपरीत थी, क्षणाश मे उसे 'तुम' हो जाते देखा—तुम्हारी तरह। उसके चेहरे पर तुम्हारी छाया पड रही थी। कहाँ से आकर तुम उसे ढँक दे रही थी, चमकते हुए चाद के ऊपर बादलो के झीन पर्त की तरह। तो उसकी भी आँखे छलछलाती हैं, भामती की भी? बडा आश्चय है।

बाद मे सारा जीवन इस तरह के धूप-छाव बहुत देखें। किसी भी मनुष्य को लगातार किसी एक ही धारणा के साँचे मे फिट बैठ जाते नही देखा। श्रद्धा के पात्र का अचानक ही अधकार पक्ष उजागर हो जाते देखा है। देखकर सिहर उठा हूँ। इसी तरह धूप-छाव चलता रहा है। मनुष्य कितना बहुरूपिया होता है! नही, नही बहुरूपी कोई नही होता है, हमी लोग उसे अनेक रूपो मे देखते हैं। सम्पर्क का तो सिर्फ बाह्य ही स्थाई होता है, आतरिक सम्पर्क का कोई चिरस्थाई बदोबस्त नही है। ज्वार-भाटा, फिर ज्वार।

इस दर्शन की सूचना आयु के प्रात काल मे ही मिल जाती है। सिर्फ उस समय चीर कर देखने की दृष्टि नहीं होती है। मुझे भी मिल रही थी। कितने फकीर अपने धूसर अलखल्ले के अन्दर से चमचमक करते स्फटिक निकाल कर दिखा देते हैं, और कितनी कुहकिनियों के अन्तर्वास की दुर्गन्ध भक्-से नाक में लगते ही, मुह घुमाना पडा।

ठीक इसी तरह, बाबा एक दिन स्टेशन के नीम अधेरी रोशनी मे कितने

अपने हो गए थे, कुछ देर के लिए ! कितने लटके, कितने नखरे जानने वाली धुलधुल भामती भी कृशकरुण होकर, तुम्हारी ही तरह दीखकर मुझे भी अचानक विगलित कर गई ! वह भी शायद क्षण भर के लिए। मन मानो, बर्फ से भरी हुई शीशे का गिलास है। ठण्डी हवा का हल्का स्पर्श पाते ही जिस्म पर बूँद-बूद पानी जम उठता है। वह पानी फिर सूख भी जाता है।

फिर भी बाबा को, जिसके साथ तुम्हारी सनातनी रहती है, उसे नम आँखों से देखना, भामती के आन्तरिक कष्ट को देखकर काँप जाना, इसमे भी साफ महसूस न होने पर भी, प्रच्छन्न भाव से कोई अन्यायबोध रहा था क्या ? तुम्हारे प्रति क्या एक प्रकार का विश्वास भग कर बैठा हूँ ? कहना मुश्किल है। जानबूझकर ऐसा नही किया है। विश्वास यत्र-तत्र फैला हुआ रहता है, ककड़-पत्थर की तरह। जीवन भर बिना जाने उन्हे रौदते रहते हैं। पाँव के नीचे किचर-किचर होकर टूटते हैं। आदमी उसके लिए क्या कर सकता है। बताओ ? आदमी लाचार है।

सुधीर मामा के लिए भी थोड़ा कष्ट हो रहा था। भामती के मुह से यह सुनकर कि हेडमास्टर के पास शिकायत करने जाकर छोटा-सा मुह लेकर वे लौट आये थे तकलीफ हुई थी। वह-चले जायेंगे, चले जा रहे हैं, यहा का डेरा जो उठा रहे हैं। वही सुधीर मामा ! सिर पर मफलर, नीम का गिलास, लाठी के सहारे झुक कर चलना, सुपारी गाछ की तरह लम्बे, पर सीधे। इस समय न जाने किस कारण बदल गए हैं। पर उनकी पहले वाली तस्वीर को ही छाँट कर रख लिया हूँ। आँख बन्द करते ही आज भी उसी तस्वीर को देखता हूँ। वे चले जायेंगे, और उन्हे अपने पास नही पाऊँगा। उनका पढाना, मेले म ले जाना, मैजिक लालटेन दिखाना। झील और तालाब मे मछली पकडने के लिए बिताये गए वे कुछ शान्त दोपहर ! सब समाप्त हो जायेगा, उखड जायेगा। बाबा जिस तरह एक दिन आगन के गेंदे के पौधों को उखाड फेंका था, उसी तरह। सुधीर मामा, उनके बाबा और तुम्हारे बाबा याने मेरे दादू वही कितने साल पहले यहाँ एक साथ आये थे। क्या तो एक छोटा-सा रिश्ता भी था, पता नही। उस समय घनिष्ठता के लिए रक्त-सम्पर्क का होना आवश्यक भी नही था। अब तो रक्त-सम्पर्क के लोग भी एक साथ या पास-पास नही रहते हैं। खून शायद अब पानी से ज्यादा गाढ़ा नही रह गया है। पर उस समय तो दूर-दराज की रिश्तेदारी को ही यथेष्ट माना जाता था। वे लोग शायद सत्तर-अस्सी वर्ष पहले आये थे। सुना है उस समय यहाँ रेल नही थी। एक जन सेरेस्ता मे काम लेकर आये, याने मेरे दादू, और सुधीर मामा के बाबा चाँदसी का इलाज किया करत थे। यही मलहम-वलहम इन्ही सब से। दोनों ही उस समय युवक थे। अविवाहित। आँखो मे ढेर सारा सपना। धीरे-धीरे सब कुछ सजाया-बसाया जाने लगा। घर गृहस्थी, खेत-खलिहान।

सब कुछ उखड जायगा। अन्दर हा-हा करने लगा। भामती की ओर देखने

का साहस नहीं हो रहा था। उस समय तो वह भामती नहीं थी, सुधीर मामा की प्रतिनिधि थी। तुम्हें थोड़ी देर पहले गलत बताया था माँ! यही कि भामती के आकर्षण से यहाँ आता हूँ। पर सिर्फ उसके लिए नहीं, सुधीर मामा के आकर्षण से भी यहाँ आता हूँ। इस कमरे में उनकी उपस्थिति! इस कमरे में उनकी स्मृति फैली हुई है। आज के सफेद चादर के पीछे, वही धूलि-मलिन मोटी-चादर। चादर ओढ़े या फिर रजाई ओढ़े रविवार की दोपहर को मुझे और साथ में कुछ और लड़कों को लेकर क्लास लेना प्रिम की कहानी। अगले साल लैम नामक किसी लेखक का अंग्रेजी नाटक की कहानी सुनाने की बात थी। सब समाप्त हो जायेगा।

सब कुछ खत्म होता जा रहा है। उनका बुखार, सिरहाने पानी का गिलास, सब कुछ। सिर्फ भामती के आकर्षण से यहाँ नहीं आता हूँ न! मेरी बहुत इच्छा होती है कि, मुझे हम लोगों को लेकर वे क्या बातें करते हैं, अभी भी पुरानी बातें याद हैं कि नहीं सब जान लूं। पर पूछ नहीं पाता हूँ, होंठों पर आकर कुछ अटक जाता है।

भामती, अब तक खाये हुए लेमनचूस की स्मृति में होंठों को चाट रही है। आँखों में भी वही नटखट हँसी। "चली तो जाऊँगी ही। पर उन्हें भी छोड़ जा सकती हूँ। तुझे अभी थोड़ी देर पहले कहा था न! वह मजाक था। दुबले मरियल, एकदम दुर्बल तो हैं। मुझे उन्होंने कहा है, कभी किसी से कुछ नहीं मिला। बच्चे की तरह अब मुझे जकड़ के रखा है। मेरे चले जाने से उसका कौन रह जायेगा?

अब तक नहीं समझ पाया, पर अब उसी क्षण समझ गया कि भामती उनकी कौन है? मन ही मन म कहता रहा, "नहीं, नहीं तुम मत जाना।'

"बहुत कमजोर है, बहुत कमजोर है।" भामती ने कई बार जरूर कहा, पर उसके बार-बार ऐसा कहने पर आँख के सामने देख रहा था कि क्या अकेले सुधीर मामा ही दुर्बल थे?—नहीं।

आज शाम को। आज शाम को ही तो, क्लास का मॉनीटर जगन्नाथ और माणिक ये लोग टिफिन के समय गोल होकर पता नहीं क्या आपस मे बतिया रहे थे। मुझे देखते ही आँख के इशारे से चुप कर गये। मुझे वे लोग खास बुलाया नहीं करते थे। वे लोग उम्र और कद दोनो मे मुझसे बडे थे। उनमे से एकाध जना को प्रमोशन न मिल पाने के कारण एक ही क्लास मे रुके हुए हैं। जगन्नाथ कहा करता, "हम लोग रेलवे के पायटसमैन हैं, एक ही केबिन मे खडे-खडे फ्लैग उडाकर गाडियो को पास करा देते हैं।"

वही जगन्नाथ, मुझे वहाँ से हट जाते देख, हाथ हिलाकर अपने पास बुलाया। मुझे बिना कुछ कहे, चनाचूर देते हुए मुझे सुना सुनाकर कहने लगा, "मधुमक्खी के छत्ते मे ढेला फेंका हूँ। आज शहद निकालूंगा। डूब-डूबकर पानी पीना निकलवाता हू।"

"डूब डूब कर कहा," किसी और ने चुटकी ली, "एकदम दिन दहाड, पाडे मे बैठकर "

"मोहल्ले में बैठकर निकालता हूँ। सिर मुडा दूँगा, घोल (छाछ) डाल दूँगा। गधे की टोपी पहनाऊँगा, या फिर बिल्ली-पार करूँगा। बोरे मे भर कर कितनी बिल्लियों को कितने दूर-दराज ले जाकर छोड आया हूँ, और एक इस बिल्ले और बिल्ली को ठिकाने पर नही पहुँचा सकूँगा?"

"बिल्ला कहाँ है, दोनों ही बिल्लियाँ हैं।" माणिक गीत गाने के लहजे मे बोला और दूसरे सब हँसी का ताल ठोकने लगे।

'बाजार के श्याम पोद्दार वही जिसके घर पर ही सभा लगती है। उसने हम लोगो को पाँच रुपया दिया है। पार लगा पाने पर और पाँच रुपया मिलेगा। इसके सिवा एक दिन वह हम लोगों को पेट भर कर बकरे का गोश्त खिलायेगा।' वे लोग मिले हुए सिक्कों को ठनाठन बजाये जा रहे थे।

तिरछी नजर से मेरी ओर देखते हुए जगन्नाथ बोला, "तू तो वहाँ का चक्कर लगाया ही करता है। आज शाम के बाद चले आना। बत्तीस किस्म का तमाशा देख पाओगे। खेल देखना खेल। बच्चू को अच्छी तरह से मजा चखाऊँगा।"

माँ, मुझे डर लग रहा था। बदन मे सिहरन हो रही थी। टिफिन के बाद भी क्लास मे गया, पर सर से पूछकर दो बार बाहर आया। घडे से पानी निकाल-निकाल कर पिया। आज शाम को, आज शाम को—क्या? एक मजेदार खेल, वे लोग कह रहे थे। सचमुच क्या वे लोग वैसा करेंगे, जैसा कि कह रहे थे? घोल, गधे की टोपी, यही सब? लीडरी जगन्नाथ करेगा। पिछली बार फेल हो जाने पर सुधीर मामा ने खुद इसे पढाया था।

वे लोग जब वैसा करेंगे, ढेला, कीचड का लोंदा, यही सब—मैं, मैं उस समय क्या करूँगा। रोक सकूँ, इतनी ताकत शरीर मे कहा है। तो क्या छुप कर देखता रहूँगा! डरपोक, डरपोक कहीं का। कुछ भी नही कर सकूँगा। इतना स्थिर जानकर मन ही मन खुद को थूकता रहा।

पर उस भयकर शाम को मैं वहाँ अन्तत गया ही नही। क्या नही गया माँ, यह तो तुम जानती ही हो। उस दिन शाम कुछ जल्दी ही आ गयी। देखते-देखते धूप सिमट गयी। समय से पहले ही मानो बूढे दरबान ने अन्तिम घंटा बजा दिया। हम सब धीरे धीरे निकल आ रहे हैं। पर मैं क्यों पीछे रह गया। पाँव काँप रहे हैं। कापी-किताब दो बार हाथ से खिसक कर नीचे गिर पडी। गर्द, धूल कितनी धूल थी। झाड पोछकर किताबें उठा ली। फिर भी दाँत किरकिराने लगे, मुह मे नाक मे बालू घुस गए थे, क्योंकि दोपहर से ही उस दिन गर्द के अधड चल रहे थे। क्योंकि उस दिन देखते-देखते धूप गुम हो गयी थी और अगर यह कहूँ कि मेरी दाहिनी आँख भी फडकने लगी है, तो शायद उसे तुम बनावटी बात समझो। वे लोग याने जगन्नाथ और माणिक का दल काफी आगे निकल चुका है। दूर से उनकी "हिप-हिप हुर्रे" सुन पा रहा हूँ। डरा हुआ मैं किसी सर्वनाश की आशका से काँप उठता हूँ, पर

एक सर्वनाश हो चुका है, उसका थोडा भी आभास मुझे नहीं मिला।

दरवाजा खुला हुआ। आँगन में पडोस की मौसी-बुआ आपस मे फुसफुसाकर बतिया रही थी। कमरे के अन्दर कोई-कोई ताक-झाँक कर रही हैं, मैं ठिठक गया हूँ। हाथ से किताब-कापी सरक कर नीचे गिर गयी है। मैं दौडकर कमरे मे चला आता हूँ। माँ, मेरी मा तुम बिस्तर पर उस तरह क्यो लेटी हो? चादर खून से भरा हुआ। तुम्हारी आँखें सफेद, मानो वहाँ पुतली है ही नही। बिस्तर खून से भरा हुआ। तुम खून से लथपथ। मुझे भय दिखाने के लिए क्या यह सब हो रहा है? तुम्हे पता नही है, खून देखते ही मैं कितना डर जाता हूँ! उँगली कट जाने पर आँख मूँद कर उसे होठो के बीच दबा लेता हूँ। जिस बार गाँव की काली पूजा मे रात जाग कर बलिदान देखा, उस बार कम से कम दो महीने तक मास नही खा सका था।

६

माँ ! आँख खोलो। बताओ क्या हुआ है। तुम्हारे सिरहाने बैठकर गांगुली-बाड़ी की बुआ, तुम्हारा एक हाथ अपने हाथ की मुट्ठी में थामी हुई हैं। क्या कह रही हैं वे ? मुझको ही क्या ? अगर मुझे कह रही हैं तो इतनी दबी आवाज में क्यों ? बता रही हैं कि तुम तालाब के किनारे सीढ़ी पर अचानक पाँव फिसल कर इन सब का मतलब क्या हुआ। मैं सुन नहीं पा रहा हूँ, कोई सिर पाँव ही समझ में नहीं आ रहा। मैं सिर्फ उस बिस्तर के ऊपर औंधे होकर पड़ जाऊँगा। तुम्हारी महक लूँगा। तुम्हारे बिखरे हुए बालों की, छाती की महक अपने अन्दर भरूँगा। और फिर तुम्हारे दूसरे हाथ को अपनी मुट्ठी में दबाये, बस सो जाऊँगा।

"कब हुआ ? मुझे स्कूल में खबर क्या नहीं किया ?" बेवकूफ की तरह यह सब क्या कह रहा हूँ मैं ? पीशीमाँ (बुआ) की ओर आँखें तरेरते हुए। अभी, इस कमरे में इतने शोरगुल की क्या जरूरत है ?

'यही अभी कोई घंटा भर पहले की बात है। यह तो गनीमत समझो कि घाट पर उस पाड़े के वे लोग थे। दौड़कर गये, उठाकर घर ले आये ! तू बच्चा है, तुझे खबर करके क्या होता ! पहले तो डाक्टर बुलाने की जरूरत थी। डाक्टर बाबू अभी-अभी देखकर गये हैं। काफी देर तक यहीं थे। दवा, इनजेक्शन सब कुछ दिया जा रहा है। होश आने के बाद ही चले गये। अब थोड़ी शांति है। सो रही है, बीच बीच में जाग रही है। पता तो था हमें, अभी स्कूल में छुट्टी हो जायेगी। तू आ जायेगा। पहले आ जाने पर तो तुझे ही लेकर झंझट हो जाता, रो धोकर बराबर करता। जा अब यहाँ से जा। खुद ही उतार कर चिवड़ा मूड़ी जो कुछ है खा ले। इस्स ! मुँह बिल्कुल सूख गया है। जा बाहर जा। यह सब देखना नहीं चाहिये। माँ की ऐसी हालत में लड़के कमरे में नहीं रहते हैं। उसे मैं थोड़ी देर बाद उठाऊँगी, साफ करूँगी।"

गांगुली पीशीमा आदेश करने के स्वर में बोल रही हैं पर मैं मुँह फुलाये गंवार की तरह खड़ा हूँ, हिल नहीं रहा हूँ।

(आँख खोलो माँ। सुनो एक बात सुना। वे लोग आज सुधीर मामा को भगायेंगे। सुधीर मामा सुधीर मामा, सुन रही हो ?)

पीशीमा तुम्हारे सिर पर हाथ फेर रही हैं। तुमने आँख के इशारे से यह किया और करने की जरूरत नहीं।

(मां यह देखो वे लोग अब तक वहाँ जाकर कतार बाँधकर खड़े हो गये हैं। एक जन पेड़ पर चढ़ रहा है, ढेला फेंक रहा है। किसी ओर ने भोंपू बजाया। यह संकेत है। सुधीर मामा नहीं, पहले मामती बाहर निकल आयी है। मामती, उसके माथे पर एक ढेला आ लगता है—उससे तुम्हें क्या ? बात ठीक भी है। वह तो तुम्हें फूटी आँख नहीं भाती है।)

पीशीमाँ उठीं। तुम्हारे मुँह को तकिये पर ही थोड़ा तिरछा कर के प्याले से पानी पिलाया। तुमने अस्फुट स्वर में कहा, 'उह ?'

(उह् क्यों माँ ? सुधीर मामा भी निकल आये हैं। उनके सिर पर भी निशाना लगा कर मारा गया। एक पत्थर आकर लगा। तुमने भी क्या देखा था ? पेड से वे लोग तडतड करके उतरते आ रहे हैं। भामती घसीटते हुए सुधीर मामा को ले जा रही है। भामती इस समय आँचल कमर से लपेटे, आवाज चढा कर बोल रही है, "कौन आयेगा, आओ तो। एक बार आगे आकर देख न !" अब सुधीर मामा उसे रोक रहे हैं। पर भामती भी कम नही। पूरी बाघिनी बन गयी है।)

तुम्हारी छाती ऊपर-नीचे हो रही है। तुम उस तरह आँ-आँ क्यो कर रही हो ? पीशीमाँ तुम्हारे होठ के किनारे से झाग पोछ रही हैं।

(बडी सडक के किनारे एक परछाई है। बताओ तो वह कौन है ? बाजार का श्याम पोद्दार। वे सामने नही आये हैं। पीछे से साँप की तरह हिस्स-हिस्स कर रहे हैं। अँधेरे मे छुप कर ही उन लोगो को लडाते जा रहे हैं। माणिक की जेब मे रुपये खनक रहे हैं, किसके हैं ? श्याम पोद्दार के। उन्होने ही दिया है। बाद मे खस्सी भी खिलायेंगे। उनके भी पीछे और एक जन वह कौन है ? पहचान नही पा रही हो ? वह तो तुम्हारा ही लडका मैं ही हूँ ! डरपोक, केंचुवा, पिद्दी-सा।)

पीशीमाँ गले से लेकर तुम्हारी छाती तक मल दे रही हैं। झुक कर पूछ रही हैं, "बहुत तकलीफ हो रही है क्या ?"

(तकलीफ नही होगी क्या ? सुधीर मामा आज चले जा रहे हैं। वे लोग एक अश्लील-सी कविता पढ रहे थे। उन्होने दोनो हाथ से कान ढँके। उसके बाद आतंकित भाव से सामने जो लोग थे, उनमे से चारेक लोगो को बुलाया, "क्या चाहते हो ? क्या चाहते हो तुम लोग ?" शान्त स्वर। "छत्ते का मुँह खोल देना चाहता हूँ।" पीछे से किसी ने कहा। चिडिये का घोसला तोडूँगा। अण्डा-वण्डा तोडूँगा।" किसी और का स्वर। "वैसा ही कर लो।" वे अपने सिर के बालो मे चिकोटी भरते हुए कहते है, "पर हंगामे की क्या जरूरत है। मैं तो तैयार ही हूँ।" मैं तो तैयार ही हूँ। आह ! हवा की तरह सुन्दर बात है। सर्वनाश के सामने-सामने खडे होकर कितने लोग ऐसे हैं, जो कह सकते हैं कि, "मैं तैयार ही हूँ ?" पर सुधीर मामा कह पाये हैं। वे लोग अब कमरे के अन्दर हैं। गठरी वठरी तो पहले ही बँध चुकी थी। भामती कठोर मुद्रा मे खडी है। उसके माथे पर आज टिकुली लगी है। काले के ऊपर हरा। जाने की तैयारी, पर दृष्टि स्थिर। पर सुधीर मामा काँप रहे हैं। खिचडी बाल, धुत् खिजाब विजाब सब उड गया है। हाथ बढाकर वे पानी पीने गये, पर इस्स्, गिलास हाथ से गिर कर चूर-चूर हो गया। भामती झुक कर काच के टुकडे बीनने लगी। यह क्या वही गिलास है जिसे एक दिन तुम चुपचाप भर कर रख आयी थी ?)

मुझे पीशीमाँ, यहाँ और टिकने नही देंगी। तुम्हें पहले थोडा गरम दूध बाद मे और एक डोज दवा पिलाने के बाद ही मुझे हटा देंगी। वही दवा, पीशीमाँ बता रही हैं, जिसे खाने से दर्द कम हो जाता है, नींद आ जाती है।

("आज ही जाऊँगा," उन लोगो से सुधीर मामा बोल रहे हैं, "आज रात को ही।" अब काँपते हुए स्वर मे नही। शान्त कण्ठ स्वर। गठरी-बठरी इकट्ठा करके बाहर रख रहे हैं। फिर भी दूर से कौन तो अभी भी ढेला फेंके जा रहे हैं। मजेदार खेल, उन लोगो को एकदम मिल गया है।

मैं क्या करूँ? आड मे छुपा जो हुआ हूँ? मैं भी थोडा मजा लू क्या? एकाध ढेला मैं भी फकू क्या? नही, डरपोक होने पर भी तुम्हारा लडका नीच नही है माँ! वह बल्कि सोच रहा है कि आगे बढ़कर गठरी उठाकर, हाथ बटा दे। पर उतना साहस भी क्या उसे होगा?)

मैं अब बाहर आँगन मे हूँ। पीशीमाँ ने मुझे अभी-अभी बाहर निकाल कर दरवाजा ब द कर दिया है। चादर-वादर बदल कर तुम्हे साफ करेंगी। करे, मैं अभी आँगन म हूँ। पोखर के किनारे किन लोगो ने पाट भिगोया है। उसी की सडी-सडी सी ग ध आ रही है। पर आकाश मे अनेक तारे हैं। कोई-कोई तारा तो रात को ही इधर से उधर टहलते रहते है। कोई कोई अचानक ही टूट जाते है। तुम अब सोवोगी, तुम्हारे सोये रहते-रहते ही—

(वह देखो, सुधीर मामा रवाना हो गये हैं। सुधीर मामा और मामती। सुधीर मामा भी तारे देख रहे हैं। तारे देख रहे हैं न, इसी से अब कुछ सुन नही पा रहे हैं। हम लोग जिस समय तारे देखते हैं, उस समय चीख-पुकार कुछ नही सुनते हैं। पेड की आड मे चोर हूँ मैं, डरपोक हूँ मैं। मेरी मा उन्होने परवाह नही की। इस समय उनका सिर उठा हुआ है। कहा, लाठी क ऊपर झुके हुए तो नहीं है?)

मा इस समय तुम नींद मे तैर रही हो। उसी के साथ-साथ पैदल चलते जा रहे हैं और एक जन। कल सुबह ही तुम्हारी नींद टूट जायेगी, पर व लौट कर नही आयेंगे। तुम्हारी इस आच्छ न त द्रा के घोर मे तुम्हारे अगोचर मे भयकर एक घटना घट गयी, पर ईश्वर न तुम्हें बचा लिया। तुम्हें कुछ भी जानने नहीं दिया।

पर मैं जान गया हूँ। सिर्फ यही घटना ही नहीं, भयकर एक और घटना कम से कम मेरे लिए। तुम्हारे घर से निकल आया जब, न जाने क्यों वह फीका चेहरा, रक्ताक्त चादर, निर्वाक स्वर मेरे कान म अमोघ वाक्य की घोषणा करता रहा—अब दादा भी नही आ रहे हैं।

व्यर्थ ही इतने दिनो तक उसकी प्रतीक्षा करता रहा हूँ। तस्वीर की ओर देखकर एक-एक दिन गिनता रहा हूँ। डाक्टर आया, डाक्टर गया। खूटी पकड-पकड कर एक दिन तुम आँगन मे आकर बैठी। तब नियमित व चार चिडई मा जायी। धूप बिखर गयी। नहाने के बाद बाल सुखाना। तुम्हारा धुला हुआ चेहरा गमछे के भीतर से झाँकता है। यह धूप ठीक वैसी ही है, तुम्हारे चेहरे जैसी। मैं अकेला-अकेला फिर से निकलने लगा। वहा पोखर के किनारे, जहाँ दादा व पानी म

ऊपर मुह रखते ही मुलाकात हो जाती। एक दिन दोपहर को उससे जाकर बोला, "जब आना ही नही था, तो क्यो उम्मीद बँधवायी थी ? मा को भी धोखा दिया मुझे भी।"

पेड के तने के साथ लगकर, चीटियो की बातें सुनते-सुनते आँखें झिप जाती। एक कठफोडवा ऊपर की डाल ठोकता ही रहता। और घुग्घू पक्षी की पुकार मे आह कितनी क्लान्ति, कितनी क्लान्ति थी। पोखर के किनारे की जोती हुई धरती की ओर देखता रहता। चारो ओर सन्नाटा और शून्य। जो चला गया और जो आया ही नही, उनमे से शायद किसी एक ने या फिर दोनो ने ही, मुझे धोखा दिया। न मैं किसी का भाई रहा, न किसी का दादा ही बन पाया—अकेला ही रह गया।

अकेला, बाद में जान पाया कि, सभी मनुष्य अन्तत अकेला होता है। भीतर एक ऐसी जगह है, जहाँ आस पास कोई नही है। पास मे खडे होकर कोई अपनी परछाइ भी नही फेंकता है, पर उस समय ता इन सब बातो का ज्ञान नही रहता है। पुराने वाले दादा तो कब के नहीं हैं। नए बनकर भी अब वह नहीं आ रहे हैं। कहा चले गये हैं सुधीर मामा ! किसी दूर-दराज जगह पर बाबा घूम रहे हैं—उस समय, उन सूखे, निजन नि सग दोपहरिया को रह-रहकर बाबा की याद आ जाती।

इस तरह माँ, उस सुबह की मेरी पहली दोपहर समाप्त हुई।

माँ ! जल्दी जल्दी, थोडा जल्दी-जल्दी। तुम्हें अब जल्दी नही है। अशेष समय की डोलची गोद मे लिए बैठी हुई हो, मानो किसी चिर-शरत्काल के हरसिंगार के पेड तले की तस्वीर हो। फूल झर रहे हैं, झरत जा रहे हैं। फूल नही मानो समय की चिंगारी हो। उसे मन चाहे तो गूथ लो, इच्छा न हो तो अपने चारा ओर फैला दो। वे सब इकट्ठा हो-होकर पहाड बन भी जाये तो उससे क्या फर्क पडता है ! तुम्हें अब किस बात की जल्दी है, तुम्हारे पास तो अब अनन्त समय है।

पर जल्दी मुझे है। मैं अभी भी पडा हुआ हूँ। तुम्हारा लडका अभी भी स्थान काल के गारदखाने मे कैद है। बहुत शैतानी करते रहने के कारण तुमने बाहर से साकल चढा कर मुझे कमरे में बन्द कर दिया है। सजा, यही उसकी सजा है। मा, साँकल नहीं खालोगी ?

फिर भी मुझे पता है मियाद कम होती आ रही है। अच्छी तरह रहने से कैदियो की सजा की मियाद कम हो जाती है। मालूम है न ? अन्तिम कुछ वर्ष अत्यन्त सद्भाव के साथ रहने के कारण, बाकी के बचे समय में भी सद्भाव के साथ रहने की सोचा हूँ। इसलिए तुम्हारे भी जो ऊपर है वे थोडा जल्दी ही मियाद पूरी कर दे रहे हैं। मुझे पता चल गया है। खत्म होता जा रहा है। यहा का अध्याय समाप्त हाने वाला है।

उसका चिह्न—मैं खत्म होने लगा हूँ। मैं, मेरे सारे स्वप्न, सारी शक्तियाँ, समस्त आसक्ति और वासना के साथ मैं समाप्त हो रहा हूँ।

एक-एक करके सब कुछ चला जायेगा मेरी आशा, मेरी साधना।

(किसकी साधना ? कुछ बनने की ? धत् कभी क्या कोई कुछ हो सकता है भला ? कभी कोई कुछ बन सका है—कोई नहीं। सिर्फ होने की चाह चुभती रहती है। अधिक से अधिक इच्छा के साथ साधना जुड़ जा सकती है।)

सब कुछ चुपचाप खत्म होता जा रहा है। सबको एक एक करके रवाना करता जा रहा हूँ। इच्छा, आशा के साथ-साथ जितना नशा, प्रेम है सबको रवाना करने के बाद सबसे अंत में मैं उठ खड़ा होऊँगा। बाल-बच्चे बीवी को बस में चढ़ाने के बाद जिस तरह बेफिक्र होकर गृहस्वामी पाँवदान पर पाँव रखता है उसी तरह।

(परिजनों के प्रसंग में माँ, मेरी कब की लिखी हुई कविता की कुछ कुछ पंक्तियाँ याद आ रही हैं

"उसके मृत्युकाल में वे लोग सब
पाँव फैलाकर बैठे रो रहे थे
उसके जितने परिजन,
उसकी आशा, उसका प्रेम।
सुर में गा-गाकर
कह रहे थे, 'हम लोगों को क्या हो गया।
हम लोगों के लिए कुछ भी नहीं रख गया है ?'")

जाऊँगा, रख जाऊँगा! बोलकर जाना है इसीलिए ही तो जाने के पहले कलम लेकर बैठा हूँ। थोड़ी देर पहले ही कैदियों की मियाद पूरी होने की बात कर रहा था न मैं ? एक एक करके बहुतों को पत्र देना है। जिसे जो कुछ कहना चाहा है कह नहीं सका हूँ। मन ही मन में पाल रखे पक्षियों को उड़ाने के बाद ही हल्का हो सकूँगा। पिंजड़ा खोल कर कुछ हिंस्र पशुओं को, जो विषाक्त थे, जिन्होंने अपनी जीभ के लार से अब तक मेरे ही अंदर की दीवारों को चाटा है, या फिर नाखून से खरोंचा है, वे लोग अब मौका पाकर दूसरों पर झपट जाएं- झपटें, झपटें न! किसी को काटें, किसी को चाटें बिल्कुल पालतू बनकर। जितना हो सके।

यह सब करने के बाद ही मुझे छुट्टी मिलनी है। कुछ हो सकना और कुछ न हो सकना, जब एकाकार ही हो गया है, उस समय यह थोड़ा सा मोह, एक बूँद ताजे खून की तरह जमा करके रख लिया है।

पर माँ! एक प्रणाम में ही अगर इतना समय निकल जावे तो आँख उठाकर दूसरे लोगों की ओर देखूँगा कब ? देखूँगा कैसे ? उन लोगों को ढूँढ कर लाते-लाते समय खत्म नहीं हो जायेगा ?

सोचा था, "आदरणीया माँ को, "लिखकर एक अध्याय समाप्त कर दूँगा। और एक अध्याय होगा, "सुचरितासु तुम्हें।" 'तुम्हें' यह एक मन्त्र है, जिसमें सबका आवाहन है। अर्पित जो हैं, जो लोग विसर्जित हैं, जो लोग वांछित हैं। 'माँ' को और

तुम्हें—इस सामग्रिष परिकल्पना को, पाँव पड़ता हूँ, इधर-उधर मत कर देना। सब कुछ तुमने अकेले ही क्यों ढक रखा है, श्रावण के सर्वव्यापी मेघ की तरह ?

इसी से तो कहता हूँ माँ, मुझे थोड़ा जल्दी बड़ा होने दो। अच्छा मैं ही थोड़ा पिछली यात्रा का सूत्र पकड़ा दूँ। बाबा का एक खत आया था, याद आ रहा है अब ? कितने दिन बाद, कितने दिन बाद मां ? उस समय तुम काफी ठीक हो चुकी थीं, याने तुम्हारी तबीयत। हालांकि आंख की पुतलियाँ जैसी फीकी-फीकी-सी हो गयी थी, वैसी ही रही।

(सभी चोटों को सह लिया जा सकता है। जो गया, उसके शोक को जिस तरह एक बार सम्हाल लिया था, उसी तरह जो नहीं आया, उसके शोक को भी क्या सम्हाल लिया था ?)

कितने दिन निकल गये मालूम नहीं। इस समय ठीक याद भी नहीं आ रहा है, पर बाबा का पत्र एक दिन आया था, इतना भर याद है।

निवारण डाकिया, जिसे हम लोग निवारण दा कहा करते थे, जिसके मोटे खाकी थैले के लिए हम लोगों के मन मे एक सकौतुक लोभ था, जिस तरह सारे अज्ञात रहस्यों के लिए ही उस आयु मे होता है। वैसा ही। एक दिन देखा, वह बड़ी सड़क छोड़कर हमारे मकान की ओर ही आ रहा है।

हाफते हुए बोला था, "मा! निवारण दा आ रहे है, इधर ही।"

उत्तेजित होने वाली ही घटना थी। इधर आते थे सिर्फ सुधीर मामा। उनके चले जाने के बाद, डाकिया तो दूर रहा खास कोई भी हम लोगो के मकान की ओर नही आता है।

"निवारण दा आ रहे हैं माँ।"

तुमने निरुत्सुक स्वर मे कहा "आने दे।" तुम्हारा उगली पर गिन गिन कर नाम जप करना चल रहा था, चलता रहा। पर मैं नहीं रुक सका। निवारण दा की ओर बेतहाशा दौड़ता रहा। बीच रास्ते मे ही उसे रोककर हाथ फैलाते हुए कहा, "दा।"
वह हल्के-हल्के मुस्करा रहा था, "क्या दूँगा, बताओ तो जरा ?"

"चिट्ठी, और क्या।"

उसने कहा, "उहूँ। चिट्ठी से भी भारी। इसका नाम इन्श्योर है। अन्दर तीस रुपये हैं। मा के नाम से। माँ की सही लगेगी।"

तब मैं निवारण दा के आगे-आगे दौड़ने लगा, तुम तो शायद 'आने दे' कह कर रसोई मे घुस गयी होगी। तुम्हे दूध लाना होगा न।

दरवाजा भिड़ा हुआ था, और क्योंकि मैं उस समय भी रुका हुआ नहीं था, दौड़ता ही रहा। इसलिए कपाट फटाक से खुल गया। कौन तो अस्फुट स्वर मे बोल उठा, "उह!"

तुम्हे लिखा गया बाबा का पत्र। तुम क्या इतनी दूर तक निरासक्त हो गयी थी माँ, कि पत्र के शुरू मे ही लिखा था, "प्राणाधिकेषु" उसका भी खयाल नही रहा। पत्र मेरे हाथ मे थमाते हुए थोडा भी सकोच नही हुआ ?

उस समय उतना समझ नही पाया था, अथवा गहराई से सोचा नही था, छाती धडक रही थी, मुट्ठी के अन्दर मुडे हुए नोट—मैं टेढे-मेढे अक्षरों को जल्दी-जल्दी पढने की कोशिश करता हूँ। पढने के बाद भी पत्र को किसी बहुत बडी खबर की तरह मुट्ठी मे पकडे रहा। मेरी आखें दप्-दप् कर रही थीं। बहुत उत्तेजित हो उठा था मैं। कापती आवाज मे बोला, "मा! हम लोग यहा से चले जायेंगे। बाबा ने जाने के लिए लिखा है।"

तुम निस्पृह थी, मानो उस समय भी समझ नही पाई हो, ऐसा भाव बना कर बोली, "कहा ?"

"कलकत्ता। वही से बाबा ने पत्र लिखा है। नौकरी मिल गयी है याने ले ली है।"

"कहा ?"

विराट शब्द भण्डार का क्या वही एकमात्र शब्द तुम्हें आता था, "कहाँ, सिर्फ "कहा।"

जोर देकर बोला, "थियेटर म, मून थियेटर म। मून थियेटर क्या बहुत बडा थियेटर है माँ ?"

"पता नही।"

"पढो न! अच्छा अच्छा मैं ही पढता हूँ। तुम सुनो। बाबा ने लिखा है, "दक्षिण की ओर जाने के लिए निकला था, पर पुरी के बाद और आगे जाना सम्भव नहीं हो सका। बुखार हो गया। ऊपर से एक बात और हो गयी। एक धर्मशाला मे पडा हुआ था। एक दिन सुबह उठकर देखता हूँ, साथ मे जो थोडे बहुत पैसे थे, वह नही है। मेरे ज्वर-विकार के अवसर पर न जाने किसने हाथ साफ कर दिया था। वह तो किस्मत से मैंने फतुए की जब मे अलग से पाँच रुपये का नोट रख दिया था,

वही रह गया था। अर्थशोच नही था। जो कुछ गया वह तो सामान्य था। गया अच्छा हुआ। उसी दिन चन्द्रतीर्थ के सैकत पर खड़ा होकर सूर्योदय प्रत्यक्ष करके, आनू मैं एक नए रूप मे आविष्ट हो गया। अचानक बुखार मानो उसी दिन छूट गया। उसके साथ ही छूट गयी मेरी कुछ धारणायें और संस्कार का भूत सचय चला गया, पर एक दूसरी तरह की अनुभूति का संचय मानो शिराओ मे सचारित होने लगा। आनू ! तुम्हें क्या मैं उसे समझा पाऊँगा ? तुम क्या उसे समझ पाओगी ?"

"मेरे सामने समुद्र है। अब तक समुद्र को बाधा-बन्धनहीन सदा हास्यमय ही देखा है—दूध पाउडर से दांत मांजने पर जैसी झाग होती है, कुछ वैसा ही। आज देखा सफेद नही लाल भी है—झाग के साथ मानो दांत के जड मे खून मिल गया हो। हालांकि असल मे सुबह का सूर्य पानी के लहरो मे अपनी छाया देखकर, आह्लादित होकर स्वय को सैकड़ा टुकडों में बांट दे रहा था, यह उसी का दृष्टि भ्रम था।

"दृष्टिभ्रम ? इसे भ्रम भी कैसे कहूँ। नयी दृष्टि ! पहले सोचता था, समुद्र मोहहीन, उदासीन होता है। पर अब वह रक्त देखकर लगा, समुद्र को भी दुख है। पहले देखता था, वह ढेर-ढेर सारी सीपियों को तट पर फेंक जाया करता है। पीछे मुड कर देखता भी नही है, पर उस दिन देखा, ऐसी बात नहीं है। वह बार बार पागल की तरह लौट भी आता है। सिर पटकता है व्याकुल होकर। उसके निकट अन्तरिक्ष का चन्द्र-सूर्य जितना बडा सत्य है, स्थिर तटभूमि का आकर्षण भी ठीक उतना ही बडा सत्य है। शायद जो कुछ रख गया है, उसे फिर से बटोर लेना चाहता है। शायद स्वय को बिल्कुल खाली करने के बाद भी कुछ और देना चाहता हो। तटभूमि उसे बाधकर नही रख पाती है, बल्कि घिस घिस कर स्वय नष्ट हो जाती है। तटभूमि की यह अपनी व्यर्थता है।"

"समुद्र के वैराग्य को देखा है। उस दिन प्रभात को रक्तिमा ने उसकी आसक्ति को दिखला दिया। जो मछेरे लहरो के साथ बहुत दूर निकल गये थे, देखा व लोग फैलाये हुए जाल समेटे लौट आ रहे हैं।"

"तब तय किया कि मैं भी लौटूगा। मुझे भी जाल समेटना है। किनारे पर लौटना ही होगा—वह दृश्य उसी का इंगित है। साथ में जो कुछ था, हिजली तक आते ही समाप्त हो गया। वहा से ग्राम-ग्रामान्तर घूमता हुआ यहा नदी, वहा वन पार करते हुए, किसी गृहस्थ का आतिथ्य ग्रहण करते हुए अन्तत पैदल ही कलकत्ता पहुँचा।"

"ऊपर पता देखा है न ? आनू, मैंने मून थियेटर में नौकरी कर ली है। हालाकि बिल्कुल थियेटर नही है यह, थियेटर सलग्न छापेखाना मे काम करना है। उन लोगों का अपना ही छापाखाना है। थियेटर के पोस्टर हैंडबिल, प्रोग्राम यहाँ तक कि कभी कभी नाटक-वाटक भी यहा छपते हैं। सो यहीं हूँ। क्योंकि, दूसरी जगहो पर भी कोशिश करके देखा था, पर बात जमी नही थी। व सारे व्यापार

जो मेरी सहायता और श्रम से स्थापित हुए थे। जैसे इंडियन ट्रङ्क कम्पनी, अभी भी वे लोग स्वदेशी के नाम पर अच्छा-खासा व्यापार कर रहे हैं, देखा व लोग मुझे अब पहचान ही नही पा रहे हैं।"

"या फिर तुम्हे याद है, उस नेशनल सोडा—वही मिसलेनियस इंडियन मैनुफैक्चरिंग कम्पनी—सक्षेप मे एम० आई० एम० अर्थात् 'मिम', का! मेरे द्वारा ही प्रतिष्ठित हालाकि रुपया एक मित्र सजीव राय का लगा था, पर चदा उगाहने और परिश्रम मेरा ही था। उसी 'मिम' का प्रथम उत्पादन हुआ—"नवीन लेमानेड" और "मधु लेमनस्क्वाश।"

(क्योकि मैंने देखा था जितने भी विलायती सोडा आदि थे, सबके नाम बायरन, मिल्टन या स्पेन्सर था। इसलिए अपने उत्पादनो का नाम देशी कवियो के नाम से नामकरण किया था)

—सोचा था स्वदेशी जागरण के कारण खूब चलेगा। रोज मैदान म रैम्पट के आसपास भिजवाता रहा। कितने यार-दोस्त रोज आकर पी जाते, पैसा नही देते थे। सिर्फ हिसाब अलग खाते मे लिखा रहता। और भी क्या कुछ बनाने की सोचा था, पर जेल चला गया। बाहर आकर भारत-भ्रमण के समय देखा कहा गया वह 'मिमको?' कारबार पहले ही बेहाल हो गया था अब ताला झूल रहा है।"

"उसके बाद वही 'कबरी कल्याण तेल' जो तुम्हे भी एक शीशी दिया था, याद है? और था 'सौन्य मल्हम' (अंग्रेजी मे ब्युटी बाम) खूब चल रहा है। पर जिन लोगो ने काम अच्छा सम्हाल लिया है, उन्होंने मुझे काम नही देना चाहा। और ज्यादा भागीदार की जरूरत उन्ह नही थी। गाधी-इर्विन सधि के बाद फिलहाल आदोलन बन्द है। सोचता हूँ, इससे तो बल्कि क्रांतिकारी होना अच्छा था। बहुत होता कालापानी या फिर फासी पर चढ जाता। पर विश्वासी मित्रो की यह प्रतारणा!"

'हालाँकि यह भी हो सकता है कि मैं ही उन्हे गलत समझ रहा हूँ। जिस अशान्त प्रणव कुमार को वे लोग पहचानते थे, मैं तो अब वह नही हूँ। शान्त, आश्रय प्रार्थी इस प्रणव की उन्ह अब कोई आवश्यकता नही है।"

"इसलिए मूनथियेटर ही। काम खराब नही है। मुझे इस प्रेस का मैनेजर ही कहा जा सकता है। वेतन फिलहाल पचास रुपये। बाहर का काम लाने पर अलग से कमीशन। फिर इसके सिवा, थियेटर कम्पनियो के साथ जान-पहचान। थोडा सयोग। हो सकता है कभी भविष्य मे मेरा कोई काम बन जाए, कैसा काम बन सकता है, उसे पत्र में खोलकर नही लिख रहा हूँ। यहाँ तुम लोगो के आने पर बताऊँगा।"

"जल्दी चली आना। तीस रुपये भेज रहा हूँ। रेल का किराया पाँच रुपये के लगभग है। बाकी रुपया से जिसका जो कुछ देना है, मिटा आना। आने की सूचना पहले से दे देना, स्टेशन पर रहूँगा।"

"सबसे बड़ी बात यह है कि, अब और अकेले नहीं चल पा रहा हूँ। उम्र बढ़ रही है। होटल का खाना अब रुचता नहीं। फिर अब थोड़ा आराम चाहता हूँ। एक मकान देख रखा है। तुम लोगों का पत्र पाते ही उसे ले लूंगा। आनू, इतने दिन बाद अपना एक छोटा-सा नीड़ बनाने का जो सपना है, आशा है उसे तुम निश्चय ही पूरा करोगी। क्या नहीं करोगी ?"

पत्र में और भी दो-चार लाइनें थी। मेरे बारे मे पूछताछ, आशीर्वाद आदि। पर ज्यों ही मैं यहाँ तक पहुँचा, "करोगी नहीं ?" वैसे ही मा, तुमने कागज छीन लिया और फिर उसे टुकड़े टुकड़े करते हुए तुमने कहा, "झूठी बात है।'

तुम्हारी आवाज कितनी रूखी थी! तुम्हारी आँखों मे कैसी आग थी! तुमने कहा, "सब झूठ बात है। विश्राम, शांति वह सब कुछ नहीं। सिर्फ बातों की चालाकी है। जिस भाषा म वह नाटक लिखता है, उसी नाटक के कुछ पन्ने फाड़ कर भेज दिया है।"

आँगन मे सूखने के लिये फैलायी गयी कच्चे मूंग की दाल की बड़ियो पर कुछ चीलों की परछाई पड़ने लगी थी। टोकरी मे बड़ियाँ समेटते हुए तुम और भी कठोर हो गयी थी। बोल पड़ी थी, "नही जाऊँगी। हरगिज नही जाऊंगी। सब कुछ उसकी मर्जी से होगा! हमेशा मुझे लेकर उसका जो मन चाहा है किया है। सब कुछ चुपचाप सहा है। समुद्र-फमुद्र सब दो दिन का खयाल है। अचानक जो मन मे आया है वही लिखा है। यहाँ फिर भी एक जगह स्थिर होकर बैठी हुई हूँ। अपने घर मे सिर घुसाए पड़ी हुई हूँ। यहाँ से सब कुछ उठाकर कलकत्ता ले जाकर, भगवान जाने फिर किस नयी मुसीबत मे डाले! अगर फिर कही वह भागे ? इस बार तो समुद्र ने उसे लौटा दिया, फिर कहीं किसी तूफान ने उसे बुला लिया तो ? देखो वह सब काव्य करना मुझे भी आता है। मैं उसे पहचानती हूँ। मैं नहो जाऊँगी। मुझे वह पूरी तरह अपने चगुल मे फसाना चाहता है, क्या मैं इतना भी नही समझती हूँ ?'

यह सब कहते समय माँ तुमने खत के टुकड़े-टुकड़े कर दिये। गनीमत थी उत्तेजित होकर तुमने नोट नही फाड़े।

(सिर्फ तुम्हारी ही नही, सब मनुष्यो की ही बराबर एक ही रीति देखी है। उसका एक हिस्सा अंधा, बेहिसाबी, आगापीछा नहीं सोचने वाला होता है—और दूसरा हिस्सा उतने में भी बहुत सतर्क और सावधानी होता है)।

"किसी हालत मे नहीं जाऊंगी", यह भी तुम्हारा अंतिम कथन नहीं था। जिस नियम के कारण पत्र फाड़ने के बावजूद नोटों को सम्हाल लिया था, उसी विचित्र नियम के हेरफेर के कारण तुमने कलकत्ता भी तो जाना चाहा था। नहीं, वहा सिर्फ एक घर बसाने के लोभ से नहीं। दरअसल मे, यह जगह क्रमश कैसा तो शून्य-सा होता जा रहा था। दादा नही है। सुधीर मामा का प्रस्थान—अभ्यस्ता म

एक और पटानेर। किसी नयी आदत मे स्वय को ढाला जा सकता है कि नही तुम मन ही मन मे उसी के लिए व्याकुल हो उठी थी। उसी समय बाबा की चिट्ठी आयी थी। उतनी जोर-जोर से बोल जो पडी थीं, "नही-नही नही", वह क्या उसी व्याकुलता को ही ढँपने के लिए? हाय मन हाय उसका तत्व। मैं थोडा बहुत ही उसका समझ पाता हूँ। अधिकाश मेरी समझ के बाहर है।

नही, अकेले मुझे लेकर तुम पूर्ण नही हो पा रही थी। दादा के लिए हताशा, मेरे लिए स्नेह, किसी नवागन्तुक की सम्भावना की समाप्ति। बाबा की अनुपस्थिति, सुधीर मामा का अन्तर्धान यह सब मिलकर भी तुम्हें हर समय के लिए ढँक नही रहा, क्योंकि इतना रख ढक कर कहने की अब क्या जरूरत है माँ! साफ बात यह कि तुम उस समय भी युवती थी।

तुम उस समय भी युवती थी, यह मैं हिसाब लगाकर देखने के बाद बता रहा हूँ। वरना, इस पत्र में प्रारम्भ में ही तो कहा है, तुम्हे किसी भी उम्र मे मैंने युवती नही समझा है। माँ—मेरे लिए सिर्फ माँ - जो माँ है, वे स्वय युवती हो सकती हैं, यह मैं उस समय आयु मे सोच भी नही सकता था। हालांकि देखो, तुम्हारी उस समय जो उम्र की स्त्रियो की मैंने परवर्तीकाल मे प्रार्थना, यहा तक कि कामना भी की है। उम्र सिर्फ दृष्टि शक्ति ही नहीं, बल्कि देखने के ढग को भी बदल देती है। यदि यह स्वीकारोक्ति असह्य लगे तो क्षमा करना।

उस समय कितनी रातें तुमने बिना सोये गुजारी हैं, वह सिर्फ शोक अथवा वात्सल्य के कारण ही नहीं। शरशैय्या की कहानी महाभारत के लेखक को कहाँ से मिली थी, मालूम नही। मैंने तो बाद मे जाना था कि विनिद्र अन्धकार रात्रि का नाम ही शरशैय्या है। प्रत्येक तारा, एक-एक चुभता हुआ तीर होता है—सिर्फ क्या पीठ पर? सीने मे भी बिंधता है।

(उस समय मालूम नही था। तुम्हारी उस कटकित विनिद्र रात मे मैं नही होता था। मैं नही, हम लोग कोई भी कही नही होते थे।)

पर माँ! तुम भी धीरे-धीरे मुझसे कुछ दूर नहा होती जा रही थी! ठीक कब से याद नही। थोडा भटकने लग गया, पर वह तो कलकत्ता जाने के बाद से शुरू हुआ था। बारीक आवाज सुनते ही सिर चकराना, गाल पर मुहासे, आँख के नीचे कालापन, यह सब तो बहुत बाद की बात है। शर्म को बचाये ताक रखकर चुपचाप तुमसे पूछ रहा हूँ, एक दिन सुबह बिस्तर ठीक करते समय चादर मे एक दाग लगा हुआ तुम्हे दीखा था, याद है? जब बहुत छोटा था, उस समय भी चादर गीली किया हूँ—वह दूसरी बात थी। उसके लिए डांट भी खायी थी तुमसे। पर उस दिन तुमसे डांट तो नही मिली! तुम न जाने किस तरह तो अपलक मेरी ओर देखती रही। मेरे बडे हो जाने का भय था?

इन सब बातो के लिए तो अभी ढेरो समय पड़ा हुआ है। पहले, उस समय का अध्याय समाप्त करूँ। हम लागो की वहा की गृहस्थी उठाने की बात करूँ।

तुमने कलकत्ता जाना नही चाहा था, पर वहा रह भी नही पा रही थी। भीतर ही भीतर अस्थिर हो उठी थीं। मैं, सुधीर मामा और बाबा इन तीनो को लेकर ही तुम थी। एक से तुम प्यार करती हो, तो दूसरा तुम्हें चाहता है, और एक तुम्हे बडी तीव्रता से अपनी ओर खीच रहा है—इस रस्साकशी मे तुम्हे असहाय हो जाते मैंने देखा है।

चली जाओगी। मिटा जाओगी यहाँ की सारी स्मृतियाँ—सब कुछ। हम लोग तैयार हो रहे हैं। कलकत्ता, चिट्ठी गयी है। मेरे नाम से। बाबा को, ताकि स्टेशन पर आ सके। सामान बँध चुका है, पर दादा की तस्वीर? माँ! उसे उतारने में तुमने उतनी देर क्यो लगायी? तुम्हारे हाथ काँप क्यो रहे थे? चलो मान लेते हैं वह स्नायविक अधीरता थी, पर

तस्वीर उतारते समय शीशा कैसे चूर-चूर हो गया? क्या असावधानी के कारण? अचानक ही वैसा हो गया था अथवा जानबूझकर? क्या यह यहा का चिह्न लोप करके अपने अज्ञात मे ही नये हो जाने की इच्छा थी? तस्वीर का शीशा मेरी आखों को चुभ रहा था। और जब तस्वीर उठाने गया तो देखा दीमक ने उसे बिल्कुल खस्ता कर दिया है। मा! क्या इतन दिन से तुमने इस ओर ध्यान नही दिया था, अथवा समय के आगे हम सब भिखारी हो गये? सब कुछ खस्ताहाल! तस्वीर की कागज ने लेकर दीवार का चूना, बालू-पलस्तर सब कुछ?

सो दादा हम लोगो के साथ नही गये।

वही स्टेशन, जहाँ से एक दिन लौट आया था। वही ट्रेन, जिस ट्रेन मे एक दिन बाबा को चढ़ा आया था। गाडी चलने लगी। मैंने महसूस किया, हम लोग सब कुछ छोडे जा रहे हैं। हम लोग दो जन यहाँ की सारी चीजो को, दादा को छोड़ जा रहे हैं, अथवा रख जा रहे हैं—अपने को भी!

दरअसल हम लोग बाद मे जान पाये हैं माँ कि, कुछ भी, कभी भी साथ नही ले जाया जा सकता। स्वय को भी। सब कुछ छोड-छाडकर फेंक जाते हैं, पर सोचते हैं कुछ लिए जा रहे हैं। जो कुछ साथ लते हैं, उसका नाम स्मृति है, विवर्ण एक तस्वीर है। दीर्घ काल के बाद जिसे पढ पाना भी सम्भव नही।

हम लोग भी उस दिन सब कुछ रख कर चले आये थे। हम लोग जा रहे हैं, पर जो हम थे, उसे ही रखे जा रहे हैं। जा लोग जा रहे हैं वे कुछ नया बनने जा रहे हैं।

पिछली बार जब नही जा सका था, तो कितना रोया था। और इस बार जब सचमुच ही विदा होने लगा तो, आँख में एक बूँद पानी भी नहीं! पर इसमें शायद आश्चर्य करने वाली बात कुछ नही है। अब देखो न, एक बार जब तुम्हें तीन चार दिन तक नही देख पाया था। तो कितना-कितना रोया था, और अब जब कुछ मान

पड़ने तुम्हारे न रहने का समाचार मिला था, तब ? क्या मैं पहले जैसा रो पाया था ? नहीं माँ, बिल्कुल नहीं। पर इसके लिए तुम मुझे क्षमा करना। यह मेरा नहीं, उम्र का दोष था। उँगलियों में गाँठ पड़ने के साथ-साथ मन में भी गाँठें पड़ने लगती हैं। जल का उत्स सूख जाता है।

इसलिए माँ ! मेरे प्रगाढ़ यौवन काल में तुम्हारी मृत्यु, मुझे रुला नहीं पायी थी।

*   *   *

ट्रेन चल रही है। तुम लगातार जाप किए जा रही हो। बीच बीच में ट्रेन की डगमगाहट के कारण मेरे ऊपर लुढ़क-सी जा रही हो। जप करना रोककर, मुझे उँगली के इशारे से बाहर के दृश्य देखने के लिए कहती हो। दूर उड़ते बगुले। पास के घास के खेत लाइन के किनारे खिले फूल। खेत की पगडण्डी से होकर गुजरती पालकी ढेर सारी चीजों से हम लोगों का परिचय होता जा रहा था। मेल ट्रेन हर स्टेशन पर नहीं रुकती है। जहाँ नहीं रुकती है, वहां के लोग कैसी तो एक खामोश शिकायत लिए खड़े रह जाते हैं न !

इस तरह शाम हुई। किसी एक बड़े स्टेशन पर गाड़ी के रुकते ही, एक आदमी एक बाल्टी और पीतल का जग लिए, हिंदू पानी, हिंदू पानी का हाँक लगा गया। चाय, सिगरेट की हाँक लगने लगी। एक आदमी एक बड़े-से थैले में कुछ लिए चढ़ा और भाषण देने लगा। तुम उतनी भीड़ में घूंघट निकाले बिल्कुल दूल्हन की तरह बैठी थी। तुमने मेरे कान के पास मुंह लाकर फुसफुसाहट में पूछा था, "इसके *थैले में क्या है ? क्या बेच रहा है वह ?"*

"मीठा मसाला बेच रहा है माँ।"

इस गाड़ी में मैं भी नया था, फिर भी मुझे सब पता था। तुम्हारी तुलना में मैं उस समय ही बड़ा हो गया था क्योंकि तुमने मेरा गाल दबाते हुए कहा था, "मरद है न !"

वह आदमी इधर ही देख रहा था, भरोसा पाकर आगे बढ़ आया, "लोगी माँ ? लीजिए न ! एक पैकेट एक पैसा। तीन एक साथ लेने पर दो पैसा।

तुमने आंचल की गाँठ खोली। चुटकी भर मसाला मुंह में डालते हुए कहा, कितना ठण्डा है रे ! जितना ठण्डा है, उतना ही मीठा। हम लोग पान के साथ जायत्री, जैफल, इलायची यह सब खाते हैं, पर इसकी तुलना में यह सब कुछ नहीं है।"

वह आदमी खुश होकर बोला, "और दूँ माँ ?" तुमने फिर से आँचल खोल कर पूरे एक आने का खरीद लिया। सो जब थोड़ी देर बाद एक अंधा लड़का गाने लगा, "अंधोकारेर अंतोरेते ओश्रु बादल झरे रे—" तब तुमने आँख पोंछते

भी नही, वही विशालकाय घनश्वास विलासिनी मुझे अपने रूप रसगन्ध के मोह जाल में आवेष्टित करेगी।

(वह रूप! अब नही दिखता है। वह गन्ध! अब नही मिलता है। मेरी आँख और नाक चली गयी, अथवा वह रूप और गन्ध ही उड गयी? पर उस समय पाता था। चूना-बालू नाली की झझरी, रोशनी मे लिखे गये विज्ञापन, काले पिच पर नक्शे सब मुझे तन्द्राग्रस्त-सा कर देते थे, हालाँकि उस समय तक नगर जीवन के बिल्कुल गहरे तक नही पैठ पाया था। वह तो आरम्भ था। स्वाद मिलना शुरू ही हुआ था।)

भडकीले स्टेशन पर बाबा ही आये थे। तुम घूघट काढ, सिमटी-सिकुडी-सा, वहीं पर पाव छूकर प्रणाम करने गयी।

बाबा बोले, "हूँ हूँ! यहाँ नही, यहाँ नही। यहाँ सबके सामने कोई पाव मे हाथ देकर प्रणाम नही करता है। लोग हँसेगे, देखेगे, और फिर झुकी नहीं कि धकियाते हुए चले जायेंगे। देख नहीं रही हो, कितनी भीड, कितनी भीड है! ओ कुली! उधर नही, इधर-इधर "

बाबा थोडा बदल गये हैं। हम लोगो के गाँव के मकान मे जैसा देखा था, उससे थोडा दुबले, पर और तरफ से थोडे कम उम्र के। हृष्ट पुष्ट भाव कम हो जाने के कारण बाबा थोडा कम गुस्सैल दिख रहे थे। भौंहो के बीच मस्सा है या नही, मैं देखने लगा।

बाबा एक हाथ से मुझे पकडे हुए थे, दूसरा हाथ तुम्हारी ओर बढा दिया। तुम पीछे हटने की कोशिश मे ठोकर खा गयी। बाबा बोले, "पकडो-पकडो। यहाँ उतनी छुई-मुई बनी रहने से भीड मे पिस जायेगी।"

पर मा, तुम तो छुई-मुई-सी तो थी नही। तुम्हारा घूघट अपने आप हो खिसक चुका था। तुम गर्दन उठाये इधर-उधर अवाक होकर देखे जा रही थी।

बाबा ने टोका, "सामने देखकर चलो, वरना ठोकर खा जाओगी। यहा यही नियम है।"

पर मैं बाबा की कलाई बडी मजबूती से थामे हुए था। नियम कौन-सा है? सामने देखकर चलना, अथवा ठोकर खाना? ठीक समझ नही पा रहा था।

माँ, तुम रह-रहकर कनखी से मेरी ओर देखे जा रही थी। इशारे से अपने साथ रहने के लिए कह रही हो। बाबा ने तुम्हारा हाथ पकड रखा है, और मैं बाबा का हाथ पकडने के लिए खोज रहा हूँ। इस तरह हम तीनो का पहली बार का एक साथ मिलकर कलकत्ता में चलना शुरू हुआ।

आज पीछे मुडकर देखते हुए सोचता हूँ, कहीं वह भी कोई प्रतीक तो नहीं था! अज्ञान म मा! पहली बार क्या तुम्हारा हाथ छोड दिया और किसी और को ढूढ लिया?

माँ, तुमने मन्दस्वर मे कहा था, "इस्स ! पहले भी तो आयी हूँ। वही मामियों के साथ बचपन मे एकबार। उस समय भी लोग ठसे पड़े थे, पर अब तो समझना ही मुश्किल है। यहाँ कितने आदमी होंगे—दस हजार ?"

"क्या कह रही हो ? सिर्फ दस हजार ? उससे कही सौ या दो सौ गुणा या फिर उससे भी अधिक। अन्दाज लगाओ, उस समय स्रोत था, अब समुद्र हो गया है।"

"तुम्हारा वही समुद्र !" तुम्हारे चेहरे पर उदास-सी हँसी। "मैंने समुद्र नही देखा है। एक बार देखूँगी।"

"कुली ! कुली ! ओ कुली !" बाबा कुली के पीछे-पीछे चले गये। यहाँ वे अलग किस्म के क्यो लग रहे हैं, वह अब समझ मे आ रहा है। यह शहर सचमुच ही बहुत विराट है, पर यहाँ बाबा भी सप्रतिभ, फुर्तीले, चतुर बने हुए अपना काम किये जा रहे हैं। उन पर मेरी श्रद्धा बढ़ गयी।

(उस समय मुझे क्या मालूम था कि, यह सब कुछ नही है। चुटकी बजाकर शहरीपन के शिखर पर चढ़ा जा सकता है, पर चढने के बाद फिर कोई मजा नही रहता है। मैंने भी तो चढकर देखा है। इस समय की शल्य विद्या की भाषा मे कृत्रिम हृदय सयोजन करके उसका स्पन्दन सुना है, पर हृदपिंड और प्राण एक नही है।)

उस दिन मैं मोटर के भोंपू, ट्राम की चुटिया पर बिजली की चमक, मेवे की दूकान पर कटे हुए नासपाती के गन्ध से, पक्की सड़क पर फिटन गाडी की ठकठक सुनकर मस्त हो उठा था। एक ही साथ मैं विस्मय और दीनता से आच्छन्न हो गया था। अपनी सरलता का अतिक्रम करूँगा, ग्रामीणता को अस्वीकार कर, शहरी बनूगा—यह सकल्प भ्रूणाकार मे मन मे गठित होने लगा था। और इसलिए

और शायद इसीलिए माँ कलकत्ते की मिट्टी पर—मिट्टी ही सिर्फ कैसे कहूँ, शाण, पत्थर और शाण। यहाँ तो मिट्टी की भी खरीद-बिक्री होती है—कलकत्ते मे पाँव धरते ही तुम्हारा हाथ छोड दिया। हालाँकि तुम्हारी पतली असहाय उँगलियाँ उस समय भी मुझे ढूढ रही थी।

(उस समय क्या पता था कि, शहरी आदतें, हाव भाव यह सब मेकअप की तरह है। इन्हे प्रलिप्त करने मे समय नही लगेगा। एकदम दूसरा चेहरा बन जायेगा, पर मुश्किल तो उस समय आती है, जब अपने स्वरूप मे लौटना चाहता हूँ।)

गाडी दौड रही थी। भीतर अँधेरा है। तुम-मैं एक तरफ, बाबा दूसरी तरफ। झाँक कर देखता हूँ। एक रोशनी बार-बार जलती है, फिर बुझ जाती है। पूछा, "बाबा, वह क्या बिजली है ?"

"बिजली ?" बाबा ने कुछ सोचा। "ठीक बिजली नही गैस है। नियॉन। बिजली की तरह दीखता है।"

('की तरह दीखता है'—उस समय अगर आख कान अभिज्ञ होते तो इस

शहर के एक दूसरे चरित्र को भी देख पाता। यहाँ जो चीज जैसी दिखती है, वह वैसी होती नहीं है।)

गाडी चल रही थी। बाबा ने तुम्हारे पाँव के ऊपर हलके से एक हाथ रखा। बोल रहे हैं, "उसके बाद"?

"किसके बाद? बाद मे जो कुछ है वह सब तुम्हारे हाथ में है। सब कुछ मिटाकर ही यहाँ आयी हूँ।"

"वह तो ठीक बात है।" बाबा ने क्या हल्के से खाँसा? "सब कुछ चुकाकर ही तो आयी हो। मैं कह रहा था कि आखिर तुम आ ही गयी।"

"आ गयी।"

"दोनो जन?"

"दो जन। सिर्फ दो जनें।" साँस रोकने के लिए तुमने बाहर की ओर शायद मुह घुमाया। मा, तुम्हे क्या लग रहा था? धीरे-धीरे बाबा का हाथ ठेल क्यो दे रही थीं?

"तीन जन हो सकते थे।" बाबा कुछ-कुछ स्वगत स्वर मे बोले।

"वह तो चला गया है।"

"कितने जन?"

"पता नहीं।"

"इस समय दो जन? तीन जन क्यो नही हुए?"

पाव पडता हूँ, तुम लोग थोडी सहज भाषा में बात करो न, ताकि मुझे भी समझ मे आये।

"नही हुए। शायद भगवान की मर्जी नही थी?"

"भगवान की या तुम्हारी? ठीक-ठीक बताओ तो। वह आया नही, या तुमने जानबूझ कर ही उसे आने नहीं दिया?"

तुमने मुह घुमा लिया। सिर गाडी के बाहर निकाल दिया। सरसराती ठडी हवा। तब मैं मा बेजार होकर बुद्धू की तरह बोल उठा, "क्यो हम लोग तीन जन हो तो हैं। आप मैं और माँ। आपको लेकर तीन जन।"

'हूँ, मुझे लेकर तीन जन।" बाबा ने अन्यमनस्कभाव से कहा। फिर अचानक सीधे होकर बैठते हुए कहा, 'आह हो! भूल गया था और भी तो एक जन था?"

मा तुम चौंक गयी। बोली, "कौन?"

बाबा ने सीधा-सा कोई उत्तर नही दिया। अपने घुटने पर टकोर देते हुए बोले, "था तो वही एक जन! उसने तुम्हे आने दिया?"

तुम माँ अनायास ही इस बात को उडा सकती थी फिर भी न जाने क्यो कठोर हो उठी! उस धुंधली रोशनी मे भी तुम्हारे जबडे कस जाते हुए देखा। उसके बाद ही माँ, अचानक तुम्हे नरम होकर लोट जाते देखा। दोनो हाथ से मुह ढँक लिया है। अनुनय यहाँ तक कि प्रार्थना करने के स्वर मे बोल रही हो, "यहाँ भी

उन बातों को खींच लाने की क्या जरूरत है ? समुद्र फमुद्र—यही तुम्हारा नया होना है ? पत्र में फिर क्या वह सब बकवास ही लिखा गया था ? हम लोगो को यहाँ लाये हो नये सिरे से सब कुछ शुरू करने के लिए। बढा चढा कर पत्र मे कितना कुछ तो लिखे थे। वह सब क्या झाँसा देने के लिए था ?"

बाबा चुप रहे।

और ठीक उसी समय, मैं एक बेवकूफी कर बैठा। मैं बडा हो गया हूँ। मेरी भी बुद्धि है, बाबा के पास माना उसी को जाहिर करने के लिए फटाक से बोल बैठा, "सुधीर मामा तो नहीं हैं, वे तो चले गये।"

बाबा अपलक दृष्टि से देखे जा रहे थे। बीच के मस्से को साक्षी रखकर क्या दोनों भौंहें फिर से जुड गयी ? इस शहर म इतनी रोशनी है, पर इस गाडी के अन्दर कितना अँधेरा है। खून सूख कर जिस तरह काले-काले धब्बे बन जाते हैं, उसी तरह सूखकर जमा हुआ अँधेरा, बडी भयकर घघर ध्वनि के साथ घोडा गाडी दौड रही थी।

"क्या सोच रहे हो ?" तुमने बहुत धीरे से पूछा, मानो डरते हुए ही इस बार शायद बाबा के हाथ पर हाथ रखा।

"सोच रहा हूँ।"

"अपने किसी नये नाटक के बारे मे ?"

स्थिर दृष्टि से देखते हुए बाबा धीरे से बोले, "हा यही हम लोगो के नये नाटक के बारे मे।"

काफी देर बाद बाबा ने गर्दन बाहर निकालते हुए कहा था, "ओ कोचवान। रोक के भाई। नही-नही दाहिनी गली, दाहिनी गली। थोडा और अन्दर चलो। अच्छा यही, बिल्कुल रोक के।"

हम लोगा की ओर देखते हुए बाबा ने कहा, "हम पहुँच गये हैं।"

— * * *

न जाने कितने वर्ष बीत चुके हैं, पर मैं अभी भी ठीक से समझ नही पाया हूँ कि बाबा ने उस दिन जो कुछ कहा था उसका मतलब क्या था। वहाँ पहुँच गये हैं ! कभी-कभी लगता है, अलीक, अद्भुत एक धारणा थी। कभी-कभी लगता है उस दिन सचमुच क्या गाडी वहाँ रुकी थी, जहाँ बुझ सी आयी एक गैस बत्ती साक्षी थी ? क्या जाने शायद सब कुछ भ्रम ही रहा हो।

जो कोचवान, अदृश्य कोचबक्से मे बैठता है, किसी की बात नही सुनता है। रुकता भी नही है, न कही किसी को पहुँचाता है सिर्फ गाडी हँकाये जाता है। मैं अपने प्रथम दिन की स्मृति से उसके अस्तित्व के सबध मे अस्वस्ति ग्रस्त रहा हूँ उसके तौर-तरीके के प्रति शकातुर रहा हूँ। रह-रह कर उसके चाबुक की साँय-साँय की धमकी सुनता हूँ। शायद मेरी भ्रान्ति हो, पर मैंने अभी तक उसे पाल रखी है।

* * *

"यही मकान है ?"

"हाँ, यही है।"

पैसेज मे रोशनी नहीं थी। उसी समय क्या महसूस हो गया था कि यह शहर एक ही साथ उघडा हुआ और गोपन है। अलग-अलग जगहो पर अलग-अलग तरह का। यहाँ प्रकाश, वहाँ अँधेरा। बहुतो के साथ उसकी कई तरह की लुकाछिपी।

"यही मकान!" बाबा ने कहा, मानो कोई अमोघ निर्देश हो। हाथ बढ़ा कर पहले मुझे उतारा। तुम हैंडिल पकड कर किसी तरह अपने को सम्हालती हुई उतरो।

रोशनी नही थी, इसलिए बाबा को माचिस जलानी पडी, सामान उतार कर ड्योढी पर रखा गया। पूरा एक रुपया पाकर कोचवान खुश होकर सीटी बजाता हुआ चला गया। उसके पाँव के दबाव से घंटी टन टन बज रही थी। गली की मोड पर जब गाडी मुड गयी, उस समय भी वह हिन्दी गाना गा रहा था—काहे बचाके हमसे प्रियतम, छिपाके जाती हो। पर अब हजारो बार माइक पर सुनने पर भी शब्दो को ठीक से पकड नही पाता हूँ, पर उस उम्र में एक बार सुनते ही हिन्दी गाने की एक कडी मन मे गुथ गयी।

"सामान मैं बाद मे ले आऊँगा, पहले तुम लोग आओ।" माचिस जलाकर बाबा आगे-आगे चल रहे हैं, हम लोग उनके पीछे। पास-पास जालीबन्द कुछ खिडकियाँ, पर कमरो मे अंधेरा था। थोडा और आगे बढने पर एक सीमनदार आँगन। मध्यम रोशनी में भी काई दीख गयी। लगा बहुत फिसलन है यहाँ। एक नल ठीक से बन्द नहीं हुआ है, इसलिये पानी लगातार टपक रहा है, टप् टप्-टप-टप—मैं अवाक् सा खडा होकर देखता रहा। बाबा ने माचिस की तीली जलाकर जल्दी मचायी 'देख क्या रहा है, जल्दी चल।' माचिस बुझ गयी। तब सामने एक लकडी की सीढी दीखी। माचिस की तीली बुझ गयी है। बहुत दूर के लाल सितारे की तरह उस समय बाबा के मुह पर जल रही थी बीडी, वे स्वदेशी हैं न, इसलिये सिगरेट नही पीते थे। बीडी की रोशनी होती कितनी है फिर भी आभास मिल रहा था, कि आगन के पास मे ही एक श्याण बधा खडा है। उससे सट-सट कर सीढी के पास पहुँच गये।

वह सीढी थर-थर काँप रही थी। आधी रात मे नीद टूट जाने से खीझ के खिचखिच करने की तरह। पहली बार जीना चढा था। उसके बाद कितनी चमकदार सीढियाँ अपनी जिन्दगी मे देखा हूँ, यहाँ तक कि संगमरमर की भी, पर कलकत्ते की वह पहली लकडी की सीढी आज भी रह-रह कर काँपती है, झुझलाती है, फिर भी बार-बार उसका भिन्न-भिन्न सदर्भो में लौट आना जारी है।

सीढी पर पाँव धरते ही उसके नीचे बैठा एक कुत्ता, पहले चौंका फिर बाद में अचानक ही रिरिया उठा। ऊपर कही दो बिल्लियो मे झगडा चल रहा था। सीढी के बिल्कुल ऊपर ठीक आगन के आकार का एक चौकोर आकाश फैला हुआ था, मानो

चादर का एक टुकड़ा हो। हम लोगों के पाँव की आहट से कहीं बैठे कुछ कबूतर उड़ गये। उसके बाद।

"यही कमरा है?"

"यही है।"

"बत्ती नहीं है?"

"जलाता हूँ। एक लालटेन है उस कोने मे। देखना तो जरा!"

हम लोगों की आवाज सुनकर कौन सब तो आये थे। वे लोग भीतर नहीं आये, सिर्फ उनकी परछाइयाँ दबी आवाज मे बातें करती रही, बाबा बाहर निकल कर पता नहीं क्या बोल आए। उसके बाद फिर खामोशी छा गयी। अभी थोड़ी देर पहले ही तो बड़ी सड़कों पर झिलमिलाती रोशनी देख आया था। शहर सोया नहीं था, एकदम आँख फाड़कर जगा हुआ था, पर यह गली, गली का यह मकान इतनी जल्दी सो गया!

नीचे के कमरे मे कोई खासता रहा था। दूसरी ओर से एक बेसुरी सी आवाज गूँज उठी। सीढ़ी मे चरमराहट, उसके साथ ही एक मीठी-सी रिनी-रिनी ध्वनि। जो लोग आये थे, वे कौन थे? वह मीठी आवाज क्या उनके हाथ की चूड़ियों की थी?

कलकत्ता, कलकत्ता! कुल मिला कर यही था पहले दिन का कलकत्ता।

माँ, तुम कमर मे आचल बाँध कर कमरा साफ कर रही थी। एक बार मुह उठाकर बाबा से कहा, "कैसी गंध है न?"

'मह! कहाँ से लाऊँ! इस कमरे का ही किराया बीस रुपया है, पता है तुम्हें?'

तुम एक खिड़की खोलने जा रही थी। बाबा ने हाथ के इशारे से मना किया, "उस खिड़की को मत खोलो।"

"न खोलू! पर क्यों?"

"कारण जानकर क्या होगा? उस तरफ, मानो उस तरफ ठीक नहीं है न! और कोई खास बात नहीं। मतलब यह कि मत जानना चाहा। परीकथा मे एक कहानी नहीं थी, उत्तर दिशा की खिड़की नहीं खोलनी है। समझ लो वैसा ही कुछ है। बाद मे धीरे-धीरे पता चल जायेगा।"

"पर बिना खिड़की खोले घुटी हुई गन्ध।"

"चूहों ने गंदा किया है, एक अरसे से यहा कोई रहा नहीं है। बाद मे देखना सब ठीक हो जायेगा। जब मालूम पड़ जायेगा कि यहा आदमी आ गये हैं, तब देखना तिलचिट्टे भी भाग जायेंगे।"

"तिलचट्टे भी हैं क्या?"

"हैं, हैं। सब कुछ हैं। इन्हें लेकर ही तो है"

बिना पूरा सुने ही मैं मन ही मन मे बोल पड़ा, कलकत्ता!"

"सब कुछ जानते-सुनते हुए भी तुम यहाँ ।

"इससे बढिया कहाँ मिलेगा । यह तो शुक्र करो, सतीश राय ने सूचना दी थी । सतीश कौन है, मालूम है ? हमारे थियेटर मे प्रॉम्पट करता है, याने आड म खडा होकर सबको अपने पाट का सूत्र पकडा देता है, सतीश भी यही सपरिवार रहता है । बहुत बढिया आदमी है । कल मिल सकोगे ।

"उसकी बहू ?"

"है । एक प्यारी सी लडकी भी है । थोडी देर पहले वे ही लोग तो हालचाल पूछने आये थे । कल सुबह फिर आयेंगे ।"

"देखो इतने तरह के काम रहते हुए तुम थियेटर मे मुझे तो सब कुछ कैसा तो लग रहा है ।"

"मेरे लिए जज की नौकरी लिए भला कौन बैठा है, बताओ तो । हाकिम बनाना है तो अपने लडके को बनाना ।"

तुम मेरे सिर पर हाथ रखकर बोले, "हाकिम बनेगा, जरूर बनेगा । पता है वह पढने-लिखने मे कितना तेज है । इस बार वार्षिक परीक्षा मे कितना तो मिला है रे ?"

बोला, "छह सौ तीस सात सौ में ।"

"बस्स," बाबा हँस पडे, "फिर तो हाकिम बनने का आधा रास्ता पार ही कर गये हो । पर मेरी बात अगर मानी जाये, तो कहूँगा, वह हाकिम नहीं बनेगा । हाकिमी का मतलब भी तो अंग्रेजो की गुलामी है ।"

"फिर भी सम्मान, स्थायित्व, यह सब तो मिलेगा ?"

"आखें तिरछी करके बाबा ने कहा, "तुम्हारे वही एक दादा थे न, उसे जो मिला था ? सेरेस्ता या कही और काम करता था न ? पर मुझे मालूम है, असल मे वह पुलिस का भेदिया था । छद्मवेशी उसका सब कुछ ही छद्मवेश था । मेरा लडका " हाफते-हाफते बाबा बोले, थोडे उत्तेजित से, "वह अगर मेरा ही बेटा है, तो किसी भी हालत मे किसी का गुलाम नहीं बनेगा । वह चूहा बिल्ली नही बनेगा । वह बनेगा बाघ। बाघ का बच्चा बाघ !"

इतना कहकर बाबा ने मेरी पीठ थपथपायी ।

"बाघ तो अब थियेटर की माँद में घुस पडा है । छि छि इतना जेल वेल जाकर अन्त मे "

"चिट्ठी में सब कुछ तो समझा कर लिखा था । देखो, माँद मत कहो । किस्मत में अगर होगा तो यह थियेटर ही मुझे उठायेगा । शायद वही ' बोलते-बोलते बाबा की आँखें प्रदीप्त हो उठीं । नासापुट स्फीत, माथे की नसें भी फूल उठी हैं "शायद वहीं एक दिन मेरा नाटक भी खेला जाये ।'

"तुम्हारा नाटक !"

"हो तो सकता ही है। उसी उम्मीद से यहाँ घुसा हूँ। सुई बनकर। छिद्र पथ से। सव्यसाची बाबू का नाम सुना है? इस समय के सबसे विख्यात एक्टर। उन्होंने वायदा किया है "

"नाटक खेलेंगे ?"

"नहीं, फुर्सत मिलने पर एकाध पांडुलिपि पढ़कर देखेंगे। एक साथ वे दो बोर्ड में उतरते हैं। प्रत्येक वीरवार, शनिवार और रविवार को। इसके अलावा टॉकी स्टूडियो भी है। दम मारने की फुर्सत कहाँ है?"

झाड़ू हाथ में लिए तुम चित्रवत् देखती रहीं। शायद आशा और अविश्वास में झूलती रही थीं।

"आज ज्यादा कुछ मत करना। मैं चट् से दुकान से खाना ले आ रहा हूँ। पूड़ी-तरकारी और रबड़ी या फिर दही-मीठा दही। कलकत्ते का दही, एकदम अलग तरह की चीज है। पता है न?"

इतना कहकर बाबा ने मेरी ओर देखकर आँख मारी और फिर लालच दिखाने वाला इशारा करके चले गये।

वही कमरा। वही कमरा।

कमरा कैसा है, उसका असली चेहरा, दूसरे दिन सुबह साफ हो उठा। तैरते हुए जिस तरह हम लोग गाँव के तालाब मे डुबकी लगाकर किनारे पहुँच जाया करते थे, इस कमरे मे भी सुबह होते न होते ही एक एक चीज अधकार से निकल कर किनारे चली आ रही थी—नानछा परती दीवार ऊपर दीमक खायी बल्लियाँ, जग लगी खिडकियो की सलाखें। छोटी-सी धूप छिटक जरूर आयी थी, पर क्योकि कमरा बहुत शर्मीला था, किसी को अपना चेहरा दिखलाना ही नहीं चाहता था। सो अलग-अलग कमरो म जलते चूल्हो के धूएँ मे अपने को छुपाता रहा। आखें जलने लगी थी, मैं उठ पडा। देखा, तुम मुझसे पहले ही उठ गयी हो। दीवार मे एक ओर, कील या फिर कुछ और ठोककर गाडना चाह रहा हो।

बाबा, थोडी देर बाद ही थैले म भरकर हरी सब्जियाँ ले आये, 'क्या कर रही हो तुम ? ऐसे ही दीवार का पलस्तर उखडा हुआ है, ऊपर से अगर चूना बालू सब झरझरा कर गिरने लगे, तो क्या मकान मालिक नाराज नही होगा ?''

"मैं मैं एक चीज बनाना चाहती हूँ।"

"क्या करोगी, वही तो पूछ रहा हूँ।'

तुम्हारा चेहरा लाल हो उठा है। हवा मे चूने का चूरा उड रहा था, इसलिए नाक मे सरसराहट होने लगी थी। साफ दर्द पा रहा था, तुम कुछ छुपाने की कोशिश कर रही थी।

"तुम जाओ तुम जाओ न। लौटकर आकर देखना।' बिना किसी ओर देखे, तुम दत्तचित्त भाव से कील ठोकती रही। ठोकने का यन्त्र तो वही एक छोटा सा सरौता था। कील टूटा नही, पर एक बार तुम्हारी उँगली कुचल जरूर गयी। लेटे लेटे मैं सब कुछ देखे जा रहा हूँ। बाबा नाराज होकर निकल गये। लौटू तो खाना तैयार मिले। रोज बाहर का खाना, इतनी अमीरी सही नही जायेगी।"

"लौटकर देखना।"

अन्तत कील गड तो गया, हालाकि बहुत मजबूती के साथ नही। थोडा टेढा ही रहा।

मैं देखे जा रहा हूँ। तुमने पहले राधाकृष्ण की तस्वीर निकाली। उसे गोद

में रखकर देखा। फिर उसे बगल मे रखकर, एक और तस्वीर निकली—हर गौरी की। नहीं, वह भी पसन्द नही आयी। जब तक दबे पांव मैं उठ पडा हूँ। सबसे नीचे, बडे सावधानीपूर्वक जो तस्वीर रखी थी, उसी को खीच कर निकाला। फिसफिसाते हुए स्वर मे बोलता हूँ। केवल एक बेटा ही अपनी माँ से उस तरह के अन्तरग स्वर मे बोल सकता है, "इसे-इसे टांगना है तो! यह लो, पर टांगोगी किस तरह? जैसी यह दीवार है, तस्वीर की हालत भी तो वैसी ही है। टूटा हुआ शीशा, जर्जर तस्वीर।"

और उस समय जो कुछ होना था वही हुआ। तस्वीर मुझसे छीन कर मेरे गाल पर खींच कर एक थप्पड मारा, क्या? तुम्हारे मन की बात कह दिया, इसलिए? पर उसके लिए माँ, उस तस्वीर को सीने से लगाकर रो पडने की क्या जरूरत थी?

पर आज सोच कर देखो, भाग्य मे जो होना होता है, वही हुआ न? दादा की तस्वीर पुरानी, जर्जर, जिसे साथ लाना नहीं है, नही है करके भी जो चली आयी ता फिर से चली गयी बक्से के बिल्कुल अन्दर। कलकत्ते मे हम और तुम आये थे, याने हम दोनो। रह भी गये हम दोनों ही? यहां पर यहां तक कि यहां की दीवार पर तस्वीर बनकर भी दादा रह नही सके।

क्या तुम इसीलिए तस्वीर को अपने सीने से लगाये रोती रही। दादा के लिए कलकत्ता आकर वही प्रथम और शायद वही अन्तिम रुदन था तुम्हारा।

उस जमाने मे ब्याह करने जाने के पहले जिस तरह लडके कहा करते थे, "अनुमति दो माँ, तुम्हारे लिए नौकरानी लाने जा रहा हूँ।" ठीक उसी तरह माँ, मैं अब तक कलम चला-चला कर क्लान्त हो गया हूँ। समय पा रही हो, अब मैं क्या कहना चाहता हूँ? "अनुमति दो माँ, उसी उम्र मे प्रवेश करूँ।"

किस उम्र मे? जिस उम्र मे कलकत्ता मुझे जल्दी-जल्दी तैयार करता जा रहा था। रोटी को सेंकने के लिए जिस तरह उसे आग पर बार-बार उल्टा-पल्टा जाता है, ठीक उसी तरह मे फूलता जा रहा हूँ। भीतर दबा हुआ भाप, मुह पर बातों की फुलझडी। मुझे देखकर कौन कह सकता है कि मैं वही डरपोक दुबला-पतला गांव का लडका हूँ?

बन्द चावल की हंडिया मे जिस तरह केला जल्दी पकता है, मैं भी उसी तरह पकता जा रहा था। हालांकि स्कूल-फाइनल पास करने में अभी भी दो साल का समय बाकी था। बहुत धीरे-धीरे उस वृत्तान्त का उन्मोचन करते रहने से बात खत्म होगी नहीं। फिर उम्र की छलनी होकर बहुत-सी स्मृतियां बह भी गई हैं।

मैं भी पक उठा था। तरह-तरह की किताबें पढकर मजा लेता। तरह-तरह के लोगों की बातो से इशारा से, फिर विविध पारिवारिक अभिनता से भी मैं पकने लगा।

थोडा सा पाउडर नाक के पास लाने पर कैसा-वैसा तो लगता। पता नहीं क्यो फागुन आते आत सडक के दोनो किनारो के पेड, उडते हुए धूल से मस्त हो जाते!

(हाय ! पुरुष के वय सधिकाल की बात किसी काव्य ग्रथ में नही लिखी गयी है। पुरुषो को सिर्फ जान पाते हैं, उनके कठोर कष्ट में और विगलित निष्कृति मे। और-और युवतियो को !)

कलकत्ता औसतन मेरे लिए क्रमश सहज होता जा रहा था, पर तुम्हारे लिए नही। नये जूते का काटा मेरे लिए सह्य हो गया था, पर चप्पल पहन कर चलने फिरने की आदत को तुम रफ्त नही कर पा रही थी।

बाबा कहते, "तुम वही गँवार भूतनी रह गयी।"

तुम, "रातोरात शहर की परी बन जाऊँगी, ऐसा सोचा था क्या?"

बाबा, "तो फिर जाओ न, तिलक काट कर बूढियो की तरह रोज गगास्नान कर आया करो।"

तुम, "वह तो करू गी ही। हमेशा के लिए एक दिन गगा स्नान करूँगी। एक दिन तुम मुझे रास्ता दिखा दा न!"

बाबा, "सीधा रास्ता है। पश्चिम की ओर चलने पर, पूरा आधा मील भी नही है।"

इसी तरह की तू तू, मैं मैं। मैं बूला लोगों के यहा भाग जाता।

वही, जो लोग पहले दिन रात को हम लोगो के आते ही, परछाइ की तरह बाहर आकर खडे हुए थे वही लोग, बूला। बूला और बूला की माँ। जो सतीश बाबू थियेटर मे प्राम्पटर हैं, जिन्होने इस मकान की सूचना बाबा को दी थी, वे ही बूला के बाबा हैं।

माँ, शुरू शुरू में तुम सब कुछ भूल गयी थी। वही धारीदार साडी, पूरे माँग मे सिन्दूर भरना, सब लौट आया था। बाबा भी रोज सुबह बाजार तो जाते ही थे, शाम को कोई न कोई मिठाई भी ले आते। जहा बैठकर मैं पढता, जिसकी दीवार के ऊपर मैंने बडे-बडे हरफो मे लिखा था "पाठ-पीठ", कोई विशेष मतलब से नहीं, यू ही। तुम होठ उलट कर कहती, "सब थियेटरी नखरे हैं, नाटकीय है।" बाबा कहते, 'क्यो न हो ! बेटा तो आखिर मेरा ही है।" उसी पाठ-पीठ के सामने बैठा ऊँघ रहा हूँ। बाबा ठेल-ठेल कर मुझे जगा देते।

माँ, तुम आगे बढकर मेरे मुह मे मिठाई ठूस देती। बाबा जब मुह धोने के लिए बाहर गये, तब खुद भी थोडा-सा चख कर कहती, 'मैंने गलती की थी रे!' बहुत धीरे-धीरे कहती। कैसी गलती? "तेरे बाबा सचमुच पहले से बदल गये हैं पहले से अधिक परिवार के ऊपर मोह हो गया है, देख रहा है न?"

देख नहीं रहा हूँ भला? देखूगा क्या? उस समय तो हाथ मे उससे भी बड प्रमाण था, उसी को चख रहा हूँ।

पर वह सब कितने दिन तक भला ! कैलेन्डर पर निशान तो लगाया नही था। बाबा की सुबह की खरीददारी बन्द हो गयी। थैला लेकर नीचे ठीक ही उतरते, और फिर ठीक नौ बजते ही ऊपर भी उठ आते थे, पर तुम जो-जो सामान लाने के लिए कह देती, उनमे से बहुत सी चीज़े नही होतीं। एक दिन गुस्से मे तुमने सारा सामान बिखेर दिया और फिर गुस्से मे फुफकारते हुए कहा था, "लाने के लिए कुछ कहती हूँ और तुम कुछ और उठा लाते हो !"

बाबा खामोश रहे। आखो मे कैसी तो एक निरर्थक-सी दृष्टि। अब मैं उस दृष्टि का मतलब समझता हूँ। अपराधी की दृष्टि।

वह अपराध कैसा था, इस बात का पता हमे बूला से मालूम हुआ। एक दिन नीचे से सामान का थैला वही ऊपर लेकर आयी।

तुम थोडा अवाक हुई। बोली, "तुम ?"

"बाबा ने भेज दिया है मासी मा !"

"बाबा याने तेरे बाबा ? पर क्यो तेरे मेसोमोशाय "

"मेसोमोशाय गप्पें मार रहे हैं मासीमाँ !"

"बाजार से लौटते ही गप्पें मारने बैठ गये ? अच्छी अक्लमन्दी है भलेमानस मे ?"

"मेसोमोशाय तो बाजार नही गये थे मासीमाँ !"

"तो फिर सामान कौन लाया ?"

"क्यो बाबा ! बाबा ही तो रोज जाते हैं। मेसोमोशाय तो रोज नीचे जाकर बाबा को रुपया पकडा कर गप्पें मारने बैठ जाते हैं।"

"गप्प ? किसके साथ ?"

"क्यो ? मेरी माँ नही है क्या ? मा बहुत बढिया चाय बनाती हैं, मासीमाँ ! एक दिन पियेगी ? फ्राक का एक कोना, मुह के पास लाकर बूला हँस रही थी। मैं दूसरी तरफ देखने लगा। माँ मेरे शरीर की यन्त्रणा आरम्भ हो चुकी थी। हालांकि बूला के दोनो पांव देखने में बिल्कुल सुन्दर नही थे। घुटने के पास [illegible]। ऊपर से पतली चमडी के ऊपर नीली उभरी नसें। मेरा बदन सरसराता।

माँ ! तुमने भी क्या गौर किया था ? वरना क्यो बोलतीं, "बूला, [illegible] करके खडी हो। यह तुम्हारी कैसी बुरी आदत है ?" [illegible] आवाज मे तुम्हारी नाराजगी छिपी थी।

बूला की उम्र कितनी होगी ? मुझसे बडी थी, या मेरी ही जितनी ? पर बूला की माँ, जिसे मैं भी मासी कहता, लीला मासी, तुमसे [illegible] ही थीं। कम से कम दीखती वह तुमसे छोटी ही थीं। ठीक जिस तरह उस [illegible] को देख कर ही समझ गया था कि वह बिल्कुल और तरह की है, लीला मासी भी वैसी ही थीं, क्योंकि अपने अज्ञात मे ही तुम्हें मैं एक [illegible] स्वाभाविकता का [illegible] नाप मानता था न इसलिए।

भामती काली थी, लीला मासी गोरी। शायद तुमसे भी ज्यादा। या फिर बहुत सजी-धजी रहने के कारण भी हो सकता है तुमसे ज्यादा गोरी दीखती हों। तुम्हें एक दिन यह सब कहते ही तुम नाराज हो उठी। शीशा सामने रखकर जूडा ठीक कर रही थी। दात से काला रिबन दबाये, गर्दन घुमा कर कहा था, "मह धो कर एक दिन उस लीला को मेरी बगल मे खडी होने के लिए कहना। पर सफेद मल्हम-फल्हम न लगा रखे। तब देखूगी कौन ज्यादा " आगे कुछ बोला नही गया। मुह से फीता खिसक पडा। प्रसाधन के मामले को तुम मल्हम कहती। तुम्हारे लिए तो साज-सज्जा का मतलब था, सिर्फ सिन्दूर और आलता ? न-ना वह भी नहीं था।

भामती गोलमटोल थी। लीला मासी दुबली, गाल की हड्डियाँ उभरी हुई। गले की हड्डी को तो मैं हमेशा देख पाता था। फिर लीला मासी के ब्लाउज का कट भी तिकोना रहता। और तुम्हारा ? तुम तो ब्लाउज ही नही पहनतीं। कलकत्ते आकर भी सिर्फ समीज ही पहनती।

तुम कहती, "वह तो बेहया है। लडकी को भी वैसी ही फूहड बना रही है। तू उन लोगों के पास मत जाया कर।"

मा ! मेरी माँ ! तुम तो मा हो। तुम क्यो उन लोगो से जलोगी ?

*　　　　　*　　　　　*

तकरीबन रोज ही लीला मासी शाम के समय खूब सजधज कर न जाने कहाँ तो जाती। लौटते-लौटते रात हो जाती। रिक्शे मे जाया करती, कभी-कभार टैक्सी मे भी। आह ! वह टैक्सी का भोंपू, पीछे फैला हुआ धुआ। मैं दौडा जाता। जी भरकर महक अपने सीने मे भरता। कितना अरसा हो गया उस महक को पाये हुए।

लीला मासी को जो लोग छोडने आते उनके चेहरे कभी नहीं देख पाया। शायद उनके चेहरे थे भी नही। या फिर अधकार मे आधा छुपा हुआ शरीर। उन लोगो के पास मुह भले ही हो, पर उन मुखो पर कोई शब्द नही थे। सिर्फ एक तरह की हँसी, खिलखिल करती। बोतल से कुछ ढालने पर जैसी आवाज होती। लीला मासी शायद किसी सगीत के स्कूल मे गाना सिखाने जाती थीं। बूला ने बताया था। सुनकर थोडा आश्चर्य हुआ था। लीला मासी का चेहरा जितना मुलायम दीखता, उनकी आवाज उतनी ही रुखी थी। उस आवाज के साथ गाना कैसे सिखाती होंगी ?

बूला के पिता सतीश राय थे। तुम्हे 'बोउदी' (भाभी) कहते, पर तुम ज्यादा मुह नहा लगातीं। तुम उन्हें 'जल्खा' कहती। बाबा कहते "तुमने सिर्फ उसकी बारीक आवाज ही सुनी है। एक बार वह बहुत बीमार पड गया था। लीवर की बीमारी थी। तब से उनकी आवाज उस तरह की हो गयी है।"

"लीवर की बीमारी मे आवाज बिगड जाती है ?"

"[illegible] है भई, [illegible] है। पर वह उनके [illegible] हैं। वे पान से प्रॉम्प्ट करता है। सिर्फ आवाज और चेहरे के कारण ही [illegible] वरना कोई भी पार्ट हो, उसे रटा हुआ होता है। [illegible] एक दिन [illegible] जिस दिन रिहर्सल नहीं होगा [illegible]—सिकन्दर [illegible] चाहो तो [illegible], या फिर [illegible]

"बस, बस रहने दो। वह [illegible] जमता।"

"ठीक है वह वैसा भी कर सकता है। हेलेन, [illegible], कैकेयी ऐसे रोल देकर पढ़ेगा कि उस जमाने की तरह सुन्दरी, कुकुनकुनाती, [illegible] इसके सामने नहीं टिक पायेंगी। यह महाशय कितना बढ़िया नकलिया बना सकता है वह तुम उसे बिना सुने समझ ही नहीं पाओगे।"

तिरछी नजरों से देखते हुए तुमने कहा, "शायद इसीलिए वहाँ रोज चक्कर मारने जाते हो ?'

"बिल्कुल।"

'चुप रहो।" मानो चीख उठी। "तुम वहाँ उस महारानी के पीछे जाते हो।'

"किसकी बात कर रही हो ?" बाबा हकलाने लगे थे। बाबा मुझे उस समय किसी छोटे कीड़े के समान लगे, मानो और भी छोटे बनकर अपने जूते के अन्दर ही घुस जायेंगे।

'किसकी बात कर रही हूँ। वह तुम अच्छी तरह समझ रहे होगे। रोज सुबह जो चाय पिलाती हैं, उन्हें मारती हैं। शाम को जो रोज सजधज कर निकलती हैं '

"उस समय तो मैं रहता नहीं हूँ।"

"उसी बात का अफसोस है क्या ?" गर्दन टेढ़ी कर, होठ बिचकाकर, इतनी बातें इस तरह कब से करना सीख गयी माँ ? या कि कलकत्ते ने ही इतने कम समय में सिखा दिया ?

"सतीश की बहू, उसे फालतू मत समझो उसमें बहुत सारे गुण हैं।"

"नहीं जानती हूँ भला ? वरना तुम फँसते क्यों ?"

– "बकवास मत करो। वह गाना जानती है, नाच जानती है, इसके अलावा अच्छा अभिनय भी करना जानती है। बहुत जल्दी ही उसे एक थियेटर में पार्ट मिल जायेगा।"

"किस थियेटर में ?"

(मेरे सामने ही आजकल यह सब चलता है। मैं जो हूँ, तुम लोगों को तनिक भी इस बात की होश क्यों नहीं रहती है माँ ! मेरी माँ ! तुम इस समय एक गुस्सैल बिल्ली की तरह क्यों दीख रही हो। और बाबा ! लिखने में भी संकोच होता है

उस कटखने कुत्ते की तरह लग रहे हैं, जो रोज सीढी के नीचे आकर सोता है, आते जाने वालो को देखकर जो भौंकता है और जो बिल्लियों के साथ मछली के काँटे और जूठन के लिए छीना-झपटी करता है।)

"बताओ किस थियेटर मे ?"

इस बार बाबा अचकचा गये। "यही किसी भी एक थियेटर मे। तुम्हें अब कितने नाम मालूम हैं ? रिहर्सल चल रहा है, इसलिये उसे रोज निकलना पडता है।"

"बाल सवारकर, मुह पोतकर, झल-मल-झल-मल साडी, जरी महारानी का पाट है क्या ? फिर ? सुना था कि कही गाना सिखाने जाती है ? तो वह सब क्या झूठ था ?"

बाबा हकलाये स्वर मे कहते हैं, "नहीं नही, गाना नही, याने वैसा कुछ नहीं, नाटक, हाँ, नाटक ही तो।"

"किसका नाटक तुम्हारा ?"

(बहस करते समय आँचल से कमर कस लिया जाता है। यह तुमने कहा से सीखा माँ ? कलकत्ते मे ? यह शहर सिर्फ मुझे नही, हम सबको बदलता जा रहा था। बाबा को तुम्हे, हालांकि शीशे के सामने खडे होकर रोज सुबह कघी करते समय हम महसूस नही कर पाते कि कौन कितना बदल गया। रोज ही तो दीवारों पर थोडा-थोडा दाग लगता जाता है। कमरे के फर्श पर कोने-कोने म हमेशा ही गद जमता रहता है। पर वह सब हम कहा जान पाते हैं ?)

तुमने पूछा था, "किसका नाटक ? तुम्हारा ?" और बाबा अत्यन्त कुण्ठित और लज्जित स्वर मे बोले थे, "नही, माने तुरन्त अभी नही। इसके बाद शायद वे लोग मेर नाटक का भी मचन करें।"

"वाह ! खूब ! वे नायिका और तुम नाट्यकार। यही तो नाटक है। मुझ भी एक रोल नही दोगे ? बताओ, मेरा कौन-सा पार्ट होगा, बताओ न !" अचानक हिंस्र होकर तुमने बाबा का कधा पकड लिया था, फतुआ फटकर नाखून का खरोच उनके गले से लेकर कमर तक उभर आया था।

हाँफते-हाँफते तुमने कहा था, "कौन-सा पाट मेरा है दोगे नही ? कौन सा बताओ बाँदी का ?"

कहना नहीं होगा, लिखते हुए भी अपने ऊपर घृणा हो रही है। तुम्हारे ऊपर ठीक उस समय घृणा हो रही थी, शायद इसलिए अपने ऊपर भी। पर सचमुच तुम उस समय वही कुछ दीख रही थीं, जिस शब्द का उच्चारण तुमने स्वय किया था।

बाबा कुछ बोले नहीं। असहाय, पराभूत की तरह, वहाँ से धीरे धीरे हट गये।

और तुम ? सभोज का कधा झूलता हुआ पीठ पर आचल नही । कापते-कॉपते फर्श पर बैठ गयी और फिर फूट-फूट कर रोती रही । मैं पोठ के पास आकर खड़ा हो गया । तुमने एक बार मुह उठाकर देखा । हाथ से मुझे पर ढकेलत हुए रुँधे स्वर म कहा, "हट जा यहाँ से । चला जा ।" उसके बाद फिर से दोनो हाथो से अपना अपना मुह ढाँप लिया । उस दिन तुम पर अभिमान हुआ था, पर आज नही है । पता है न, ऐसे अनेक क्षण हैं जो बार बार पूरे दिनमान म न जाने कितनी बार लौट आते हैं, जब अपने ही दोनो करतल के सिवा मनुष्य स्वय को छुपाने का कोई आश्रय नही पाता है । कोई विश्वस्त सुहृद नही मिलता है ।

फिर भी मैं नही गया । तुम्हारी गोद के पास चुपचाप बैठ गया, जैसे पहले बैठ जाया करता था । कितने दिन बाद वही हर्रसिगार ! शिशुकाल लौट आया । कलकत्ते मे हर्रसिगार के पेड नही हैं ?

काफी देर बाद तुम्हारा कॉपना बन्द हुआ । समझ गया रोना बन्द हो गया है । तब मैंने तुम्हारी पीठ पर एक हाथ रखा । तुमने मुँह उठाया । इन कुछ मिनटो मे कितने भयानक रूप से तुम्हारा चेहरा विस्फारित हो गया है ।

मेरी ठुड्डी उठाकर तुम मुझे देखती रही । फिर बिल्कुल स्थिर स्वर मे बोली, "यहाँ नही रहूँगी । इस नरक मे । चलो हम लोग चले जाए यहाँ से । तू मुझे लेकर जा सकेगा ।"

मैं कुछ बोल नहीं रहा था । मेरे भीतर इस बीच जो काफी बुजुर्ग हो गया था, वह कह रहा था, 'चुपचाप रहो । इस समय सिर्फ सुनते रहो । कुछ बोलना नहीं चाहिए ।'

सिर उठाकर, उदास आखो का तुमने कही दूर भेज दिया है । इस पलस्तर उखडी दीवार को भेद कर, टाट का पर्दा उडाते हुए, चौकोर कटे आकाश और लकडी की सीढी से चढकर बरसाती पार करके कही दूर, बहुत दूर अथवा वहो पहुँच गयी हो, बहुत दूर से बोल रही हो, अति मृदु एक-एक शब्द तरग तुम्हारे स्वर को बहाए ला रही है, "गलत समझा था । वे बदल नही हैं । कलकत्ते मे आकर उसे जब थोडा अलग तरह का देखा, तो सोचा था, चिट्ठी की बात ही सही होगी । वही समुद्र-फमुद्र क्या सब लिखा था न ? अच्छी तरह समझ भी नही पायी थी । लगा था शायद सचमुच ही उसका मन परिवार की ओर मुड गया है । तेरी ओर, मेरी ओर । पर अब देख रही हूँ," थोडा रुक कर बोलती रही, "अब देख रही हूँ, क्या देख रही हूँ ? कुछ नहीं । सब झूठ था । बदला नही है कुछ । या फिर बदला गया भी होगा, तो वह तेरे या मेरे लिए नही । इससे तो अच्छा तब था, जब जेलो मे घूमता रहा या फिर वैरागी होकर भटकता होता, आखिर मे पोखे ने पाँव काट खाया ?"

अच्छा-भला धीरे-धीरे बोल रही थी माँ, अचानक फिर से चचल क्या हो उठी तुम ? क्यो मेरी कलाई जोर से पकड ली ! थोडी देर पहले ही महीयसी थीं तुम, और अब मानो भिखारन बन गयी, "चलो, हम लोग चले जाएँ।"

"कहाँ ?"

"जहा से आए हैं, वही । लौटा नहीं जा सकता है क्यो ? तू तो अब रास्ता पहचानने लगा है। मुझे ले नही जा सकेगा ?"

एक क्षण नही लगाया तुरन्त बोला, "सकूगा माँ।"

* * *

तुम्हें नही मालूम, मैंने झूठ कहा था, कही लौटा जा सकता है कि नही, लौटना सम्भव है कि नही यह सब उस समय मेरी विचार बुद्धि मे नही था, पर तुम्हें यह कहने का साहस भी मुझमे नही था कि, वहाँ लौटने का आग्रह-उत्साह मेरे अन्दर भी नही था। मेरा भी मन बदल गया था। गाढी चीनी चाशनी मे जिस तरह मक्खी लिपट जाती है, मैं भी उसी तरह लिपटता जा रहा था।

बूला बोली, "आओगे ?"

लकडी की सीढी के सामने ही उनका कमरा है। आँगन मे दिन ढलते न ढलते ही अँधेरा उतर आता है बूला ऊपर के चौखट पर दोनों हाथ उठाये अपने कमरे के सामने खडी थी। मैं पाक से घूमकर लौट रहा हूँ। जेब मे ढेर सारी मूगफलियाँ। उस समय जेब मे मूँगफली रहने भर से ही अपने को बहुत स्वच्छ महसूस करता। बूला, दरवाजे से थोडा पीछे हटते हुए बोली, "आओगे ?"

पशोपेश मे पड गया था। जेब मे तुम्हें देने के लिए था माँ! फिर सामने परीक्षा थी। सो पढने भी बैठना था। बूला बोली, "आओ न! माँ बाहर गयी हैं। बाबा थियेटर मे। अकेले मे कैसा तो डर लगता है।"

और कुछ कहने की जरूरत नहीं थी। मैं गया।

उन लोगों का कमरा काफी बडा था। बीच में परदा डालकर कमरे को दो भागो में बाँट दिया गया था। बूला मुझे उस ओर ले गयी। बत्ती जलायी। उन लोगो का लालटेन चकचक करता हुआ, मजे हुए दाँत की तरह। काले धातु से बनी हुई चिमनी भी बढ़िया थी। बूला ने बत्ती जलायी, पर लौ तेज नहीं की। पलग पर बैठकर पाँव हिलाने लगी। एक बार कहा, "क्या देख रहा है ?" फिर हाथ बढाकर अचानक। "क्या खा रहा है ?"

छिली हुई मूँगफलिया के कुछ दाने उसके हाथ मे रख दिये। लाया तुम्हारे लिए था।

बूला दाँत दिखा-दिखाकर बादाम चबा रही थी। एक बार शायद बालू अथवा वैसा ही कुछ उसके मुँह में लगते ही। लाल सुर्ख जीभ निकाल कर बोली, "थू! देखभाल कर नही खरीद सकता है! या फिर खरीदी नहीं है, यूही उठा लाया है ?"

आत्मसम्मान पर चोट लगी। बोला, "मुझे कोई यूही कुछ नही देता है। पूरी तरह पैसा देकर"

बूला ने फिर दोबारा कहा, "थू! मुझे तो ऐसे ही दे देते हैं। रिबन, चाकलेट यहाँ तक कि सेण्ट को छोटी शीशी भी, माँ उसम भी हिस्सा लगा देती है।

इसी से उस दिन जा मिला, उसे सीने मे ही छुपा कर ले आयी। महक मिल रही है ?''

नही मिलने पर भी सिर चकराने लगा था।

बूला किस तरह तो हँसे जा रही थी। मुझे सब कुछ बडा अजीब-सा लग रहा था।

बूला बोल रहा थी, 'सास ले न ! देख ! इस तरह जी भरकर हवा लेकर उसके बाद हा आ-आ करके सांस छोड। तेरे मुह मे कैसी महक है, देखू !''

वह जैसा जैसा कहती जा रही थी मैं वैसा-वैसा ही करता जा रहा था।

बूला बोली, ''थू बुरी महक है। तुम लोगों के याने लडको के मुह मे। मेरे मुह मे नही है। छाती पर सेन्ट लगायी हूँ, पर मुह मे मैं हमेशा इलायची डाले रहती हूँ। थोडा खायेगा ?''

इलायची नही, मुझे उस समय सिर्फ पानी पीने का मन हो रहा था।

बूला अपने बढाए हुए नाखून से, गाल खुरच रही थी। मेरी ओर देखती हुई बोली, ''तुझे भी महासे निकलने लगा है रे। याने तू जितना बुद्धू बना घूमता है, उतना है नही। तू भी मँजा हुआ है।

बोला, ''बूला ! मैं अब जाऊँ।''

''बैठ न थोडी देर। बताया न, मुझे अकेले मे डर लगता है।''

''मुझे भी डर लग रहा है। मा डाटेगी।''

'नही डाटेंगी। मासीमाँ से कहना, तू घर लौटा ही नही था। अगर पता चल गया हो तो कहना मुझे पढा रहा था।''

' मुझे खुद भी तो पढना है। परीक्षा है।''

बूला हँस रही थी, अब तक पाँव डुला रही थी। अब चोटी समेट सिर भी हिलाने लगी। हल्की हवा मे जिस तरह फूलो की डालियाँ हिलती हैं, या फिर बाँसुरी के साथ साँप का फन। पर ज्यों ही मैं उठ पडा, त्योंही वह भी उठ कर खडा हो गयी, और फिर तपाक से मेरा हाथ कसकर पकडते हुए शायद खीचने भी लगी थी या नही, ठीक समझ नही पा रहा था। ''बताया था न मैंने ! मुझे अकेले मे डर लगता है। बैठेगा नही ? थोडा सा बैठेगा नही ?'' उबलते हुए पानी की केतली के ढक्कन की तरह वह काँप रहा थी। उफनी हुई कडाही से जिस तरह झाग उफनकर बहता रहता है, ठीक उसी तरह उसके दोनो गाल के किनारो से लार बहने लगा। गरम साँस, मेरे गाल पर उसकी नाक छुआ गयी क्या ? न जाने कैसी महक होगी उसकी ? छाती पर लगाये हुए सेंट के साथ घुल मिल गया है। माँ तुम कहाँ हो ? लकडी की सीढ़ी से उतरते हुए आकर मुझे इसके चंगुल से निकाल क्यो नही रही हो !

हालाकि, निजला इस सत्य का भी सुन रखो कि तुम्हारा उतर आना भी मुझे अच्छा नही लगता।

"अगर बूला," मैं रुकी रुकी आवाज मे कहता हूँ, "अगर कोई आ जाए सतीश मौसा या मासीमा "

मुझे छोडकर बूला थोडा हटकर खडी हो गयी। सिर के पीछे ले जाते हुए शरीर को धनुप की तरह बनाकर, बूला खिलखिला कर हँसने लगी।

"मौसा जी ? मासी माँ ? याने बाबा और माँ ?" अँगूठे को घुमा-घुमा कर वह बोल रही थी, "उँहूँ, इस समय कोई नही आने वाला। बताया न माँ गयी हैं कहाँ बताओ तो ? अरे नही, गाने वाने के स्कूल नही। फटे बाँस जैसी आवाज मे वह गाना क्या गायेंगी ? ही ही, माँ गगा के किनारे अनिरुद्ध राय लोगो के साथ हवा खाने गयी हैं। वे लोग भी शायद कोई नाटक खेलने वाले हैं। माँ से कहा है, उन्हे हिरोइन बनाएँगे वे लोग। ही ही, ऐसा सूखा चेहरा और हिरोइन ? फिर तो हो चुका। न सात मन तेल होगा न राधा नाचेगी। नाचूगी बल्कि मैं। देखना थोडा और बडी होने पर मैं स्टेज पर उतरूँगी। अनिरुद्ध राय ने आड मे मुझसे वादा किया है। माँ को मैंने बताया नही। बेकार उन्हें जानकर तकलीफ होगी। राय ने कहा है, वह माँ को यूही नचा रहा है। उन लोगो की असली नजर मेरी ओर है। मैं नाच सीख रही हूँ, तिरछी नजर है एक गाना है न ? उसी गाने पर।"

बोलते समय बूला की नजर तिरछी हो उठी। या फिर पतली। कमर पर दोनो हाथ धरे रहने के कारण और भी पतली दीखने लगी थी। शायद वह धीरे-धीरे ताल पर ताल रख कर अपने पाँव भी थिरकाने लगी थी। मै कुछ समझ नही पा रहा था। मेरा सिर चकराने लगा था।

बूला बोल रही थी, "और बाबा ! बताया तो, वह इस समय बिम्स के पीछे किताब पकड कर सबको पार्ट बतला रहा होगा। वह नहीं आयेगा। आने पर भी" बूला आखें नचाते हुए बोली, "आ भी जाएँ तो बाबा कुछ बोलेंगे नही। साहस ही नहीं होगा। देखता नही है, कैसे डरपोक किस्म के हैं ! बारीक आवाज मिचमिचानी आखें ? कुछ नही बोलेंगे, बल्कि इस तरह कमरे मे घुसेंगे जैसे सिगरेट लेने आए हो। बिस्तर के नीचे से पैकेट निकाल कर सुड्‌ड़-से निकल जाएँगे। माँ जिस समय दोस्तो के साथ हँसी-ठिठोली करती हैं, उस समय वे किस तरह निकल जाते हैं। घडे पर बैठकर सिगरेट फूकते हैं, खाँसी आने पर भी डरते-डरते खाँसते हैं। देखा है ?"

बूला थोडा रुक गयी। दम लेने के लिए अथवा अपनी छाती को उसी बहाने और फुलाकर दिखाने के लिये, कहना मुश्किल है। फिर से बोलना शुरू हुआ, "त डरे तो करे क्या ? टों-फों करते हो माँ तुरत गर्दन पकड कर निकाल नहीं देगी ? उन्हे यह मालूम है न ?"

"क्यो ? वे भी तो थियेटर मे "

बूला इस बार अँगूठा दिखाते हुए बोली, "कच्चा केला। तनख्वाह नहीं मिलती है। बस खुराकी मिलती है। बाबुओं के पाँव मे तेल लगा कर और भी न जाने क्या-क्या करके बख्शीश मे दो-चार पैसा झाड जरूर लेते हैं। जैसे मौसा जी, याने तेरे बाबा जिस समय सुबह माँ के साथ हँसी मजाक करते हैं, उस समय भी निकल जाते हैं, सौदा-सुलुफ के बहाने। हम लोगों के साथ-साथ तुम लोगों का सौदा भी ले आते हैं। तू सोच रहा है, मुफ्त में ही करते होंगे? नहीं, ऐसी बात नहीं है। जरूर दो-चार पैसा रोज मारते होंगे। उनका कमीशन! माँ के साथ तेरे बाबा का अड्डा मारने की दलाली लेते हैं। वे क्या कम घुग्घू हैं! जानता है, एक बार एक सायकिल रिक्शा में मुझे बैठाए थे। रिक्शा वाले की पीठ से मेरा घुटना टकराता रहा। इसी बात पर वे रिक्शा वाले को तय किये हुए पैसे से कम देने की जिद्द करने लगा! मैं तो शर्म के मारे मरी जा रही थी। उसे सीधा घुग्घू मत समझो। घुग्घू के साथ-साथ चोर भी है।"

"छि बूला! तुम्हारे बाबा हैं न!"

दोनों हाथ फैलाते हुए बूला बोली, "बाबा हैं या हाथी! बाबा कहती भर हूँ। मेरे असली बाबा तो इस समय भगवान जाने कहाँ हैं? शायद स्वर्ग में हों। मुझे बाद मे मालूम पडा है। मैं जब बहुत छोटी थी, उस समय मा को लेकर भाग आया था। इसी से तो कह रही हूँ, वह चोर है।"

थोडा रुक कर बूला बोली, 'एक बार सोच कर देख! ऐसा चेहरा लेकर। माँ क्या उस समय अन्धी हो गयी थी? शायद हाँ। या फिर उस समय इससे शायद ज्यादा चिकनाई चेहरे पर होगा। उम्र भी जवान थी! बाद मे पी पीकर लीवर सडाया। चेहरा हुआ हडगीले की तरह। अब सबका दिया जूठन खाकर जी रहा है, बेचारा!" अन्तिम शब्द को बूला ने खींच-खींच कर कहा।

लकडी की सीढी से होकर ऊपर उठने मे उस दिन पता नही क्यो डर लग रहा था। ऐसा लग रहा था जैसे धूर्त, वाचाल, सीढी तुम्हारी खुफिया हो। तुम्हें सब कुछ बता दे रहा है। पाँव का जूता उतार लिया। सामने कीचड होने पर जिस तरह उतार लेता हूँ। कीचड! हा कीचड ही तो। बदन घिनघिन कर रहा है, मानो कीचड सारे पाँव मे लिथड गया हो। पर बदन पर? कमीज की आस्तीन सूंघता हूँ। सेंट-पफ्ट, महक-वहक कुछ अगर लगा हुआ हो?

चोर की तरह सीढी चढ रहा था। पता नही क्या एक-एक दिन इस तरह का अंधेरा छा जाता है कि ऐसा लगने लगता है जैसे सब चोर हैं, चोर! बूला ने कुछ गलत नहीं कहा है। चोर सतीश राय है, जिसे वह बाबा कहती है। उसकी माँ को चुराकर लाया है। रोज सुबह उन लोगो के यहाँ ताक लगाये बैठे रहता है। चोर मैं भी हूँ। देखो न, अहेतुक लगातार दोनों उँगलियों से गाल रगड रहा हूँ।

मिटा डालना चाहता हूँ कब से लगे उस गरम साँस के स्पर्श को। इस समय चुपके-चुपके दबे पाँव चढ़ रहा हूँ अपने ही घर मे भला कोई इस तरह घुसता है!

पूरी पृथ्वी ही इस तरह एक दिन लुका-छिपी के खेल का मैदान बन जाती है। पर माँ! चोर क्या तुम भी हो! नही तो उस दिन कमरे मे बत्ती क्यो नही जला रही थी! चूल्हा भी जलाया नहीं गया था। सब तरफ सन्नाटा था, बिल्कुल कहानी मे पढ़े किसी सूनसान राजपुरी की तरह। आश्चर्य हुआ, उस दिन सीढ़ी के नीचे बैठा कुत्ता भी भौंका नहीं। बिल्लियाँ भी गायब थीं। शायद अँधेरे मे चूहे की ताक में बैठी हों। चोवोर आकाश के चँदोवे पर उस दिन एक भी तारा नहीं था। कालपुरुष और लुब्धक। तुमने जिन्हें पहचनवाया था, वे कहाँ छुप गए?

बराडे में आकर खड़ा हो गया। मन ही मन मे चिल्लाया, कहाँ-कहाँ? चोर की आवाज होती है भला! कौन हो! कहाँ! आवाज दो। सदर रास्ते मे पहरेदार अगर हैं, तो खबरदार! कहकर हाँक लगाओ एकबार। यह देखो, मैं चोर हूँ। अपा को गिरफ्तार करने आया हूँ।

पर माँ, तुम्ह तो हमेशा से स्वप्रकाशित ही जानता आया हूँ। तुमने भी भेदिए की तरह व्यवहार क्यों किया? तुम दरवाजे की ओट में क्यो छुपकर खड़ी थी? क्यों मेरे चोखट पार होते न होते चडाक से एक थप्पड़ गाल पर जमा दिया गया? तुम्हारे शरीर मे भी इतना दम है? क्या यही तुम्हारा प्रेम था? या फिर तुम्हारा प्रेम इतना ही अधिक था?

दीवार पर तुम मेरा सिर ठोके जा रही थी। वह तो दीवार मुलायम थी, वरना मेरे दाँत टूट सकते थे, या फिर सिर ही फूट कर खून गिरने लगता तो? हालाँकि कमरे म अँधेरा होने के कारण देख नहीं पाती।

पर माँ, उस दिन तुमने मुझे झूठमूठ का ही मारा था। तुम्हें मालूम नहीं, मैं भी उस दिन मार कर आया था। हाँ, बुला का। मैं अपना होशोहवास भूल चुका था। तुम्हारे चाटे जितना वजन ही मेरे थप्पड का था। उसके मुलायम गाल पर पाँचो उँगलियो के निशान जम गए थे।

क्योंकि, बुला अचानक सीमा से बाहर हो गयी थी। भला-चंगा, हाथ हिला-हिलाकर बातो की फुलझड़ी छोड रही थी, बीच-बीच मे पलँग पर बैठकर पाँव हिला रही थी। नाखून से अपने मुहासे कचोट रही थी, कि अचानक बतियाते-बतियात अपने दोना पाँव मेरी गोद पर रख दिया। फिर मेरे एक हाथ को अपनी ओर खीच कर अपने उघडे हुए हाथ के ऊपर से सहलाते हुए ले गयी।

थोडी-सी सरसराहट हुई। नहीं शायद थोडा अधिक ही महसूस हुआ। स्वीकार करने मे कोई लज्जा नही स्पर्शमात्र से ऐसा लगा जैसे ताक पर रखे हुए काँसे के बर्तन झनझना कर गिर गए हो। शरीर भी कभी-कभी कासे का बतन बन जाता है।

तब एक अजीब तरह की आवाज मे और अधमुदी आखो से बुला ने एक

अजीब-सी बात कही। उसके होंठ सुर्ख नही थे बल्कि हवा से सिकुड गए सतरे की फाँक की तरह सूखे थे। उ ही होंठो को हिलाते हुए बूला न अद्भुत स्वर म कहा, 'पता है, तुमसे मुझे प्रेम हो गया है। जरूर होगा। उसका एक प्रमाण भी है।"

"कैसा प्रमाण?" सूखे स्वर मे पूछा।

"प्रमाण यही है कि", बूला उँगलियो के पोर गिनती हुई, मानो हिसाब मिलाती हुई कहती रही, "मान तू और मैं। क्या ठीक है तो? मेरे बाबा, याने जिसे बाबा कहती हूँ, बिल्कुल भीगी बिल्ली बन चुपचाप बैठे रहते हैं। जितनी भर हड्डी मिल जाती है, उसे ही लेकर चूसते रहते हैं। पर मेरी माँ? इस उम्र मे भी—क्या कहते हैं नावल सावलो में? रगिनी हैं। बाबा उन्हें बाँध नहीं पाए। और मासीमा याने तेरी माँ, देख कितनी शा त है, जिसे कहते हैं लक्ष्मी। सिर झुकाए, शर्मीली, कम बोलने वाली। पर तेरे बाबा एकदम फक्कड, हर समय उडने को तैयार। मासीमाँ, तेरे बाबा को बाँध नही सकी। हम लोगों का अनमेल ही मेल है। अब समझा? क्या मजे की बात है, भगवान न हम लोगो को मिलवाया है। सम्बध बन जाने पर ही ही तू और मैं। तेरे और मेरे म खूब पटगी, भगवान ने ही तय जो कर दिया है। हम दोनो के ही दुख समान है न! मेरा यह बाबा एक दिन किसी और को ठगा था। उसके बाद देख कैसी सजा मिली है उसे! अब खुद ठगा जा रहा है। माँ ही अब उसे ठग रही है, सो वह दुखी है। और दूसरी तरफ दुखिनी तेरी माँ हैं। समझा न, या और खोल कर बोलना होगा?"

"नही, और बोलना नही होगा।" मैंने जडित स्वर मे कहा।

अब तो ठीक था, हालाँकि मेरे हाथ-पाँव ठण्डे बर्फ हो गए थे और आँखें जलने लगी थी। थूक निगल-निगल कर गला तर करना पड रहा था, वरना आवाज ही नहीं फूटता। फिर भी बूला की वह व्याख्या, बूला का वह स्पश एक नयी दिशा की ओर सकेत कर रहा था। वाह! अच्छा तमाशा है तो! उन लोगो की दीवार पर दो छिपकलिया बार-बार पास आकर लौट जा रही थी। हम दोनो भी छिपकली हैं क्या? बूला का स्पश लेते-लेते मेरा शरीर तपने लगा था। सोच रहा था, अच्छा मजा है तो, बूला की मा/मेरे बाबा, बूला के ये बाबा मेरी मा—स्वभाव, व्यवहार मे एक जैसे, इसलिए हम दोनो ही, ही

एक छिपकली दीवार से गिर कर फर्श पर चित्त होकर छटपटाती रही।

बूला उसी समय सीधी होकर बैठ गयी। एक तकिया लेकर अपनी छाती ढक ली। उसके हाथ-पाव के रोंगटे बैठते जा रहे थे पर मेरे अभी तक खडे क्यो हैं?

वह धीरे-धीरे तकिये के सीवन को नाखून से उधड रही थी। धीरे-धीरे मेरे बालो म उँगलिया फेरने लगा। मैं सो जाऊँगा।

('तेरे बालो की जड काफी मजबूत और रग काला है। मेरी तरह नहीं। मेरे बाल भूरे हैं, और कघी करते ही बाल झरने लगते हैं। क्या बूला, तेरे बाल भी

तो बहुत खूबसूरत हैं। बेशक भूरे हो, पर लहरदार और फूले हुए हैं। आज क्या साबुन लगायी हो, या कि रोज ही बालो मे साबुन लगाती हो ?")

अब तक सब कुछ ठीक था। पर बूला ने एक हल्की सी जम्हाई ली। उसकी दतपक्तियाँ दिखायी पडी और उनके बीच सुर्ख लाल नन्हा-सा जीभ, दोनो होठ, अलग हो गए सीपी की तरह आँखें अधमुंदी, शायद बिल्कुल ही मूद ले। उस समय मैं क्या करूँगा ? मैं अकेला पड जाऊँगा। यह कमरा सीने से लगाया हुआ तकिया, फर्श पर चित्त गिरी छिपकली। सर्वनाश ! नहीं-नहीं बूला आँख खोल रही है। मेरे जान मे जान आती है।

अच्छी-भली थी। बूला तब ढीली-ढाली होकर बैठ गयी। ढीली-ढाली ही तो थी। उसका फ्राक ही ढीला ढाला था, अब तक इस ओर ध्यान ही नहीं गया था। मेरी पैंट, उस समय तक हाफ पैंट ही पहनता था, क्योकि रिवाज ही उस समय का वैसा था, इतनी टाइट क्यो हो रही है ? तकलीफ हो रही है।

बूला ने एक हाथ मेरे कधे पर धरा। नही और कुछ नही। वह मेरे कान के पास मुह ले आयी है। मेरे कान की लतो मे गुदगुदाहट हो रही है ?

और कुछ नही, बूला अब हम लोगो की बात पूछ रही है। पहले कहाँ था, कलकत्ता पहली बार आया है क्या ?

("ओह हो ! फिर तो तू गँवार है। घुटा हुआ बदमाश है पूरा। अब तक पता ही नही चलने दिया ? शैतान इस तरह बातें करता है जैसे शुरू से ही इस शहर मे रहता आया है।" बूला ने मुझे चिकोटी काटते हुए कहा। चिकोटी क्यो काट रही हो बूला ? मुझे दुखता है।)

"वहा कौन-कौन थे ?"

बताया, "माँ और मैं।"

"सिफ मासीमाँ और तू ? और कोई नहीं ?"

"था। दादा। अब नही है।" ऊपर को उँगली दिखा कर बोला।

बूला समझ गयी। होठ, उसके वही होठ टढा करके आवाज निकाली, जिसका मतलब था आहा। या फिर उहूँ। बोली, "मौसाजी ?"

"कहाँ रहते थे पता नही। बीच-बीच मे आते थे।"

"इसका मतलब", बूला ने कहा "इसका मतलब यह हुआ कि, वे फूलो पर मडराया करते और मधु चखते थे", सुनकर मैं भर्रा उठा। उसे क्या मालूम नहीं है कि मेरे बाबा स्वदेशी हैं, कितनी बार जेल गए हैं। इसके सिवा भारत भ्रमण, फिर मिसलेनियस इडियन मैनुफैक्चरिंग कम्पनी आदि ?

बूला ढीली-ढाली, पाँव फैलाए, बैठी हँस रही थी, "अच्छा ! समझ गयी। इसका मतलब यह हुआ कि तुम लोग अकेले ही रहते थे। तुम और मासीमा, दो जन ?"

"बताया तो।"

"और कोई नही आता था ?"

"एक और जन आते थे।" सोचकर बोला, "सुधीर मामा आते थे।"

"किस तरह के मामा ?"

"पता नहीं। मामा-मामा, यही जानता हूँ।" मैं चिढ गया। मुझे गुस्सा चढ़ने लगा था।

"रोज आता था ?"

"रोज ही।" बाद मे हिसाब लगा कर बोला, "हालांकि बाद में आना छोड दिया था।"

"छोड क्यो दिया !" बूला उस समय भी नाखून से तकिए का धागा उखाड रही थी। अन्दर की रुई-वुई सब निकाल लेना चाहती है।

"छोड दिया। यू ही।"

पर बूला ने छोडा नही। उसे सब कुछ बताना पडा। बताया। जितना जानता था, जितना समझता था। सब सुनकर बूला, वही बूला तकिया सीने से लगाये, बाहर निकलती हुई रुइयो के ढेर मे मुह डुबोये हँसती रही।

बोली, "समझ गयी।"

मुझे अगर पहले पता होता मा तो नही बताता। नशे में सब कुछ हो जाता है, और वही मेरे जीवन का पहला नशा था। दर असल, बेकार में ही, शहरीपने की नकल किया हूँ। वह सिर्फ नकल ही था। असल में मैं उस समय तक सीदा-सादा गाँव का बालक ही रह गया था, वरना बताता नही।"

बूला सुनकर बोली, "समझ गयी।" मुहासे से भरा हुआ चेहरा। चिकचिक करती आखें फैलकर और वीभत्स दीखीं। बोली, "तो फिर तो फिर सुनेगा ? फिर तो तेरी माँ भी जैसा सोचा था, वैसी नही है। डूब-डूब कर पानी पीती थी ?'

"इसका मतलब ?' जितना चीख सकता था, उतना भर गला फाड़ते हुए बोला।

"इसका मतलब यह है," बूला मेरे गाल पर टकोरते हुए बोली, 'इसका मतलब जो है वही। मेरी माँ जो है, तेरी माँ भी वही कुछ हैं। याने अ-स-ती।" बूला ने जिस तरह खीच खीच कर 'असती' शब्द का उच्चारण किया, फिर बोली, "और इसलिए मौसा जी, याने तेरे बाबा वहाँ ज्यादा नही जाते थे।'

माँ! तुरन्त मैंने बूला के गाल पर चाँटा धर दिया। एक प्रचण्ड तड़ाक! जितना गुस्सा, जितनी दुबलता और जितनी रुलाई थी, सबके साथ।

तुम्हारे लिए, तुम्हारी इज्जत रखने के लिए बूला को मार कर आया हूँ माँ! जिस समय मेरी उँगलियाँ अन्ततः अवश हो पडी थी, उसी समय तुमने मुझे मारा।

बहुत खूब, अच्छा मूल्य मिला। तुमने अच्छी कीमत दी।

मुझे, तुमने उस दिन उस तरह कीमत चुका दी थी, हालांकि बाबा का व्यवहार देखो, हाथ उठाया क्या ? वही, उस दिन माँ जिस दिन तुमने चूडान्तरूप से अपमान किया था ! एकदम अन्तरस्तल के मूल मे आघात, फिर भी उन्होने उसे बरदाश्त किया, चुपचाप खडे रहकर। वृक्ष जिस तरह वज्रपात को प्राप्य जान, चुपचाप सिर झुकाकर उसे ग्रहण करता है, ठीक उसी तरह।

उस दिन शाम से ही बारिश हो रही थी। मैं नौ बजते न बजते ही किताब बन्द कर खाना खा लिया था। सिर तक चादर खीच लेट गया था।

मुझे पता चल रहा था। तुम एकदम दक्षिण की खिडकी के पास जाकर खडी हो गयी हो। छीटे अ दर आ रही थी, फिर भी तुमने कोहनी तक भिगो लिया। उस दिन तुमने बहुत सु दर जूडा बनाया था ! छत टपकने लगी थी। मेरे सिर पर भी दो-चार बूँदें पडी। मुझे उठाने के लिए तुम मुझे ठेलें जा रही थी। मुझे उठते न देख, बिस्तर समेत खीचकर मुझे दूसरी ओर ले गयी, जिधर सूखा था।

यह सब बूला लोगो के कमरे मे बितायी गयी शाम के कई दिन बाद की बात है।

सीढी पर आहट हुई। आहट जानी-पहचानी थी ! बाबा आ रहे हैं। मैं आँखें मूदे पडा हूँ। बाबा आ रहे हैं।

उस समय रात के कितने बज रहे थे ? दस तो जरूर ही। बरसात के कारण रात ज्यादा गहरी लग रही थी।

बाबा आए। तुमने एक गमछा उनकी ओर फेंका। सब कुछ महसूस कर रहा हूँ। बाबा ने कहा, "धन्यवाद," धन्यवाद क्यो ? यह कैसी भाषा है ? नकली। कोई किसी से इस भाषा मे बातचीत नही करता है। कम से कम अपनों से। पर बाबा बोलते हैं। बाबा का स्वर भी बदला हुआ लगा।

सिर पोछ लेने के बाद बाबा ने कहा, "कघी।"

तुमने कहा, "इस समय ? इतनी रात को तुम्हारा चेहरा कौन देखने जा रहा है ?"

बाबा बोले, "क्यो तुम ?" तुम सतर्क-सी एक बार जल्दी से मेरे बिस्तर की ओर देख लेती हो। मेरा मुह चादर से ढँका हुआ।

बाबा जूता खोल रहे हैं। पर कपड़े नहीं उतारे हैं। इस बीच जेब में एक हाथ डाल दिया है। थोड़ा आगे बढ़कर दूसरा हाथ तुम्हारे गाल पर। "ठण्डा क्यों है ?"

"बारिश हो रही है न !" तुम बहुत आहिस्ता-आहिस्ता बात कर रही हो। मेरे बिस्तर की ओर तुम्हारी सतर्क दृष्टि है।

"इसलिए ठण्डा है ?"

"शायद। या फिर शायद मैं ही ठण्डी हूँ। शुरू से यही तो जानती आयी हूँ।"

"नहीं। तुम गरम हो। आज गरम खिचड़ी है तो ! या फिर गरम गरम लूची ?" (मैदे की पूड़ी)

"कहो तो तल दूँ ?"

"उससे पहले," बाबा ने कहा, "उससे पहले इधर आओ। यहाँ इस तरफ खड़ी हो जाओ अच्छी रानी बनकर।"

"मैं तो शुरू से ही अच्छी हूँ।"

"कौन कहता है ?"

"सब। सिर्फ मेरी किस्मत ही "

'बातें रहने दो। ठहरो।" इस बीच जेब में डला हुआ हाथ, बाहर निकल आया था। हाथ काँप रहा था, या फिर जूड़ा समेत सिर काँप गया ? तब तक फूलों से तुम्हारे बाल लिपट गए हैं।

तुम तो अवाक ! अचानक मानों सन्दिग्ध हो गयीं। कहा "यह क्या ? फूल !"

"पहचानती नहीं हो ? सुगन्ध नहीं मिल रही है ? सुना है साँप भी फूल के सुगन्ध से सब कुछ भूल कर विभोर हो जाता है।'

"मैं साँप नहीं हूँ। होने पर शायद मैं भी विभोर हो जाती।"

"तो फिर जहर और फण किसका है ?"

तुम चुप थीं। तब बाबा ने तुम्हारे और नजदीक आकर तुम्हें झकझोरते हुए कहा, "बोलो आनू ? एक बार कह दो, 'तुम्हारा ' कह दो न !"

पर तुमने एकदम दूसरी बात कही। उँगलियों में माला लपेटते-लपेटते, "घर की बहू का फूलों की माला ! लोग कहेंगे क्या ? फिर इस उम्र में "

(तुमने कुछ गलत नहीं कहा था माँ। गृहस्थ घर में फूल लाने का चलन बहुत बाद में शुरू हुआ था। उस समय फूल या तो पूजा, शादी-ब्याह या फिर किसी की मृत्यु पर ही घर पर लाया जाता। फूल उन लोगों के लिए था, जो समाज के बाहर के प्राणी थे।)

तुम दरअसल-सी होकर बोलीं 'इसके सिवा बाबा उस समय तुम्हारी ठुड्डी ऊपर उठाए, "इस उम्र में " तुरन्त बाबा तुम्हारे शरीर से और सटकर

खड़े हो गये। मैं टुकुर-टुकुर देख रहा हूँ। "कितनी उम्र हुई तुम्हारी ? देखूँ। उम्र क्या तुम्हारे गाल पर अंकित है ? देखूँ! आओ मैं उसे पोंछ दूँ " और ठीक उसी समय ! ! !

तुम छिटक कर दूर जा खड़ी हुई हो। शर्म से नहीं, वरना तुम्हारा घूँघट सिर से हट नहीं जाता। घूँघट हट गया था, गुस्से में। तुम थर-थर काँप रही हो। काँप बाबा भी रहे थे। साफ पता चल रहा था, दोनों पाँव डगमगा रहे थे। जैसे पाँव में हड्डी ही न हो।

"तुमने तुमने क्या पी रखी है ?"

"कुछ तो नहीं यही थोड़ी सी।" बाबा काँप रहे हैं। मैं पत्थर की तरह जड़। अब जाकर समझ में आया कि आज उनकी आवाज़ दूसरी तरह क्यों सुनायी दे रही है !" कुछ तो नहीं पी य ही थोड़ी सी।" वे बार-बार एक ही बात दोहराते रहे।

"थोड़ी-सी कितनी सी ? तुम्हारे मुँह से महक आ रही है।"

"अन्याय हुआ है। महक का रहना अन्याय हुआ है। मैं सौ बार कबूल करूँगा। विश्वास करो! छुपा मैं सकता था। इलायची वही जो लायची न क्या कहते हैं न, खाना चाहा था। पर खाया नहीं। विश्वास करो, छुपाना मैंने नहीं चाहा।"

"इतनी रात होते देख मैं सोच-सोचकर परेशान हो रही थी। लड़का जागते-जागते सो पड़ा।"

"गिर पड़ा ? आहा! गिर पड़ा ? गिर कर कहीं लगी तो नहीं आनू ? आहा! सोने दो, सोने दो। उठकर फिर गिर पड़ेगा। मुझे पता है लोग कहते हैं, जो गिर पड़ता है वही उठता है। यही नियम है। जैसे यह देखो मैं उठ रहा हूँ।" कहते-कहते बाबा चैतन्य महाप्रभु की मुद्रा में दोनों हाथ ऊपर उठा दिए।

मुझे हँसी आ रही थी किसी तरह हँसी दबाए पड़ा रहा। पर माँ, तुम तो बिल्कुल नहीं हँस रही हो ? खास कर बाबा का एक ही बात को दोहराते देख भला हँसी रुक सकती है ?

बाबा बोल रहे थे, 'यू आर राइट! अन्याय हुआ है। घर में महक लाना निश्चय ही अन्याय हुआ है। उसे बाहर उतार आना चाहिए था। जिस तरह लोग जूता बाहर रखकर घर में घुसते हैं। महक भी उसी तरह कह रही हो न ? यू आर राइट। इ 'इसीलिए ही तो फूल-बूल ले आया। पर वह तुम्हें पसन्द ही नहीं आया। ठीक है, फूल अगर पसन्द नहीं है, तो फिर जलाओ एक धूप बत्ती! फिनायल डाल कर धो दो धोव!" बाबा ने जोर की एक हिचकी सी।

बाबा जूता खोल रहे हैं। पर कपडे नही उतारे हैं। "
हाथ डाल दिया है। थोडा आगे बढकर दूसरा हाथ तुम्हारे
क्या है ?"

"बारिश हो रही है न !" तुम बहुत आहिता-आहिस्ता
बिस्तर की ओर तुम्हारी सतर्क दृष्टि है।

"इसलिए ठण्डा है ?"

"शायद। या फिर शायद मैं ही ठण्डी हूँ। शुरू से
हूँ।"

"नहीं। तुम गरम हो। आज गरम खिचडी है तो
लूची ?" (मैदे की पूडी)

"कहो तो तल दूँ ?"

"उससे पहले," बाबा ने कहा, "उससे पहले इधर
खडी हो जाओ अच्छी रानी बनकर।"

"मैं तो शुरू स ही अच्छी हूँ।"

"कौन कहता है ?"

"सब। सिर्फ मेरी किस्मत ही "

"बातें रहने दो। ठहरो।" इस बीच जेब मे डला
आया था। हाथ काप रहा था, या फिर जुडा समेत सिर
तुम्हारे बाल लिपट गए हैं।

तुम तो अवाक ! अचानक मानो सन्दिग्ध हो
फूल !"

"पहचानती नहीं हो ? सुगन्ध नहीं मिल रही
सुगन्ध से सब कुछ भूल कर विभोर हो जाता है।"

"मैं साँप नही हूँ। होन पर शायद मैं भी वि

"तो फिर जहर और फण किसका है ?"

तुम चुप थी। तब बाबा ने तुम्हारे और नज
कहा, "बोलो आनू ? एक बार कह दो, 'तुम्हारा'

पर तुमने एकदम दूसरी बात कही। उँग
की बहू को फूलो की माला ! लोग कहेंगे क्या ? f

(तुमने कुछ गलत नही कहा था मा। शृ
बाद मे शुरू हुआ था। उस समय फूल या तो पू
मृत्यु पर ही घर पर लाया जाता। फूल उन ल
के प्राणी थ।)

तुम रपस्तुत-सी होकर बोले, "इर
ठुड्डी ऊपर उठाए, "इस उम्र मे " सुर त

"साथ मे कौन जायेगा ।" बाबा मेरी ओर देख रहे थे ।

"कोई नही । मैं अकेली ही जाऊँगी । बेटा तुम्हारा है । वह भला मेरे साथ क्यो जाने लगा ! वह यहाँ ही रहेगा । बाप और बेटा दोनो एक ही घाट पर मुह धोवोगे बहुत खूब !"

(माँ ! तुम क्या इतनी ही नीच हो ! सकेत मे तुमने क्या बूला लोगो के कमरे की ओर इशारा कर दिया ?)

बहुत गहराई से किसी बात को सोचने की हालत बाबा मे उस समय नही थी । एक हिचकी के साथ बार-बार तुम्हारी ही बातो को बार-बार दोहराते हुए कहने लगे, वाह खूब ! वाह खूब ही तो !"

पर तुम हँसी नही । कठोर कण्ठ से उस समय भी बार-बार कहे जा रही थी, "पर बताओ, मुझे यहाँ लाए क्यो थे तुम ? बताओ ? बताना ही पडेगा। झूठमूठ का ही मुझे क्यों चिट्ठी लिखकर फुसलाया था ! यहाँ आकर मुझे क्या मिला बता सकते हो ?"

"तकलीफ हो रही है ?"पिघले हुए स्वर मे बाबा ने कहा, "होगी ही तो ! गाँव मे कितनी खुली जगह थी और यहाँ चारो ओर से बन्द और घुटा हुआ । बिस्तर पर हाथ पाँव फैला कर जिन्हे पसरने की आदत हो, उन्हें अगर किसी छोटी कुर्सी पर गुडमुडा कर बैठना पडे "

"अपनी मक्कारी अपने पास रखो । बन्द जगह मे भी तकलीफ महसूस नहीं होती अगर परिवेश सभ्य होता । गन्दा मकान ! उत्तर की ओर की खिडकी खोली क्यो नहीं जाती है ?" बाबा की ओर स्थिर दृष्टि रखकर तुमने कहा, "पर मैं जान चुकी हूँ ।"

"क्या जाना है ? बाबा क्या डर गए ?"

"जान चुकी हूँ कि, उस ओर के एक कमरे मे न जाने कौन लोग किसी लडकी को पकड रखे हैं । वह लडकी हर समय सिसक-सिसक कर रोती रहती है । मैंने कान लगाकर सुना है । उसकी रुलाई बहुत करुण है ।"

"तो इसमें मेरा क्या दोष है ?"

दोष तुम्हारा क्या हो सकता है ! पर इससे बेहतर जगह पर हम लोगो को लाकर रख सकते थे । वरना जैसे थे, ठीक ही थे । किसी तरह सुख-दुःख में समय कट तो रहा ही था । इस हुए अपमान मे मुझे क्यो घसीट लाए ? बताओ ? बताओ ?"

*   *   *

तुम्हारी आँखो से चिंगारी छूट रही थी । दाँत किटकिटा रहे थे । इतना तेज तो तुममे पहले कभी नहीं देखा !

बाबा अब तक सिटपिटाए से थे, पर अब गरज पडे, "आह ! आज क्षमा

"गए थे कहाँ सुनू जरा ? इतनी रात हो गयी। कहाँ जाते हो रोज ! रोज इतनी रात गये क्यो लौटते हो ?"

"पता तो है। थइटर मे।"

"वहाँ यही सब निगलते हो ?"

"वहा ! उहूँ, ठीक वहा नहा", बाबा सिर हिलाए जा रहे थे, "पर आस-पास हो मे कही। मैं तुम्हे छूकर बोल रहा हूँ, आसपास मे ही कही। दूर नही, दूर नही। और और फिर तुम जो कुछ सोच रही हो, वह बात भी नही है, बिलायती चीज नहीं छुआ हूँ मैं। मैं स्वदेशी वाला हूँ जो कुछ पिया हूँ, स सब देशी, खाटी देशी। हूँऊँ जी ! चरित्रभ्रष्ट नही हुआ हूँ। नीति ठीक रखा हूँ।"

'तुम्हारा चरित्र, और तुम्हारी नीति ?" कितनी घृणा के साथ उन शब्दो का उच्चारण किया था तुमने। घृणा ? या फिर माँ, तुम क्या डर गयी थी ?

नाक पर कपड़ा रख लिया है, पर आँख पर नही। नही, उस दिन तुम रो नहीं रही थी। बाबा, एक बीडी सुलगाना चाह रहे थे। पर नहीं सक रहे थे। हाथ काँप रहा है। तीली बार-बार बुझ जा रही है। एक बार तो उनकी उगली क किनारे तक आग सुलगती चली आयी। अब आखो से बाबा तुम्हे अनुनय कर रहे हैं, माचिस जला देने का। तुम नही दे रही हो। पीछे हट जाती हो। मैं निश्चल लेटा हुआ अपलक दृष्टि से एक मूक अभिनय देखे जा रहा हूँ।

"इससे तो पहले तुम जो कुछ थे, वही ठीक थे। यह सब मैं क्या देख रही। सब सीख रहे हो "

बाबा ने महाज्ञानी की तरह फिर सिर हिलाया। "ऊँहूँ ! सीख नही रहा हूँ। मुझे शिक्षार्थी मत कहो। सब कुछ सीखने-वीखने के बाद ही तो यहाँ पहुँच सका हूँ। आनू ! मुझे शिक्षार्थी मत कहो। शिक्षार्थी तुम्हारा लडका है। वह छात्र है। उसी की अभी सीखने की उम्र है ! वही बल्कि अब सीखेगा।"

"सीखेगा ही, सीख रहा है। बाप के ही रग मे रग रहा है।"

"रगेगा ही। अलबत्ता रगेगा। बाप का बेटा होगा तो मेरी आदतों को वह जरूर लेगा।" मानो कोई बहुत ऊँचे किस्म का मजाक कर रहे हैं, इस आत्म प्रसा" स बाबा ठहाका मार कर हसने लगे।

(बाबा अप्रकृतिस्थ थे, पर नियति की तरह उस दिन अमोघ वाक्य का उच्चा-रण कर गये थे।)

तुम बोल रही थी, बिना किसी प्रार्थना अथवा आवेदन के। दृढता के साथ बोल रही थी, मानो आदेश हो, "मुझे तुम वहाँ वापस भेज दो।"

"वहाँ ?" लट्टू की तरह हाथ घुमाकर बाबा ने कहा, "सुना है, वहाँ भाई नहीं।"

तुम धैर्यच्युत नहीं हुई। "न रहे पर मैं जाऊँगी।"

"साथ मे कौन जायगा।" बाबा मेरी ओर देख रहे थे।

"कोई नहीं। मैं अकेली ही जाऊँगी। बेटा तुम्हारा है। वह भला मेरे साथ क्यो जाने लगा! वह यहाँ ही रहेगा। बाप और बेटा दोनो एक ही घाट पर मुह धोवोगे बहुत खूब।"

(माँ! तुम क्या इतनी ही नीच हो! सकेत मे तुमने क्या बूला लोगो के कमरे की ओर इशारा कर दिया ?)

बहुत गहराई से किसी बात को सोचने की हालत बाबा मे उस समय नही थी। एक हिचकी के साथ बार-बार तुम्हारी ही बातो को बार-बार दोहराते हुए कहने लगे, वाह खूब! वाह खूब ही तो!"

पर तुम हँसी नहीं। कठोर कण्ठ से उस समय भी बार-बार कहे जा रही थी, "पर बताओ, मुझे यहाँ लाए क्यो थे तुम ? बताओ ? बताना ही पडेगा। झूठमूठ का ही मुझे क्यो चिट्ठी लिखकर फुसलाया था! यहाँ आकर मुझे क्या मिला बता सकते हो ?"

"तकलीफ हो रही है ?" पिघले हुए स्वर में बाबा ने कहा, "होगी ही तो! गाँव में कितनी खुली जगह थी और यहाँ चारो ओर से बन्द और घुटा हुआ। बिस्तर पर हाथ पाँव फैला कर जिन्हें पसरने की आदत हो, उन्हें अगर किसी छोटी कुर्सी पर गुड़मुड़ा कर बैठना पड़े "

"अपनी मक्कारी अपने पास रखो। बन्द जगह मे भी तकलीफ महसूस नही होती अगर परिवेश सभ्य होता। गन्दा मकान! उत्तर की ओर की खिड़की खोली क्यो नही जाती है ?" बाबा की ओर स्थिर दृष्टि रखकर तुमने कहा, "पर मैं जान चुकी हूँ।"

"क्या जाना है ? बाबा क्या डर गए ?"

"जान चुकी हूँ कि, उस ओर के एक कमरे मे न जाने कौन लोग किसी लड़की को पकड़ रखे हैं। वह लड़की हर समय सिसक-सिसक कर रोती रहती है। मैंने कान लगाकर सुना है। उसकी रुलाई बहुत करुण है।"

"तो इसमें मेरा क्या दोष है ?"

दोष तुम्हारा क्या हो सकता है! पर इससे बेहतर जगह पर हम लोगो को लाकर रख सकते थे। वरना जैसे थे, ठीक ही थे। किसी तरह सुख-दुःख में समय कट तो रहा ही था। इस हुए अपमान मे मुझे क्यो घसीट लाए ? बताओ ? बताओ ?"

* * *

तुम्हारी आँखो से चिंगारी छूट रही थी। दाँत किटकिटा रहे थे। इतना तेज तो तुममे पहले कभी नहीं देखा!

बाबा अब तक सिटपिटाए से थे, पर अब गरज पड़े, "आह! आनु क्षमा

करो। अब तक थियेटर मे था। ढेर सारा भाषण सुनकर आ रहा हूँ। घर पर आकर भी फिर से वही कुछ सुनना ? एक रात म दो शो देखना ? माफ करना, मुझसे नही होगा। इतनी बार तालियाँ नही पीट सकूगा।"

"रोज थियेटर जाते ही क्यो हो ! कौन कहता है जाने के लिए ?" तुम्हारे होठ विद्रूप से टेढे हो गए हैं, मैं माना साप की फुफकार सुन रहा हूँ। तुम क्या वही हो मा, जिसे मैं पहचानता हूँ। जो शान्त, स्थिर एक प्रतिमा है ? प्रतिमा का रग पानी मे घुल गया है और मैं पीछे का लकडी-फूस भी देख पा रहा हूँ। तुम बोलती ही जा रही हो, 'तुम थियेटर म कुछ हो नही। तुम ता सिफ उन लोगो के प्रेस के मैनेजर हो। हैंडबिल छापते हो तो फिर रोज-रोज वहा क्या करने जाते हो ?" एक आँख तुमने छोटी कर ली। ये सब लटके-झटके लगता है तुमने यही आकर सीखा है। पूछती रही तुम, "क्यो जाते हो तुम वहा ? किसके कारण ? बताओ किस थियेटर वाली के कारण ? पर उसके लिए रोज रोज तकलीफ उठाने की क्या जरूरत है ! एक जन तो नीचे ही हैं। शाम को वह घर नहीं रहती है इसलिए ?"

"चुप करो।"

'नही करूँगी। सुबह तो रोज ही जाते हो ! उसके भडुवा पति को बाजार भेजते हो। सच सच बताओ तो, एक दिन भी क्या तुम बाजार जाते हो, गए हो ?"

घरघराती आवाज मे बाबा को बोलते हुए सुना, "वह सब तुम नहीं समझोगी। दुकान हाट करना मेरा काम नही है। मैं एक आर्टिस्ट हूँ।"

इस बार किसी मिल के भयकर सायरन की तरह तुम्हारी आवाज गूँज उठी। चुपचाप लेटे रहने का भान किये रहना अब सभव नही था। मैं बिस्तर पर सीधे होकर बैठ गया। एक बार तुम्हारे तो एक बार बाबा के मुह की ओर देख रहा हूँ

"आर्टिस्ट ! तुम आर्टिस्ट हो ? इस शब्द का मतलब मैं जानती हूँ। तुम किस बात के आर्टिस्ट हो गुणवान ! थोडा समझा दो न, एक बार समझा दो। ढेर के ढेर नाटक लिखे हो इसलिए ? तुम अगर आर्टिस्ट हो तो फिर चमगादड भी तितली होगा। उस तरह का कूडा कोई भी लिख सकता है।"

अब तक तुम फुफकार ही रही थी, अब तुम्हें काटते हुए भी देखा। बाबा डगमगा रहे हैं। बाबा का चेहरा राख की तरह सफेद होता जा रहा है। विकृत, अस्पष्ट स्वर मे केवल इतना ही बोल सके, "जो कुछ लिखा है, वह सब कूडा है ? कोई भी लिख सकता है ? को ई भी ? यह तुम कह रही हो ?"

'कहा तो। ठीक ठीक अगर सुन नही पाये हो तो दोबारा कह दे रही हूँ, कूडा कूडा कूडा।"

बाबा ने दोनों हाथों से मुह ढँक लिया है। पहले की तरह की असहाय स्वर

मे बोल रह हैं, "पर तुम जो ध्यान से सुना करती थी ! कितनी तारीफ करती रही हो ।"

"सुनती थी, क्योंकि सुनना पड़ता था । तुम्हारी पत्नी जो हूँ !"

"सिर्फ-सिर्फ मेरी पत्नी हो इसलिए, वरना ।

"वरना उन्हें फाड़कर चूल्हे में झोंक देती ।"

शायद बहुत तकलीफ हो रही है । बाबा दीवार के सहारे टिक कर खड़े हो गये । पर तुम थमी नहीं । कटे पर नमक छिड़कती रही । बाबा ने जब पूछा, "अब तक बताया क्यों नहीं ?" तुरन्त तुमने जवाब दिया, "बताया नहीं क्योंकि तुम्हें तकलीफ होती । मौजी आदमी, घर बाँध कर भी जो बँधा नहीं, सोचती थी यही सब लेकर बहले रहोगे ।"

"मुझे बहलाने के लिए ? सिर्फ बहलाने के लिए ? इतनी दया तुम्हारी दया-मयी ?"

"दया थी कि नहीं मालूम नहीं ! अनपढ़ औरत हूँ । ऐसे तो कुछ समझती नहीं हूँ, पर आज बिना बोले रह नहीं पा रही हूँ कि तुम जब पढ़ा करते थे, उस समय मैं जम्हाई भरती । मुझे नींद आती थी । सच कह रही हूँ, सच, सच, सच !"

"नींद और जम्हाई ?" सम्मोहित की तरह बाबा एक-एक शब्द को बेबस-से होकर खींचते गए । अगर अचानक तुम चुप हो जाती तो वे धप् से बैठ जाते । "नींद आती थी, और जम्हाई ?"

"हँसी भी आती थी । देखो, तुम्हारे उन सब बकवास को कोई नहीं लेगा, न ऐसे होगा । और अगर कभी हुआ भी " तुमने अंतिम पत्थर फेंक मारा, "अगर हुआ भी तो लोग देखेंगे नहीं, मजाक उड़ायेंगे, उठ कर भागेंगे ।"

ठीक इसी समय बाबा ने शायद हाथ उठाया था, माँ, तुम्हें मारने के लिए नहीं, पत्थर रोकने के लिये । पर नहीं रोक सके । पत्थर ठीक सीने पर जाकर लगा । बाबा काँपते-काँपते बैठते जा रहे हैं । किसी अंधे की तरह हाथ बढ़ा बढ़ा कर कुछ पकड़ना चाह रहे है ।

"माँ ! पकड़ो, पकड़ो बाबा को ! देख नहीं रही हो, बाबा गिर जाएँगे ?" मैं चीख पड़ा था, तुम हिलोगी नहीं, पकड़ोगी नहीं, इतना समझते ही तड़ाक से कूद पड़ा था ।

पर तब तक बाबा ने गुड़मुड़ा कर जमीन पर आसन ले लिया था । एक पुरानी इमारत को ईंट-लकड़ी समेत आँख के सामने इस तरह ढह जाते हुए पहले कभी नहीं देखा था, पास जाते ही बाबा ने दोबारा मुझे रोकने के लिए हाथ उठाया । जीभ से होंठ चाटकर उसे थोड़ा गीला करके किसी तरह बोल पाए, "रहने दे ! मैं ठीक हूँ ।"

कहाँ, बाबा के मुह में गन्ध कहाँ है ? बाबा की आँखो में नशा भी नही है, वहाँ तो एक वृद्ध, बाणविद्ध पशु की मर्मान्तक दृष्टि देख-पा रहा हूँ !

लकड़ी-ईंट गिरे ही पड़े रहे। घुटनो के अन्दर, सिर घुसाए। यह मानस्तूप किसी इतिहास का साक्षी नहीं बनेगा।

कहाँ है दयामयी ? चारो ओर देख कर उस समय भीषण के सिवा और कोई मूर्ति ही मैं नहीं देख पाया। सचमुच का नशा उस समय अचानक किसके सिर चढ़ गया था ? तुम्हारे या बाबा के ?

उस दिन बाबा की मुर्दे जैसी शक्ल देखकर मैं डर गया था। चोट कितना गहरा घाव कर गया था, यह उस समय समझ नहीं पाया था। आज अनुभव कर रहा हूँ, क्योकि बाद म मैंने भी कलम पकडी थी न ! पर दयामयी, तुम्हें किस तरह समझाऊँ ! उससे ज्यादा घातक प्रहार और कुछ नही है, यह वे लोग ही समझ सकते हैं, जिन्होने कभी न कभी, कुछ न कुछ लिखा हो। जो लोग लिखते नहीं हैं, वे इस तकलीफ को समझ नहीं सकते।

*　　　　*　　　　*

उन दिनो अगर सामने वार्षिक परीक्षा न होती, तो मेरा समय और भी बुरा कटता। पढाई के दबाव के कारण मैं कुछ दिनों के लिये सब कुछ भूल गया था। पढाई के कारण मैं देख नही पाया कि, हवा के झोंको से उस बार कितने धूल उड़े, पार्क के पीले घास किस समय फिर से हरे हो गये। मकान का लीज जिन लोगो ने लिया है—जो लोग ऊपर बरसाती मे और एक कमरा लेकर रहते हैं, उन लोगो के पालतू कबूतर कब गुटरगू करने लगते हैं, तो कब क्लान्त होकर चुप हो जाते हैं, कुछ भी पता नही चला।

और माँ, मैंने परिवार की त्रिभंग मूर्ति की ओर भी ध्यान नहीं दे पाया। त्रिभंग, पर तीन खड नही आपस में जुडी हुई तो थी, पर वह जुडना भी कितना अलगाव लिये हुए था, यह भी महसूस कर पा रहा था। फिर भी देखकर भी नहीं देखता था। देखते रहने से मेरा पास होना मुश्किल होता। पास ? गलत कह गया। पास मैं निश्चित रूप से होऊँगा, यह तो जानता था, पर बहुत रेजल्ट न होने से

हाकिमी ? धुत् ! हाकिम बनने की बात उस समय कौन सोच रहा है ? कालेज म कम से कम एक फ्री स्टुडेंटशिप, निःशुल्क पढने का अधिकार। क्या बनूँगा यह मैं तब तक तय नही कर पाया था। केवल 'चायस आफ ए प्रोफेशन' पर अगर लेख लिखने को आ जाये, तो क्या लिखूगा, इसे अच्छी तरह घोट लिया था ! बाबा जो कुछ थे, वही स्वदेशी तो निश्चित रूप से नही बनना था। जेल-वेल नहीं जाऊँगा। इसका मतलब यह नहीं कि, मुझमे देशप्रेम नही है, यथेष्ट है, क्योकि दुनिया के तमाम पराधीन देशों के आन्दोलन ! अग्निपरीक्षा, आत्मत्याग के इतिहास को उस समय तक पढ़ डाला था। क्लास के जो लडके टिफिन पीरियड मे दल बनाकर बाहर नहीं

निकलते हैं, जो लोग मैदान मे दोपहर की धूप मे गोल होकर बैठते हैं, उन लोगों के पास से पुस्तकें लेकर पढ़ा है।

पर दल मे नाम नही लिखवाया हूँ। साहस का अभाव ? शायद वही हो। जब भी उन लोगों के पास जाकर खड़ा होता, वे लोग आपस मे बहस करते हुए मिलते। क्लास रूम में ही डेस्क थपथपा कर भाषण देते। मास्टर साहब के आने पर भी नहीं हटते। किसी किसी दिन तो जोशीले नारे लगाते हुए पानी के स्रोत की तरह क्लास से निकल भी जाते। उन लोगो के पीछे जाकर जब खड़ा होता हूँ उस समय कभी-कभी इच्छा होती थी कि अपना भी नाम लिखा दूँ। वे लोग जो कुछ कर पा रहे हैं, उसे मैं क्यों नही कर सकता हूँ ?

पर नही कर पाता हूँ। मा ! मेरे हाथ कांपने लगते, पलकें थरथराने लगतीं, क्योंकि तुम सामने आ जातीं। मैं तुम्हें देखने लगता। मैं भी अगर बाबा जो कुछ कर रहे हैं, उसी तरह घर छोड़कर निकल जाऊँ, तो तुम्हारा क्या होगा ?

एक ओर अवृतार्थ व्यर्थता मुझे दूसरे पथ पर लिए जा रही थी। वह पथ अन्तर्मुखी था। एक ही साथ संग लोभी भी। हालाँकि लोगों के साहचर्य से क्लान्त-कुण्ठित भी। वही बहिर्विमुख मन इस बीच कापी के पन्नों मे कच्ची भाषा में अपने को व्यक्त करता गया था। वह सब लिखा हुआ छुपाकर रखा रहता। पितृरक्त नियति की भाँति होता है। उससे निस्तार कहाँ ?

पर उस बार परीक्षा निकट होने के कारण सब कुछ बन्द रहा। वरना देख पाता, बाबा पहले की तरह ही ठीक समय पर काम पर निकलते तो हैं, पर उनके कदम कुछ और तरह के उठत-गिरते, मानो कुछ अनिश्चित सा हो। सौदा सुलुफ वे ही ले आते, पर क्या लाना होगा, पूछते नही। बहुत होता तो किसी-किसी दिन तुम किसी चिरकुट पर कुछ लिख देतीं।

शाम को किसी उपचायक टीचर के घर से पाठ समझ कर लौटने मे देर हो जाती। डाट खाने का भय नही था, क्योंकि अन्याय तो कुछ नहीं कर रहा था। फिर वैसे भी जानता था, तुम और डाँटा नहीं करोगी।

फिर भी आँगन पार करके लकड़ी के जीने के पास जब भी पहुँचा हूँ, पाँव ठिठक गये हैं तुरन्त शायद कोई बाहर निकल आए और कहे, "आओगे ! आओ न !" हाथ उठाकर चौखट पकड़ कर कौन सा परछाईं की तरह खड़ा है। मेरे रोंगटे खड़े हो जाते। जीना चरमराया हुआ-सा था, फिर भी मैं कूद-कूद कर लपकता हुआ एकदम ऊपर के बरांडे मे आकर दम लेता हूँ। अब कोई डर नही है, निरापद हूँ मैं।

* * *

सो वे दिन पढ़ाई की रौ मे बीत गए। क्या हो रहा है, क्या नहीं हो रहा ख्याल नही किया। परीक्षा जिस दिन समाप्त हुई, समय से बहुत पहले ही पेपर जमा

कर बाहर निकल आया था। आकाश की ओर मैं अपलक देखता रहा था। आकाश किस तरह इतना स्थिर-निश्चिन्त, निर्भय रहता है।

दरअसल, दसों दिशाएँ मेरे सामने खुल गई थी, रेलिंग के ऊपर झुकी हुई महिला को देखकर लगा था, इससे अधिक महीयसी मैंने किसी को नहीं देखा है, शाम की ढलती धूप में पान की दुकान मे लटकता शीशा! आज एक पान खाऊंगा, साथ ही शीशे मे अपना चेहरा भी एक बार देख लूंगा। वह फेरीवाला सुर में क्या बोले जा रहा है? "जो लोगे वही दो आना। ले जाओ बाबू दो आना, ले जाओ बाबू दो आना?" लूंगा, लूंगा। सब कुछ लूंगा। बिल्कुल मत सोचो।

प्रथम परीक्षा समाप्त हो जाने की वही मेरी अनुभूति थी। वह स्फूर्ति, वह मुक्ति—उसका स्वाद बाद मे फिर उस तरह नही मिला। क्या करूं अब? कहाँ जाऊँ? अभी तो सिर्फ चार ही बजा है। घर चलूं? पर कदम उधर पड ही नहीं रहे हैं। आश्चर्यपूर्वक अनुभव करता हूं, मैं अपने वश में नहीं रह गया था। कौन तो मुझे उडाये ले जा रहा है।

माँ, इतनी बातें बना रहा हूँ सिर्फ संकोच मिटाने के लिये। अब मैं तुम्हे उस दिन की परिणति के बारे मे बताऊँ।

*   *   *

"इधर कहाँ?" डरते हुए पूछा था।

"डरो नही। विपथ पर नहीं ले जाऊंगी।" मुस्करा कर किसी ने कहा था।

जिसने कहा था, वह बूला थी। इधर-उधर भटकते हुए, अन्त में गंगा के किनारे पहुँच जाऊँगा, पहले नहीं समझ पाया था। इधर की सडकें, चौडी साफ सुथरी। जोर से हार्न बजाकर सर्र से गाडियां गुजर जाती। बहुत सावधानी के साथ सडक पार कर रहा हूँ। दूर से एक फैल कर फूला हुआ फ्राक देखकर चौक गया था, पर तब तक समय नही रह गया था।

ऊँचे गुम्बद जैसी जगह से बूला उतर आयी थी। चेहरे पर लाल रिबन हँसी। मुझे देखकर थोडा भी अवाक नही हुई, न मेरे आने का कारण ही पूछा। मानो उसे पता था कि आऊँगा, सो उतरते ही मेरी ओर हाथ बढाकर बोली "आओ।"

"कहाँ?"

बूला मेरा हाथ पकड कर सडक पार कराते समय गर्दन घुमा कर कहा था, "डरो नही। विपथ पर नही ले जाऊँगी।

उस पार की रेल लाइन के ऊपर से किसी परी की तरह वह उडने लगेगी, कुछ वैसे ही भाव के साथ बोली, 'यह एक घाट है। इसका नाम आउटरम घाट है। मैं तुम्हें बेघाट पर नहीं लायी हूँ।'

बूला ने ऊँची एडी की सेन्डल पहनी था बीच बीच मे वह मुझसे ऊँची दीखने लगती। हँस कर बोली, "क्यो पकड नही पा रहे हो ?"

चट से मैंने जवाब दिया था, "तुम तक मैं ऐसे भी नही पहुँच पाऊँगा, इतनी तेज चल रही हो !"

"ठीक है, मैं ठहर जाती हूँ, वहाँ जाकर। उसे जटो कहते हैं, उसके दो तल्ले पर। ज्वार आने पर सब एक साथ खोलने लगेगा।"

किनारे पर एक कतार से बडी बँधे जहाज खडे थे। विश्वास करना कठिन हो रहा था कि ये ही हमारे जहाज किसी समय असीम मे ठिकाना ढूढने निकल जाते हैं, या फिर ढूढ-ढूढ कर दोबारा किनारो से आ लगते हैं। देखकर विश्वास नहीं होता है।

उसकी उँगलियों के बीच से कलाई के ऊपर रस चूए जा रहा है। बूला एक आइसक्रीम चूस रही है। बोली, "कितनी ठंडी है। ठीक मेरे गाल की तरह। बोलते बोलते वह मेरी गाल पर ही अपनी ठंडी हथेली रख देती है। लकड़ी मेरी ओर बढ़ाते हुए कहती है, "खाओगे? खाना चाहता है तो खा न।" मुझे इतस्तत करते देख, आँख दबाकर मटकते हुए कहा, "समझ गयी, क्यों हिचकिचा रहा है। आइसक्रीम भी भला कहीं जूठा होता है? नहीं होता है। पिघल कर खत्म हो जाता है। देख नहीं रहा है?" इतना कहकर बूला जीभ से अपनी कलाई चाट लेती है।

वह लगातार बोले जा रही थी। "तुझे पता था कि मैं यहाँ रहूँगी। पता नहीं था? तू तो इन दिनों गूलर का फूल बना हुआ था। वही उस दिन, ही ही, अच्छा मुझे भला उस तरह मारा क्यों? तुझे थोड़ी भी तकलीफ नहीं हुई? तकलीफ जानते हो कहाँ होती है? यहाँ" कहकर उसने उँगली से तकलीफ वाली जगह दिखलाई।

उसके बाद फिर से चालू हो गयी। "माँ गंगा का हाल देखो। सूर्य का माथा तो चबा कर खाए जा रही हैं, हालाकि सुनती हूँ, वह बहुत पवित्र हैं। पवित्र न और कुछ। मटमैला पानी, इस समय लाल लाल हो रहा है। मुझे तो दस रुपये देने पर भी इस पानी में मैं कभी भी न नहाऊं।"

वह थोड़ा चुप कर गयी। शायद मुझ पर तरस खा गयी हो। पर नहीं। फिर से बडबड शुरू हो गया है। 'बहुत से लोग नहा रहे हैं। पर इधर आ। उधर बाबू घाट की ओर देख! बता तो, गंगा में जो लोग नित्य नहाते हैं, वे लोग पापी हैं या पुण्यवान? पाप-पाप, मिट्टी, गन्दगी सब धो डालने आते हैं। वे लोग पाप करते हैं न! इसीलिए पुण्य कमाने के लिए इतना लपकते हैं। रोज-रोज गंगा स्नान! हे राम! कितनी बेहया लड़कियाँ हैं। नंगे बदन या फिर गीले कपड़ों में सब कुछ फूटकर बाहर निकला आ रहा है। कैसी लड़कियां हैं! पर मुझे ' अचानक उसने आवाज इतनी नीची कर दी, मानो कोई बहुत गहरी बात कह रही हो, "पर मुझे सोने के कमरे में भी वह जो फ्राक पहने हूँ, देख रहा है न, पाव के कितने ऊपर तक खुला है, देख न आजकल इतने से ही बदन सिहरने लगता है।"

इतना कहकर वह थोडी देर तक मेरा निरीक्षण करती रही। "तुम लडको को ही किसी तरह का झमेला नही सम्हालना पडता है। अब यह जो शर्ट और हाफ पैन्ट पहन हुए हो, इसी मे अच्छे लग रहे हो। वैसे तू थोडा दुबला-पतला है। तेरी पिंडलिया अगर थोडा और भरी होतीं, तो ज्यादा अच्छी दीखती। मेमसाहबें भी अच्छी दीखती हैं न।" उसने एक दीर्घ श्वास छोडते हुए कहा, "पर हम लोग तो मेमसाब नहीं हैं न! इस साल के बाद ही मैं साडी पहनूगी। मा से पहले ही वादा करवा लिया है, और यह भी कह दिया है कि, मुझे बाहर और भीतर दोनो के लिए कपडा चाहिए।"

इस बार उसने एक प्रश्न पूछा, जो मेरे निए काफी कठिन प्रश्न था। "यहाँ मैं क्यों आयी हूँ बता तो? एक, दो-तीन। तीन कारण बता। कोई न कोई मिल जाएगा।"

"नही बता सकेगा? धुत, बुद्धू! मैं यहा मा को पकडने आयी हूँ।" अब तक उसकी बातें नल से गिरते पानी की तरह बह रही थीं। अचानक उसकी आवाज कोई जमे पानी की तरह हो गया।

बोला, "मासीमा को! क्यो? मासीमां तो घर पर "

बीच में ही मुझे टोकते हुए कहा, "नही हैं। दो दिन से घर पर नही हैं। तुझे भला पता चलेगा भी कैसे? कोई खोज खबर रखता ही कहा है? आजकल हम लोगो के घर की ओर एक बार भी झाँककर देखा है? पता है, मैं कितने दिन दरवाजे पर "

"मेरा इम्तहान आ गया था जो! फिर इसके सिवा बूला", उस परिवेश मे जितना निश्चल हुआ जा सकता था, उतना होता हुआ बोला, "बूला! मुझे डर लगता था।"

"कि मैं कही चुडैल की तरह आकर पीछे से गर्दन न मरोड दूं?" आवाज मे जमे हुए भाप को उडाते हुए वह फिर से झरझर हँसी से भर उठी। "इसीलिए सरसराता हुआ निकल जाता था? रामनाम भी जपते थे क्या? बता न!" उसने मेरे कन्धे पर हाथ रखकर धीरे-से ठेल दिया। उसके कान के झुमके डूबते सूरज की रोशनी मे झिलमिला रह थे।

बोला, "पर बूला! लीला मासीमां के बारे मे अभी तुम क्या बोल रही थी?"

"रफूचक्कर हो गयी हैं। अपनी बेटी को इस तरह छोडकर जो भाग सकती है, वह क्या माँ है? या उसे हम मनुष्य मान सकते हैं? तरी भी तो माँ हैं!"

बोला, "और मौसा जी?"

"तू उस आदमी के बारे म पूछ रहा है, जिसे मैं बाबा कहती हूँ!"

(माँ! नमस्यों के प्रति अश्रद्धा, पारिवारिक स्वत सिद्ध को अस्वीकार करना, इसका निर्मल-निर्मोह नमूना मैंने बूला म ही सर्वप्रथम पाया था। प्रकाश्य मे जिसे सब

लोग मूल्यवान समझते हैं, उसे फूक मार कर मूल्यहीन बनाकर उडा देने की धृष्ट शून्यता ? बूला का अविश्वास बूला की तिक्तता, नि सग, निष्प्रेम, बूला की निष्ठुरता गोपन ने किसी कलि की तरह मेरे भीतर सक्रामित हुआ था। तुम्हारे, मेर, मरे और बाबा के सम्पर्क के बहुत से अध्यायों को प्रमाणित किया था।)

"जिसे बाबा कहती हूँ ? ' बूला बोल रही थी, "उसे क्या फर्क पडता है बेचारा ! तम्बाकू पी रहा है। अपनी चिलम खुद ही भर रहा है, और खाँस रहा है। ऊपर से रात भर दमा के कारण छटफटाहट, फिर भी चिलम चाहिए। ऊपर स हा-हा, हू-हू भी हा रहा है। रहना दूभर हो रहा है मरे लिए। दरअसल उसे ऐसा कौन-सा फक पड रहा है। बीवी चली जाने से दूसरी बीबी मिल सकती है। पर माँ के जाने से मुझे दूसरी माँ कहाँ से मिलेगी ?"

बूला का स्वर फिर से गाढ़ा हो गया। मानो दोपहर की पोखर के ऊपर अचानक बादलो की छाया पड गयी। महसूस कर रहा था, उसकी झिकमिक हँसी के बालू का पाडा हटाते ही नीचे पानी है।

"फिर तू समझेगा नही। उसकी उम्र हुई है। तीन काल जाकर बाकी बचा है एक काल। स्वास्थ्य खराब है। बीवी-सीवी को अब काई खास जरूरत भी तो नही रह गया है। जा पत्नी कभी भी बस में नही रही, फिर वह ता असली नही, नकली पत्नी थी। चलो, नकली पत्नी चली गयी, पर नकली बेटी तो रह गयी है ! पता है ! दो रात से मैं सो नही पायी हूँ। हमेशा यही लगा है, वह आदमी उठकर मेरे पास आ गया है और एकटक मुझे घूर जा रहा है। मेरे सोने का ढग भी तो बडा भद्दा है न ! इसीलिए नीद मे भी बदन सिहरता रहता है।"

गला सूखने लगा था। उस समय बूला से आइस कैण्डो ले लेता तो अच्छा होता। बोला, "पर बूला, मौसा जो तो तुम्हार "

'बताया न ! जैसी नकली बेटी हूँ मैं, वैसे वे मेरे नकली बाबा हैं। बनाए गए बाबा। जो भी मन मे आए कह सकते हो, कर सकते हो। वह सब कुछ कर सकता है, भले ही आँखो से ही। सब कुछ चला गया है, पर दोनो आखे तो अभी हैं न !"

मैं सिर हिलाने लगा। जो बात कभी किसी से नही की थी, निरुपाय होकर उस निभृत अभिज्ञता का रहस्य उसके सामने खोलना पडा। "केवल देखते रहने से कुछ नहीं होता है", बूला को समझाया। उसके उसकी ओर अपलक देखते हुए कहा, 'पता है, मेरे बाबा भी गाँव म रहते समय एक एक दिन उसी तरह देखते रहते थे !"

'उस तरह देखना और बात है। तुम लोग लडके हो, समझोगे नही। हम लोग लडकी हैं न ! हमें सब पता चल जाता है। जानती हूँ। समझती हूँ।'

प्रति शब्द के ऊपर जोर देकर कहना, उसकी धारणा की दृढता को प्रमाणित कर रहा था।

"वैसा नही होगा", बूला ने निश्चित स्वर मे कहा, "माँ को मैं ढूढ निकालूगी ही, चाहे जहाँ से भी हो।"

वह कहती ही गयी, "जहाँ भी रहे, वही से उसे ढूढ निकालूगी ही। मुझे सब कुछ मालूम जो है। अगर कही कलकत्ता से बाहर न गयी रहे, जैसे गिरडीह या फिर हजारीबाग। एक बार गयी थी—तो एक न एक दिन शाम को यहाँ जरूर आएगी ही! शाम को उनका सिर दुखने लगता है, गगा की हवा सिर दर्द की दवा है। दोस्तो के साथ हवाखोरी करते ही देखा है, उनका सिर दद ठीक हो जाता है।"

एक घडी की ओर देखकर बूला बोल गयी, "सवा पाँच। इसका मतलब यह हुआ कि अभी और आधा घण्टा अथवा तीन क्वाटर। छह बजे आएँगी। आज न आए, तो कल? नही तो परसो जरूर ही। रंगे हाथ पकड लूँगी। उस बरगद के पेड के नीचे बूढे पानवाले को देख रहे हो? उसके पास से माँ जर्दावाला पान खायेंगी। खाकर थूकेंगी, फुर्र‌त! बिल्कुल खून के फव्वारे की तरह। मा की आदत है। बूढे को कह रखी हूँ, देखते ही मुझे इशारे से बता देगा।"

बुद्दू की तरह बोला, "बूला! आज अगर वे पान न खायें?"

"तो तू यही सोच रहा है?" बूला ने तालो बजाते हुए कहा, "तो फिर है कुल्फी भग की कुल्फी मा का जान से भी ज्यादा प्यारी है। वहाँ जो कुल्फी वाले घूम रहे हैं न, वो गुम्बद की ओर! उन लोगा से भी कह रखा है। सब तरफ से तैयारी करके ही आयी हूँ, बुद्दू! माँ अगर घुघूनी हैं, ता मैं भी तो उन्ही की लडकी हूँ। लीला बाह्मनी की बेटी मैं बूला बाह्मनी!"

अपनी चालाकी पर स्वय ही मोहित बूला अजीब ढग से हँस पडी। "तू सोच रहा है न, इतनी चालाकिया मैं कैसे जान पायी हूँ! माँ न खुद ही पहले बेवकूफी की है। मुह से बताया तो है ही, फिर बीच-बीच मे मुझे साथ मे भा ले आती थी। जब छोटी थी तब। अकेले घर पर रहूँगी कैसे? डरूगी, इसलिए। पहले उनके मन मे स्नेह था, ममता थी।"

"अब नही है?"

"अब है डर और ईर्ष्या! उनके दोस्त खीझ जाते थे, नाराज भो होते, फिर भी परवाह कहाँ करती थी! उस समय माँ की उम्र भी कम थी। उन्हें पता था, वे लोग जितना भी कुत्ते की तरह गुर्राएँ, आखिर मे दुम दबाए पाँव में लोटेंगे ही। माँ के पास वही ताकत थी। वह ताकत अब खत्म हो गया है। उसकी जगह ईर्ष्या आयी है। उसकी थाली की मछली पर मैं भी कही हिस्सा न बैठा बैठू! इसी बात की इतनी ईर्ष्या है। ज्योंही अरिन्दम राय लोग आते हैं, त्योंही मुट्-से निकल जाती है। मुझे उन लोगो के पास चाय तक दने नही भेजती है। दोस्तो पर चौकसी रखती हैं।"

दोनो हाथ ऊपर उठाकर, हवा मे घुमाते हुए बूला ने कहा, "रखने दे, मेरे ठेंगे से। मैं तो उसकी तरह हिरोइन बनने के लिए मरी नहीं जा रही हूँ न! चाय मिलना होगा तो खुद हो मिलेगा। उन्हें यह एक नयी बामारी लगी है। उस बूढ़ी

को हिरोइन बनना है। हिरोइन न कच्चू। कच्चू नहीं, ठेंगा। छोकरी मिलने पर बूढो को कौन पाट देगा ? कौन देता है बता ?''

बोला, "थियेटर की बात मैं विशेष नहीं जानता हूँ न !"

"जानोगे, जानोगे। न हो तो मोसा जी से अपने बाबा से पूछकर देखना। घूमते-घूमते तो वे भी हैं, क्या उन्हें हालचाल मालूम नहीं होगा ?"

बूला न गहरी साँस ली। एक जहाज सीटी बजाकर, धुआँ उड़ाते हुए जा रहा था। बूला बोली, "यहाँ दम घुटा जा रहा है। कालिख से कपड़े खराब हो जाएँगे। आओ, उधर छाया मे चलें !"

बूला मुझे घसीटती हुई एक कोने मे लाकर खड़ी कर दी। नाचे पानी बह रहा था। किनारे पर कुछ छोटी नावें बँधी थी। मल्लाह खाना बना रहे थे। वहाँ भी धुआँ था।

"न ना !" बूला बोली, "इस पृथ्वी पर सुख की कोई जगह नहीं है। उस कमरे मे चलोगे ? देखना वहाँ कुर्सी मेज लगी होगी। बहुत बढ़िया चाय बनाते हैं। अभी भी हाथ में कुछ समय है। चाय पिलाओगे ? पैसा है ?"

जेब में जो कुछ था निकाल कर दिखाते ही बूला खिलखिला कर हँस पड़ी।

"कुल बारह पैसा ? धुत्त ! इससे तो यहाँ धुले हुए कप में गरम पानी भी नहीं मिलने वाला। यही लेकर तू गगा के किनारे आया है ? तेरे प्रेम का मूल्य कुल तीन आने है ?"

मैं शर्म से गड गया। बूला मुझे ठेलते हुए नदी के बिल्कुल किनारे ले गयी। पानी मे फेंक देने का इरादा है क्या ? जेब मे कुल तीन आने लेकर आया हू, इसलिए ?

पर नहीं, बूला ने मुझे ढकेला नही। बल्कि अनुभव किया, उसने मानो मुझे थोडा और नजदीक खींच लिया था। गहरी साँस, उसके चेहरे का कोई हिस्सा, मेरे मुह पर क्या पता। मेरी आखें मुदी हुई थी। सो बता नहीं सकता हूँ।

इस बार शायद बूला ने सचमुच ही मुझे ठेल दिया था। अपनी चिकचिक करती आखें टार्च की तरह, मेरे मुह पर फेंकते हुए एक साँस मे कह गयी, "हुआ नही। तूने आँखें क्यो मूद ली थी ? अधा है क्या ? मुझे इसीलिए कैसा तो लगने लगा था। अचानक लगा, अधे लडके को चूमने से पता है मुझे ऐसा लगता है खुद भी अधा बन जाना पडता है ! जिस तरह गाधारी हो गयी थी। हालाँकि गाधारी ने विवाह किया था, चूमा तो नहीं था न !'

गोल घड़ी मे उस समय पौने छह का समय हो रहा था।

मुझे बूला ने छोड दिया और कहा, "मा के आने का समय हो गया है। चल, अब चलते हैं।"

हम दानो ने सडक पार किया। उधर ढलुवी जमीन पर हरे घास उगे हुए

थे। सड़क पार होते समय बूला ने कनखी से एक बार बूढे पान वाले को देख लिया। दो कुलफी वालो से भी बात हुई। पहरे वाले भी इधर-उधर घूम रहे थे।

किले के ऊपर मुतही खूटी, लाल सुर्ख आँखो से घूरे जा रहा है। गर्दन उठा कर एक बार बूला ने उधर देखा। फिर बोली, "वह देख, वे लोग भी पहरेदार हैं। वे लोग भी खबरदारी रख रहे हैं। माँ बचकर जायेगी कहाँ?"

घडी की सुई घूम चुकी थी। साढे छह। गंगा के इस पार-उस पार न जाने कौन, रोशनी के हार पहना गया था। 'एक मोटर लच चारों ओर विस्मित प्रकाश फेंक कर मानो कुछ ढूढ रहा हो।

बूला बोली, "वे लोग जल पुलिस हैं। हम दोनो भी ठीक जासूस जैसे बन गए हैं न रे? जासूसी कहानियो मे जिस तरह पढते हैं? खूनी को पकडने के लिए हमने जाल फैलाया है। तुझे रोमांच नहीं हो रहा है?" बूला ने मेरा हाथ थामा। "हालांकि ठीक खूनी नही कहा जा सकता है। पर खूनी से भी बदतर भगोडी। अपनी लडकी को छोडकर फरार हो गयी!"

घडी को सुई घूमती जा रही थी। अचानक थोडा-सा धूल उडाकर सारी रोशनियों को ललछौंही बना दिया। बिजली भी चमकते देख मैं थोडा डर गया। गोल गप्पे वाले अपना-अपना खोंमचा समेटने लगे थे।

मैं डर गया। बोला, "सुनो! मैं अब जाऊँ। शाम हो गयी है। दोपहर से घर नहो लौटा हूँ।"

बूला ने मेरा हाथ तो पकडा ही पाँव को भी जूते से रगडते हुए कहा, "जाओ तो जरा देखू। तू न लडका है? तू पुरुष है या कापुरुष? मुझे छोडकर भाग जायगा? यही तेरी रीति है?"

(मा, आज सब कुछ, जब सब कुछ एकदम साफ-साफ खोलकर बता ही रहा हूँ, तब यह स्वीकार करने में कोई आपत्ति नही है कि, बूना, बातूनी बूला न उस दिन अव्यर्थ ब्रह्मवाक्य का उच्चारण किया था। आज सोचने हुए भी रोंगटे खडे हो जाते हैं, माना दिव्य दृष्टिबल से उसने मेरे भविष्य को बता दिया था। हाँ, वही मेरी आदत है। बाद मे बार-बार उस आदत का शिकार हुआ हूँ। कापुरुषता की पौन पुनिकता मे अनेको के साथ मेरा सम्पर्क कलंकित हुआ है। हमेशा हो छोड कर भागा हूँ। क्यों भला? अपने को बचाने के लिए। जो भागता है, वही बच जाता है। क्यों भला? अपने को बचाने के लिये। जो भागता है, वही बच जाता है। सच में क्या? मैं क्या बच पाया हूँ?)

घडी की सुई ऋषि की तरह एक हाथ ऊपर उठाकर बता रही थी—सात। पूरे सात। टिप्-टिप् बारिश शुरू हो गयी थी। अपने को समझाया, जो होना है होगा। रह जाता हूँ अभी। आज तो परीक्षा खत्म हो ही गयी है। घर पर माँ आज कुछ कहेगी नही। अगर कहा भी तो बता दूंगा, दोस्तो के साथ फिल्म देखकर लौट रहा हूँ।"

एक के बाद एक कई गोल चक्कर लगाकर हम लोग लगभग उस पार्क के पास आ गये थे, जिसके उस ओर ट्रामें घूम-घूम कर इधर-उधर चली जाती हैं। उसी के आसपास सवारी बसों के कण्डक्टर पैसेंजर के लिए हाँक लगाते रहते हैं।

बूला ने कहा, "आओ दो तल्ले बस में बैठते हैं।" कहकर ही वह,सीढ़ी चढ़ कर ऊपर चली गयी। थोड़ी देर बाद सामने की सीट पर मेरे बगल में आ गयी। हवा के झोंके से उसके रेशमी बाल बिखरे जा रहे थे, और उन रेशमी बालों का स्पर्श! मैं भी अस्त व्यस्त हो रहा था। उसके बालों के स्पर्श से मैं रोमांचित हो उठा था एक आवेश, नया कपड़ा पहनने की तरह, नयी किताब के पन्ने को नाक के पास लाकर उसकी महक पाने जैसा—पर मुझे क्या हो रहा था। इसकी खबर बूला को नहीं थी।

वह बाहर की ओर देख रही थी, पीतल के राड पर गाल रखे हुए थी। गाल पर पानी के छींटें पड़ रहे थीं। वही बूला, चालू बूला इस समय एकदम अलग तरह की हो गयी है। बहुत धीरे-धीरे बोल रही है, "पता है, मेरे बाबा वैसे नहीं थे। माँ की तरह तो बिल्कुल ही नहीं बाबा, मतलब अपने असली बाबा की बात कर रही हूँ।"

"याद है तुझे?"

"थोड़ा बहुत। चेहरा याद नहीं है। चश्मा याद है। गोल चेहरा, आँखें बड़ी-बड़ी अखबार में जिन लोगों की तस्वीर छपती है उन लीडरों में से किसी-किसी से चेहरा मिल जाता है। तस्वीर नहीं है न, माँ नहीं लायी, इसी से हर विख्यात व्यक्ति की तस्वीर देखते ही औंधी होकर देखने लगती हूँ—मेरे बाबा शायद ऐसे ही थे। धुंधली-सी उनकी याद है। मुझे अपनी छाती पर लिटाकर सुलाया करते थे। मुझे गुदगुदा कर हँसाया करते थे। एक बार कोई मीठी-सी चीज खाने का दी थी—इसी तरह की छिटपुट बातें। कुछ मैं कहाँ से सकती हूँ? माँ तो मुझे जड़ समेत ही उखाड़ लायी थी। क्यों लायी? क्यों लायी वे? बाबा तो एक ही थे। उन्हें हटा दिया, पर नया तो कुछ नहीं दिया! बल्कि "

" माँ भी एक ही एक हैं। उसे भी छीन लिया। खुद को मुझसे छीन लिया। मैं, मैं, मैं अब "

बूला बात पूरी नहीं कर पा रही थी। माँ, आज यह कहते हुए कोई शर्म नहीं है कि मैंने उसका हाथ अपनी हथेली में दबा लिया था। उसकी हथेली में पसीना था। मैं अपनी समस्त अनुभूति के द्वारा उस पसीने को सोख लेना, चूस लेना चाहता था।

* * *

मैंने उन लोगों को देख लिया था। उस दिन नहीं तो फिर कब? माँ, इस चिट्ठी में दिन, तारीख गड़बड़ा मत देना। इतना याद है, जिस दिन उन लोगों को

पर बूला ने ही कहा, "चलो। और नहीं। आज नही आयी।" तेज कदमो से बूला चली जा रही थी। साथ चलने मे मुझे तकलीफ हो रही थी।

आज नही आयी।" बूला यह किससे कह रही थी ? शायद खुद से ही। कल आएगी। कल आऊँगी। रोज आऊँगी। जब तक मिल नहीं जाती है। इधर नहीं मिलेगी तो उधर जाऊँगी उस बुज के पास, जहा खुली जगह है। प्रिन्सेप घाट। वहा देखूगी। एक दिन, दो दिन। नही मिलने पर चली जाऊगी दक्षिण की ओर " बूला ने थोडा रुक कर हाथ की उँगलियो पर कुछ हिसाब लगाया। "शनिवार कब है ? परसों या उसके बाद वाले दिन ? उस दिन और उधर की ओर जाऊँगी। सडक मुडकर जहा रेस का मैदान है।"

"तुम सब पहचानती हो ?"

"तुम्हे भी सब दिखला दूँगी। मेरे साथ कुछ दिन घूमना बस। माँ के दोस्ता ने जिस तरह उन्हे सब दिखलाया है। हर शनिवार को उनको घुडदौड के मैदान मे आना चाहिए ही।"

"पर पर तुम्ह उ उतना कैसे मालूम पडा ?" मैं हकलाने लगा था।

"इतना जान कैसे पायी हूँ ? बूला चालू लडकी है न ! पता नही है ? माँ का एक दोस्त ही एक बार ले आया था। वह बडी मजेदार घटना है। माँ तो अरिन्दम के साथ गयी हुई थी। तब देवप्रिय या पता नही क्या नाम है उसका, वह आया था। माँ नहीं है ? मा नही तो बेटी ही सही। ही ही यहाँ मुझे ले आया, शबत पिलाया। रेलिंग के किनार खडी करवाकर, दौडते हुए घोडो को दिखलाया।"

थोडी देर बूला चुप रही फिर बोलने लगी, "खैर रेस के मैदान मे ही उस दिन मा बेटी की मुलाकात हो गयी। आपस मे नजरें टकरायीं, जिस कहते हैं सयाने-सयाने की टकराहट। उसके बाद और एक दिन मैं खिडकी के पास खडी थी। अरिन्दम राय मा को "टा टा" कहकर चला जा रहा था। खिडकी पर मुझे खडी देखकर एक आँख दबाकर हँसा। माँ न भी गौर किया था। वही से शुरुआत है। शायद डर गयी। मुझे रोक नही सकेंगी, बल्कि यू कहो अपने दोस्त को हा रोक नही पाएगी। फ्राक पहना कर कब तक रोकेंगी ? उसके दोस्त सब एक से बढ कर एक युधिष्ठिर हैं न ? इसी तरह की दो-चार घटनाएँ ' बूला बता रही थी, "इसी से माँ डर गयी। उसके अन्दर गुडगुडाहट पैदा हुई। बदहजमी होन स जैसा होता है।"

"पर," एक जगह रुक कर बूला ने घास पर पाँव रगडत हुए कहा, 'उस तरह के जलनखोर तो लडके होते हैं। जिस तरह सुना है कि बिलाव अपने बच्चा को ही खा जाता है, पर माँ, बिल्ला क्या अपने बच्चो वह माँ तो नही है, राक्षसी है। मेरी माँ राक्षसी है। हाँ हाँ !'

उसे पहचान नही पा रहा था। पहचान नही पा रहा था, इसीलिए मेरे जाने-पहचाने लोगो की काया के आकार-प्रकार से अनुमान करके तकलीफ पा रहा था।

माँ, तभी से मुझे किसी भी चीज़ को गलत देखने की आदत पड गयी थी, मालूम है तुम्हे ? तीसरी परछाईं को ठीक से समझ न पाने के कारण उस दिन बहुत ही तकलीफ हो रही थी। वे लोग एक झील के किनारे बैठे थे। पानी मे लोग डुबकी लगाते हैं, पर पानी ही अँधेरे में डुबकी लगा गया था।

खिल-खिल हँसी। सुनने मे इतना भद्दा लग रहा था ! मूगफली बेचने वाले एक बच्चे को उनमे से एक ने हाथ उठाकर मारने की धमकी दी। एक ढेला किसी ओर ने उठा लिया था – वह कौन था ?

मैंने पहचान लिया था। पहचानते ही मैं पसीने से नहा उठा था। ढेला उठाकर जो परछाईं उस बच्चे को खदेड़ते हुए आगे बढ़ आयी थी, उसका चेहरा देख लिया था मैंने—पहचान लिया उसे।

माँ, तुम्हें भी बहुत तकलीफ होगी। नही नहीं तकलीफ क्यो होगी भला ? तुम तो इस समय सारे सुख-दु ख के बाहर चली गयी हो।

* * *

लीला मासी रह-रहकर खिलखिला कर हँस रही थी। एक बार तीसरे व्यक्ति से बोली, "जाइए न जनाब ! थोडी मलाई खरीद लाइए न ! देखिएगा, ज्यादा भाग डाला हुआ न हो। भाँग खाते ही मेरा सिर चकराने लगता है" इतना कहकर सिर चकराने की क्रिया दिखाते ही, उनका चेहरा रोशनी की ओर हो गया। चेहरे पर उत्कट रग पुता हुआ था। लीला मासी के स्टेज पर उतरने की बात क्या पक्की हो गयी है ? इसीलिए अभी से मुह रगने लगी हैं।

तीसरे आदमी के हाथ में अरिन्दम ने कुछ रख दिया। शायद रुपया-दुपया होगा। तीसरा आदमी हिलता-डुलता हुआ अँधेरे से उजाले की ओर चला गया। मैंने पहचान लिया था।

देख पाया था, उस दिन बूला साथ म नही थी । शायद वह भी आयी हो, पर मुझे नही देखा था ।

बाबू घाट मे उस दिन जोरदार कीर्तन चल रहा था । ढालक बजा कर । नहा कर दल के दल लोग लौट रहे थे । मोटे थुलथुल पुरुष और स्त्रियाँ ।

(कौन-से लोग रोज गगा स्नान करते हैं ? बूला ने उस दिन क्या तो बताया था ? कहती थी, जो लोग पापी हैं वे ही । वेश्या और बदमाश । इन दो शब्दो का उच्चारण उसने किया था । मैंने विश्वास नही किया था । उसे प्रत्येक वस्तु को विकृत ढग से देखने की आदत थी । इसी से विश्वास नही किया था ।)

पर मुझे नशा-सा हो गया था । मैं रोज आता था । उन लोगो से जिस दिन मुलाकात हुई जर्दा-पान और कुल्फी के बारे मे वह बहुत ज्यादा निश्चिन्त थी, न ! पता नही क्या सोचकर मैं उस दिन इडेन गार्डेन के सामने खडा हो गया था । यहाँ स भी घडी साफ दीखती है—छह बजकर जब बीस हो गये थे कि अचानक वे लोग दीखे । मैं अपने आखिरी चीना-बादाम को तोडकर खा नही सका ।

देखा, टैक्सी नही, एक फिटन है, तुरन्त वहाँ आकर खडा हो गया । परछाईं की तरह न जाने कौन लोग फिटन से उतरे । मैंने पहचान लिया । परछाईं की तरह मैंने भी उनका पीछा किया । मैं जासूस हूँ । मैंने आसामियो को ठीक जगह पर पकड लिया है ।

(बूला, तुम आज कहाँ हो !)

वे लोग पैगोडा के पास से होते हुए लिलिपुल की ओर गए । झाऊ अथवा पाइन के पेडों की घनी छाँव मे, वे परछाइयाँ भी घुलमिल गयी थी ।

पहचान लिया था । एक तो लीला मासी थी और दूसरा निश्चय ही अरिन्दम राय । पर तीसरा कौन था ?

उसे पहचान नहीं पा रहा था। पहचान नहीं पा रहा था, इसीलिए मेरे जाने-पहचाने लोगों की काया के आकार-प्रकार से अनुमान करके तकलीफ पा रहा था।

माँ, तभी से मुझे किसी भी चीज को गलत देखने की आदत पड़ गयी थी, मालूम है तुम्हें ? तीसरी परछाईं को ठीक से समझ न पाने के कारण उस दिन बहुत ही तकलीफ हो रही थी। वे लोग एक झील के किनारे बैठे थे। पानी मे लोग डुबकी लगाते हैं, पर पानी ही अंधेरे में डुबकी लगा गया था।

खिल-खिल हँसी। सुनने मे इतना भद्दा लग रहा था ! मूंगफली बेचने वाले एक बच्चे को उनमे से एक ने हाथ उठाकर मारने की धमकी दी। एक ढेला किसी ओर ने उठा लिया था – वह कौन था ?

मैंने पहचान लिया था। पहचानते ही मैं पसीने से नहा उठा था। ढेला उठाकर जो परछाई उस बच्चे को खदेड़ते हुए आगे बढ़ आयी थी, उसका चेहरा देख लिया था मैंने—पहचान लिया उसे।

माँ, तुम्हें भी बहुत तकलीफ होगी। नही नहीं तकलीफ क्यो होगी भला ? तुम तो इस समय सारे सुख-दुःख के बाहर चली गयी हो।

* * *

लीला मासी रह-रहकर खिलखिला कर हँस रही थी। एक बार तीसरे व्यक्ति से बोली, "जाइए न जनाब ! थोड़ी मलाई खरीद लाइए न ! देखिएगा, ज्यादा भाग डाला हुआ न हो। भाँग खाते ही मेरा सिर चकराने लगता है" इतना कहकर सिर चकराने की क्रिया दिखाते ही, उनका चेहरा रोशनी की ओर हो गया। चेहरे पर उत्कट रंग पुता हुआ था। लीला मासी के स्टेज पर उतरने की बात क्या पक्की हो गयी है ? इसीलिए अभी से मुंह रंगने लगी हैं।

तीसरे आदमी के हाथ मे अरिन्दम ने कुछ रख दिया। शायद रुपया-वुपया होगा। तीसरा आदमी हिलता-डुलता हुआ अंधेरे से उजाले की ओर चला गया। मैंने पहचान लिया था।

खिलखिला कर हँसते हुए लीला मासी ने पीछे से कहा था, "जाइए जाइए दौड़कर जाइए। और फटाफट ले आइए। देर हो जाने से अरिन्दम बाबू नाराज हो जाएँगे। आपके नाटक को फिर हम लोग नहीं लेंगे।"

वह तीसरा आदमी सामने की ओर झुककर सचमुच में क्या दौड़ने लगा है? हे ईश्वर! मैं उसकी एक पूंछ भी क्यों देख पा रहा हूँ! तुम्ह तो बताया है मा, मुझे इस तरह की ऊटपटांग चीजें उसी समय से नजर आने लगी थी।

लीला मासी, साड़ी को घाघरे की तरह फैला कर बैठ गयीं। शायद चोर काटा देखने लगी थी।

"तुम उस बेचारे को क्यों नचा रही हो! बुद्धू, अधपगला कहीं का, तब से जोंक की तरह चिमटा हुआ है।" अरिन्दम बोल रहा था, "पर उसने सचमुच में ही सोच लिया है कि हम लोग उसका नाटक खेलेंगे। हा! हा!!"

"नाटक? तुम उन्हें नाटक कहते हो? वह सब तो पालागान है, सिर्फ जात्रा। एकदम बकवास। न जाने कितने सारे उसने सुनाए हैं उसने? एक-दो-तीन-चार। बाप रे सिर दुखने लगता है।" मुट्ठी भर घास उपाड़ते हुए लीला मासी ने कहा।

"फिर भी तुम सुनती हो।"

"मजा आता है।"

"पर हम लोगों के आज के मजाक पर पानी फेर दिया। कॉमिक फीगर—यह आदमी पूरा बाफून है।"

लीला मासी ने घास चबाकर 'थूः' किया। ठीक जिस तरह भामती करती थी।

वह तीसरा आदमी भागता चला आ रहा है। मेरी आँखें जल रही हैं। वह देखने में ठीक चाय दुकान के बेयरे की तरह लग रहा है। क्यों भला? हे भगवान! मुझे अंधा कर दो। सोच रहा हूँ, झाड़ी के पीछे से निकल कर उसके सामने जाकर खड़ा हो जाऊँ और बोलूं, "मत जाओ, उन लोगों के पास मत जाओ। इस तरह नौकर की तरह व्यवहार क्या कर रहे हो? तुम-तुम कलाकार हो न? वे लोग तुम्हें नचा रहे हैं। वे लोग खीझ रहे हैं, तुम मत जाओ।"

मन ही मन में 'पिता ही परमन्तप' के श्लोक को दोहरा रहा हूँ, और देख रहा हूँ वह तीसरा आदमी मेरे पास से गुजर कर उन लोगों के पास जाकर घुटने मोड़ कर बैठ गया। अँधेरे ने माना उसके बदन पर रोयेंदार कोट पहना दिया है। अंधेरे ने उसे भालू बना दिया क्या? वह क्या अब भालू की तरह नाचने लगेगा?

भयंकर कष्ट से गूंगा बना मैं डुगडुगी की आवाज भी सुनने लगा हूँ।

काफी देर बाद वे लोग एक और फिटन गाड़ी पर सवार होकर चले गए, पर मैंने साफ साफ देख लिया था, उस अनुगत छाया को अपने साथ नहीं लिया। या फिर वह स्वयं नहीं गया हो!

उसके बाद वह छाया और मैं आमने-सामने। हट जाने का मौका ही नहीं मिला था। वह भयंकर रूप से चौंक गया था, जैसे भूत देख लिया हो। उसका चेहरा एकदम से सूख जाते देखा, पर कुछ कहा नहीं, घुड़की भी नहीं दी, न हाथ के इशारे से बुलाया ही। पहचाने जाने का कोई भाव उसके चेहरे पर था क्या ? अचानक वह पीछे मुड़कर उल्टी दिशा की ओर जाने लगा। मैं यहीं से देख पा रहा हूँ।

इस बार मैं ही उसका पीछा करता हूँ।

इस बार हम साथ-साथ हो गए थे। ट्राम जहाँ मुड़ती है, वहीं। हाईकोर्ट रात के समय मन्दिर की चूड़ा की तरह दिख रहा था। घाट से लेकर यहाँ तक भिखारियों की भीड़। लोगों का आना-जाना काफी कम था, फिर भी आदत के चलते वे लोग, "दान कर जाइए बाबू! आपका भला होगा बाबू।" की हांक लगाए जा रहे थे।

मुझे वे कनखी से देख रहे हैं। उस समय तक मौन थे। एक ट्राम ढग ढग आवाज के झाड़ू से सड़क साफ करता हुआ चला आ रहा है। उन्होंने अचानक जेब में हाथ डालकर मेरी हथेली पर एक गोल-सी चकती रख दी। जिसे मैंने अनुभव से जाना कोई धातु था। उसी क्षण, हैंडल पकड़कर ट्राम के पिछले दर्जे में चढ़ गए—मैं भी उनके साथ।

मुट्ठी खोलकर देखता हूँ, चवन्नी थी।

माँ! उस समय मेरी उम्र कितनी होगी भला! मैं बहुत परिपक्व या काइयाँ तो नहीं हो गया था तब तक! फिर भी मैंने चट्-से उस चवन्नी का मतलब समझ लिया था। चवन्नी यानी मेरी जुबान बन्द रखने की घूस।

बाबा के साथ उसी समय से ही एक समझौता हो गया। आपस की एक समझदारी। धूर्त, निःशब्द एक लुकाछिपी और भी कई बार चला। उन पर अपना एक अदृश्य अधिकार समझने लगा था। बाद में पता चला कि उसे विदेशी भाषा में ब्लैकमेल कहते हैं। मौका मिलते ही सिर्फ आंखों-आंखों में बातें। बाद में मैं भी निर्लज्ज की तरह हाथ फैला देता था—जिस पर कभी चवन्नी तो कभी अठन्नी चुपचाप धर दिया जाता।

भिखमंगे, सब भिखमंगे हैं।

उस घटना का जिक्र मैंने कभी किसी से नहीं किया। पर आज अमावस्या की रात में—कब्र ही तो खोदना है—कंकाल अगर निकल भी आए तो क्या हर्ज है।

"मैं चली जाऊँगी।" खुले आसमान के नीचे खड़ी बूला ने कहा।

लकड़ी की जो सीढ़ी बूढ़े की तरह हिलती-डुलती दो तल्ले तक आयी है, वही दो तल्ले से किसी बच्चे की तरह रिड़ती हुई छत पर चली गयी है। जहाँ बरसाती है और एक शेड डालकर इस घर का "लेसी" सपरिवार रहता है।

उस दिन वे लोग कोई भी नही थे। दरवाजे पर ताला था। कालेज के रजिस्टर मे अपना नाम भी लिखवा आया। तुम्ह क्या याद है जाने के पहले और बाद मे तुम्ह दो बार प्रणाम किया था ?

मन बहुत हल्का था। इसलिए सोचा थोडा छत पर टहल आऊ। मुझे मालूम नही था कि वहा बूला होगी।

आज बूला का चेहरा बिल्कुल बदला हुआ था। खुले बाल, गीले। शायद थोडी देर पहले नहाई हो। कार्निस पर पीठ रखकर उसने अपने बालो का फैला रखा था।

पास आकर देखा, बूला की आखें भी गीली थी। शायद तुरन्त नहायी हो या फिर फ्राक की जगह साडा पहनी थी इसलिए, बूला बेहद स्निग्ध और नम्र दीख रही थी। उसके काले पाव के धब्बे ढँके हुए थे। आँख में सुरमा-उरमा भी नही था। शायद उसी से उसकी आखे गहरी और ठहरी हुई दीख रही थी। छत के तुलसी के पेड से कुछ ताजे पत्ते तोड कर मैं नाक के सामने पकडे हुए था। शायद इसी से मुझे उस समय बूला प्रणम्य तुलसी की तरह पवित्र लगी थी।

कौन-सा कालेज। क्या पढूगा।

(आर्ट्स पढोगे ? अरे ! लड़का होकर ताज्जुब है ! गणित मे दिमाग नहीं चलता ? पर मुझे साइन्स पढ़ने वाले लडके बहुत अच्छे लगते हैं। मर्दों के लिए वही उपयुक्त है। बाद मे जो लडके मेडिकल स्टूडेन्ट बनते हैं, गले मे झूलता आला, कितने स्मार्ट, या फिर इजीनियरिंग—एकदम फिटफाट !)

इस तरह की कुछ मामूली किस्म की बातो मे ही धूप सिमट आयी थी। सुन्दर, झिरझिर हल्दी, बूला के चेहरे पर बिखरती जा रही है। इसे ही आभा या शोभा या फिर क्या कहते हैं ? उसके चेहरे के मुहासे सब साफ होकर, चेहरा चिकना कैसे हो गया ?

"मैं चली जाऊगी", बूला की छाया मेरे सीने तक फैल चुकी थी। उसने बडे उदास भाव से घोषणा करने की मुद्रा मे कहा, "मैं चली जाऊँगी ?"

कहाँ बूला ? कहाँ ? पूछने की जरूरत ही नहीं पडी। उसने खुद ही बताया, "वहाँ, यह अभी तक तय नही किया है। पर अगर वहीं जगह नहीं मिली तो किसी अनाथालय मे।

मैं कुछ समझ नही पा रहा हूँ। मैं बूला की ओर देखे ही जा रहा हूँ। बिल्कुल भोंदू की तरह। बूला कह रही थी, "जिसके बाबा न हो, माँ भाग गयी हो, वे कहाँ रहते हैं ? ऑरफॉनेज में—अनाथ आश्रम में। नहीं क्या ? तुम्हीं बताओ ?"

थोडा आगे आकर उसने मेरे कन्धे पर हाथ रखा। उस स्पर्श में मुखरता नही थी, जो अन्य दिनों में होती थी। मेरा शरीर सिहर नही उठा, बल्कि एक शीतल जल की धार, कन्धे से होकर कण्ठनाली मे, वहाँ से होकर सीने में, फिर वहाँ से

होकर रीढ़ की हड्डी से होकर उतरने लगी। "तुम्हीं बताओ"—बुला ने पहली बार 'तुम' कहा।

मैंने उसे नहीं बताया कि, मैंने लीला मासी को देखा था। उनका पता शायद मेरे बाबा को भी मालूम हो। बताया इसलिए नहीं, क्योंकि मेरा सिर शर्म से झुक जाता।

"तुम चली क्यों जाओगी बुला ?" मैंने मसले हुए पत्ते को और ज्यादा रगड़ते हुए कहा, 'चली क्यों जाओगी ? यहां तो अभी भी तुम्हारे'' " यहीं रुक जाना पड़ा। सतीश राय नामक नगण्य एक व्यक्ति को सब जान-सुनकर 'तुम्हारे बाबा' कहने हुए हिचकिचाहट हो रही थी।

"यहाँ अब मेरी कोई जगह नहीं है।" बुला ने बहुत शान्त सयत, विषाद से श्रीमण्डित होकर कहा, "नीचे हम लोगों के कमरे से लोगों की आहट नहीं मिली ?"

"मिली है। कौन आए हैं ?"

"उस आदमी की पत्नी। न-न पहेली नहीं बुझा रही हूँ। उसकी बीवी है, जिसे वह छोड़कर चला आया था। वही बीवी अपने किसी बहन के लड़के के साथ यहाँ आ गयी है। या फिर वह खुद ही ले आया हो।"

स्वर में थोड़ा-सा भी उत्ताप नहीं है। बुला कहती जा रही है, "उसका कोई दोष नहीं है। माँ तो उसे भी छोड़ गयी है। जिस किनारे का छोड़कर वह बह गया था, बीच मझधार से तैरता हुआ वहीं लौट गया। इसमें उसका दोष क्या है, वरना उसे डूबना पड़ता। आदमी पहले अपने को ही बचाएगा न !"

बुला सशरीर क्षमा बन गयी है। क्रमश विस्तीर्ण होती जा रही है। उसके अपार्थिव विस्तार से मेरे सामने का आकाश ढँक जाएगा।

"मैं भी अपने को सम्हालूँगी।" बुला धीरे-धीरे उच्चारण कर रही थी। सिर झुका कर जिस तरह लोग पोथी पढ़ते हैं, उसी तरह, "हार मैं मानूँगी नहीं स्कूल की उर्मि दी ने मुझे सहायता करने का वादा किया है। कहा है जितना बन पड़ेगा, मेरे लिए करेंगी।" इतना कहकर बुला थोड़ा-सा हँस दी। हथेली मानों आइना हो, वहाँ ढलते हुए दिन की धूप को प्रतिफलित देखते हुए स्वय ही कहा, "फिकर मत करो। शायद मुझे सचमुच ही अनाथालय में न जाना पड़े। मैं खड़ी हो सकूँगी। और उस दिन " उद्दीप्त स्वर में बुला बोल पड़ी। उसके चेहरे पर धूप छाँव की परछाईं थिरक गयी। "देखना, मेरी माँ भी शायद मेरे पास लौट आए। जिस समय मेरा बहुत नाम हो जाएगा। पूरे देश में साल भर 'शो के बाद शो' करती जा रही हूँ। उस समय मुझे देखने के लिए टिकट खिड़की के सामने लम्बी लाइन होगी। खचाखच भरा हाल असम्भव तो नहीं है न ! उस समय अचानक एक दिन देखूँगा, मां अवाक होकर सामने की सीट पर बैठी हुई हैं, और तुम हाँ तुम भी दूसरी सीट पर से बार-बार तालियाँ बजा रहे हो।"

बूला रुक गयी। हाथ उठाकर खुले हुए बालों को लपेट कर जूड़ा बना लिया। धीरे-धीरे वह अपसृत होती जा रही है, मानों अभी से ही वह एक-एक पाँव फेंक कर अपने चलने की गति से ही नाचना सीख रही हो। सीढ़ी की रेलिंग बिना पकड़े ही वह नीचे उतरती जा रही है। पहले उसके पाँव फिर क्रमश जंघा, पीठ, ग्रीवा, जूड़ा समेत बूला अस्त हो गयी।

*　　　　　　*　　　　　　*

"कुछ कहा तो नही जा सकता न,"—माँ! बहुत देर तक मेरे कानों मे उसके ये वाक्य गूँजते रहे। नृत्य का तूफान उठाकर जब कलाकार पर्दे के पीछे चला जाता है, उस समय भी दूर से बजती चली आती है एक रुनझुन की आवाज। "मैं हार नही मानूंगी। मैं अपने पाव पर खड़ी होऊँगी," शायद बूला की यह मर्मान्तक प्रतिज्ञा ही एक मात्र सत्य थी। शायद उसने सिर्फ जिन्दा रहने के लिए ही अपने मन मे एक दुरन्त दुर्वार आशा सँजो ली थी।

और उसी छत पर, जब एक के बाद एक पक्षी उड़े जा रहे हैं, ठीक उसी समय मुझे उस काल्पनिक अनुभूति का बोध हुआ। सब चले जा रहे हैं, सिर्फ मैं रह गया। दिन का उजाला, शाम का पक्षी, सड़क पर घरमुखी लोग, ज्यों ही जाते हुए दीख जाते हैं, मैं आहत अभिमान लिए सिर्फ देखता रह जाता हूँ। सब चले जा रहे हैं। मुझे अतिक्रम करते जा रहे हैं, जिस तरह अभी बूला भी मुझे अतिक्रम कर गयी।

उसके बाद, उसके बाद बताओ तो माँ! उसके बाद क्या? उसके बाद तुम। थोड़ी देर मे ही मैं तरतराते हुए नीचे उतर आया। जो रहता है रहे, जो जाना चाहे जाए। तुम तो हो! तुम रहना।

नीचे उतरते ही तुम जब किस तरह तो बैठी हुई थी, गला फाड़कर चिल्लाया, "मा!"

सीना बन्द कर तुमने मेरी ओर देखा। जल्दी से उठकर मेरी पीठ पर हाथ रखा, "डर गए थे क्या?"

मैंने कोई जवाब नही दिया, तब तुमने अपना हाथ मेरे माथे, और छाती पर फेरा, "बुखार-वुखार तो नही है न? देखू!"

कैसे समझाऊँ मा, भय नही ज्वर नहीं, कुछ नही। कितने अरसे के बाद तुम्हारे व्याकुल साँसों को अपने इतने आसपास पा रहा हूँ। बिना किसी सकोच के तुम्हारे कन्धे पर मुह रगड़ रहा हूँ।

("हट, हट! कुछ भी तो नहीं हुआ है। हट जा पगला!")

तुम शरमा रही हो। अपने को छुड़ा लेना चाहती हो।

("तुझे आज हुआ क्या है रे?")

सच मे कुछ नही हुआ था। यह तो तुम सामने हो। तुम्हे देख पा रहा हूँ। छू पा रहा हूँ। अपने पूरे प्राण, स्नेह सब के साथ। हमेशा की तरह वही आश्रय बनकर अभी भी हो।

उस दिन स्नायुमण्डली मे अचानक एक तूफान क्यो उठा था ? उस अस्थिरता, गडमड होते पागलपन के कारण को आज समझ पा रहा हूँ। समझ उसी दिन लेना चाहिए था, जब तुम्हें मैंने खीच कर फर्श पर बैठा कर तुम्हारी गोद मे अपना चेहरा डुबो दिया था। तुम मेरे बालो मे हाथ फेरती जा रही थी, और मैं रुंधे हुए गले से बार-बार पूछे जा रहा हूँ, "मा, तुम भी लीला मासी की तरह चली तो नही जाओगी न !"

वह भयकर आतक, अचानक ही शायद मेरे बिल्कुल अन्दर से उठकर सचेतन मन पर छा गया होगा। मैं एकदम से किसी शिशु की तरह आकुलित हो उठा था।

पर वही, आखिरी बार के लिए। इसके बाद—बाद हा, मेरा असहाय शैशव, मेरा कम्पित कैशोर्य मुझे छोडकर हमेशा के लिए चला गया।

*　　　　　*　　　　　*

बहुत दूर तक लुढ़कते-लुढकते यहाँ आकर दम ले रहा हूँ। सोच रहा हूँ, जीवन के अनेक भय छिपा रहता है, उस "छोड जाना" नामक आघात दर आघात के धातु से बने एक कठोर डिब्बी म।

(प्राण कहा टिका रहता है ? परीकथा की कहानी कहती है कि डिब्बी में। वह डिब्बी किसकी किसकी मुट्ठी मे रहती है ? वह क्या जननी, प्रणयिनी अथवा घरणी—किसी न किसी नारी की मुट्ठी मे ? एक-एक उम्र मे, एक-एक जन। एक-एक समय मे एक-एक जन के पास हम लाग स्वेच्छा से उस डिब्बी को सौंप देते हैं।)

भय भी कैद है एक डिब्बी मे। जो है, वह छोड जाएगा, भय इसी बात का है। जो कुछ है वह चला जाएगा। कुछ भी नहीं रहेगा। विभिन्न छोड जाने वाले छाप पर छाप मन पर लिए, मन का चेहरा भी डेड लेटर आफिस के लिफाफे जैसा हो जाता है। एक अस्वस्ति, अनित्यताबोध, स्नायुकेन्द्र से निर्गत होकर उर्णाजाल म मुझे आबद्ध करता जा रहा था। दादा, सुधीर मामा यह सब ता बासी नमूना थ। ताजा दृष्टा त देखो, लीला मासी बूला को छोड गयी। बूला छाड गयी यह घर—वहाँ यह मुझे पता नही अभी तो और भी है, छोडने-छुडाने का सिलसिला तो अभी काफी दूर तक चलेगा। उस दिन छत पर अकेले मे इस भीषण सत्य से मैं प्रचण्ड रूप से बिंध गया था। पक्षी घर लौट रहे हैं ठीक ही। पर जितने भर लौटते हैं, उतनों का ही तो देख पात हैं। बहुत से तो लौट कर नही आ पात हैं। उतना को ही तो देख पात हैं। बहुत से जा लौट कर नहा आ पाते हैं, क्या किसी ने उनका भी हिसाब रखा है ?

तुम अगर न रहो। रहोगी क्या ?

इसीलिए उस दिन अकस्मात मुझमे आतक समा गया था।

केवल मनुष्य ही छोड जाता है, ऐसी बात तो नही है। छूट जाते हैं अनेक अभ्यास, शक्ति। जैसे किसी समय सोचा था, कलम पकड़ने की शक्ति भी खो चुका हैं।

"ईश्वर ! ईश्वर !" अन्तरात्मा सलीब पर चढे मानव पुत्र की तरह आर्तनाद कर रहा है। "तुम भी मेरा परित्याग क्यों कर रहे हो ? मैंने कौन-सा जुर्म किया है ?"

फिर यह भी जानता हूँ कि, छोड जाने की अनुभूति मात्र अर्द्धसत्य है, आंशिक। हम लोग भी छोड देते हैं। पीछे हट जाते हैं। हालांकि लगता ऐसा है, जैसे वे लोग हटते जा रहे हैं, मैं स्थिर हूँ। पर ऐसा सम्भव है क्या ? वस्तुतः विपरीत-मुखी दो गाडियाँ परस्पर को अतिक्रमण करती हैं।

*　　　　*　　　　*

लीला मासी गयीं, चूला गयी। उसके कितने दिन बाद हम लोग भी वह मकान छोडकर चले आए ? हद ज्यादा, कुछ महीने बाद ही, या फिर एक साल बाद ही। उस बार कलकत्ते मे कडाके की ठण्ड पडी थी। सुबह के समय उँगली भी नही मुडती थीं। बिस्तर पर लगता था, ओस टपक गया हो। और शाम होते न होते पूरा शहर धुंध और धुएँ मे लिपट कर सा जाता था। चूल्हे के पास बैठकर मैं और तुम हाथ सेंका करते। मुझे थोडा बुखार और खासी भी हो गयी थी। तुम बोल रही हो, "छाती, पीठ, हथेली और तलुवे मे गरम तेल की मालिश करवा ले।" गुस्सैल, लडाकी दोनों बिल्लियाँ भी ठण्ड से सिकुड कर चूल्हे के पास ही सोई रहती थीं। सीढी के नीचे रहने वाले कुत्ते का पता ही नही चलता था, पता नही कब सो जाता था। बाबा उस समय भी बाहर होते, लौटेंगे कब क्या जाने।

चूल्हे के सामने फैलाए हुए हाथों को समेटते हुए तुम हँस पडती, "अब मुझसे नही हो पा रहा है। जोडो मे दर्द है। शायद गठिया हो गया है। तेरी उमर कितनी हुई रे ?"

"तुम्हे तो मालूम है। कितना—सत्रह ?"

तुमने आख मूद कर कुछ हिसाब लगाया। फिर कहा, "नही सोलह। ठीक सोलह इस बार पूरा होगा।'

' उमर की बात इस समय क्यो ?"

"नही, शरीर अब साथ नही दे रहा है। सोच रही हूँ, कब रथ-बल सब चला जाएगा। अथर्व हो जाऊँगी, उससे पहले ही तेरी शादी कर दूं। बता तुझे कैसी बहू चाहिए ? बडी बडी सी या एकदम न हो गुडिया सी ?"

इन सब बातो से मेरे कान लाल हो जाते, यानी होने शुरू हो गए थे। नहीं कुछ और भी होगा। गले मे कुछ फसने लगता। भीतर कैसा तो होता। सो शुरू शुरू में कुछ कह नही पा रहा था। पर बाद म जब फिर तुमने पूछा, ' तुझे कैसी बहू पसद है, "तो पता था कि तुम मजाक कर रही हो। इसलिए उसी लहजे मे ही फस्स से बोल बैठा, "तुम्हारी तरह।"

कुछ देर बाद सदर दरवाजे की कुंडी जोर से बज उठी। चारो ओर सन्नाटा था, इसलिए हमारे कमरे तक आवाज गूंज आयी थी। मैं चौंक उठा था। तुमने कान लगाकर एक बार सुना फिर कहा, "इस मकान म नही। शायद बगल वाले मकान मे हो।"

उस समय तक कुण्डी खटखटाने की आवाज आती जा रही थी।

खिडकी खोल देते ही, सर्द हवा का एक झोंका तीर की तरह आकर कमरे की दीवार और हम लोगो के चेहरे को बेंध गया। सदर मे आवाज होती ही जा रही थी। गर्दन घुमाकर घबडाए हुए स्वर मे मैंने कहा, "इसी मकान की कुण्डी बजी है माँ।"

"पर दरवाजा तो खुला है। कुण्डी क्यो हिला रहा है ?"

"शायद नया आदमी है। मालूम नही होगा।"

उसी समय जो आया था उसने किसी की आहट न पाकर दरवाजा ठेलने लगा। दरवाजा खुल गया और वहीं से किसी का गम्भीर कंठ स्वर हवा मे तैरता हुआ चला आया। "कोई है इस घर मे ?"

सडक के गैस की रोशनी तिरछी होकर बाहर के गलियारे मे फैली हुई थी। सिर पर शाल लपेटे एक आदमी उसी रोशनी के सहारे आगे बढ़ता आ रहा था और बोले जा रहा था, 'कौन है, कौन है यहाँ ?' थोडा और आगे बढने पर बाबा का नाम भी साफ सुन पाया। वह आदमी पूछ रहा है, यह क्या उनका मकान है ? 'हाँ', कहने जा रहा था, पर गले से स्वर ही नही फूटा।

वह तब तक बिल्कुल हम लोगो की खिडकी के नीचे आ चुका था। तुमने मुझे पीछे से धकेलते हुए कहा, "जाकर नीचे देख न!"

"मैं नही जाऊँगा माँ! मुझे डर लग रहा है।"

"तू इतना डरपोक है!" तुमने मुझे दबी हुई आवाज मे घुडकी लगायी। अवाक होकर देख रहा था, सिर पर पल्लू चढ चुका था। एक अपरिचित की उपस्थिति मे ही सिर पर घूंघट चढ़ गया ?

घुडकी खाकर, मैंने गर्दन बढाकर किसी तरह कहा "हाँ यही मकान है। पर बाबा अभी तक घर नही लौटे हैं।"

उसे कहते सुना, "मालूम है। कुछ जरूरी खबर है। सीढी किधर है ?"

चाहता नही था कि वह आदमी ऊपर आए। पर यह भी मालूम था कि आएगा जरूर। एक बार जब तय कर लिया है तो जरूर आएगा।

तब लाचार होकर मैंने ऊपर से लालटेन हिलाते हुए कहा, "इस ओर, इस ओर।"

लकडी के जीने से ठक-ठक की आवाज चली आ रही है। बुत बना मैं सोच रहा हूँ कमरे का दरवाजा बन्द कर दू, या नही। उसे जो कुछ कहना है बाहर से ही बोले, हम सुन लेंगे।

नीचे जब था, तब सिर्फ सिर पर लिपटी चादर ही दीख रही थी। ऊपर उठ कर आमने-सामने जब खडा हुआ, उसके दो भौंहीन आँखें देख पाया। चेहरे का अधिकाश हिस्सा ढँका हुआ था, हालांकि उसी क्षण भूकम्प की तरह उसके दोनो हाठ हिल उठे थे।

उसके होठ हिल रहे हैं, पर अच्छो तरह समझ मे नही आ रहा है कि वह कह क्या रहा है, शायद उसके पूरे दांत नही हैं। बूढा था, इसलिए। पर तुम समझ गयी थी। पीछे मुडकर देखा, तुम्हारा चेहरा फक्क पड गया था। मुझे झकझोरते हुए कहा, "तेरे बाबा को शायद कुछ हो गया है। ये समझाकर बता नही पा रहे हैं। बोल रहे हैं कि बेहोश हो गए हैं बताइए न, कहाँ, कहाँ हैं वे !"

उस व्यक्ति ने थोडा हिचकिचाते हुए कहा, "आफिस में।"

"आफिस, याने थियेटर के उसी प्रेस मे ?"

आगन्तुक ने गर्दन हिलायी। पूछताछ करने का समय नही था, न सोचने का ही। तुमने अपने समस्त अस्तित्व के साथ कापते हुए कहा, "तू जा। तुरन्त जा।"

मैं कुछ बोलू या समझू उसके पहले ही मेरे ऊपर कोई भारी-सी चीज आकर गिरी। देखता हूँ, एक मोटी-सी चादर थी। मैंने तुरन्त जूते पहन लिए और फिर थोडी देर मे पाता हूँ कि वह आदमी मेरे आगे-आगे और मैं उसके पीछे-पीछे चल रहा हूँ।

*　　　　*　　　　*

जाडे की रात में राजपथ बिल्कुल सूना हो गया था। सम्मोहित की तरह न चलते रहने से मैं डर ही गया होता। ट्राम आते ही, उसके इशारे पर चढ गया। काफी देर बाद ट्राम के एक जगह रुकते ही उतर गया।

वहीं से एक रिक्शा लिया। "अभी भी क्या काफी दूर है ?" मेरी आवाज एकदम पेट के अन्दर से फूट कर निकली। उसे सुना। पर पूछ किस रहा हूँ ? वह तो सिर से पाँव तक अपने का चादर में लपेटे हुए था। कडाके की ठड में उसके पोपले मुह से रह रहकर ही ही हु-हु की आवाज निकल रही है। सामने काफी मोटा परदा गिराया हुआ है। कहाँ जा रहे हैं समझ मे ही नही आ रहा।

वह अचानक बोल उठा, "रोको-रोको, यहीं पर," और वशीभूत रिक्शा ठन् की आवाज के साथ ही सचमुच ही रुक गया। चारों ओर देखता हुआ बोला, "कहाँ, यह तो थियेटर का प्रेस नहीं है। यह तो शायद कोई दूसरी जगह है?" दृढ़ता के साथ कोई बात कहने का साहस नहीं था, इसलिए शायद शब्द जोड़ दिया था।

गर्दन घुमाकर उस व्यक्ति ने कुछ कहा। पहले की तरह अस्पष्ट स्वर, पर आश्चर्य है, इस समय मैं उसकी बात थोड़ा-बहुत समझ पा रहा हूँ। उसने कहा, "नहीं, प्रेस में नहीं। तुम्हारे बाबा इसी मकान में हैं!"

कमरे मे काफी तेज रोशनी थी। कमरे की पूरी फर्श, फराश से ढँकी हुई थी और कमरे मे काफी लोग थे। पर मैं जाते ही तुरंत उन्हें देख नहीं पाया था, क्योंकि मेरी आँखें चौंधियायी हुई थी।

चौखट पर खड़े होकर उस व्यक्ति ने मानो घोषणा की, "प्रणव बाबू का लड़का है," और उसके साथ ही मुझे ठक से कमरे के अंदर ठेल दिया।

तब उस फ़रास पर बैठे लोगों मे से एक को धीरे-धीरे आगे बढ़ आते देखा गया। "प्रणव के बेटे हो तुम? अरे, आओ आओ," पर वे क्या बोल रहे थे, मैं ठीक से सुन नहीं पाया था, हालाँकि बहुत सतेज और उत्फुल्ल कण्ठ स्वर था। मैं उनके चेहरे की कांति की ओर अपलक दृष्टि से देखे जा रहा था। दीर्घ सुपुरुष, स्वर्णप्रभ—किसी भी व्यक्ति के इतने अप्रतिम सौंदर्य को मैंने इतनी नजदीकी से पहले कभी नहीं देखा था। वे खड़े थे। कम ऊँचाई वाली छत का लगभग छूते हुए, साथ ही बासी फूल की पखुड़ियों की तरह थोड़ी मुरझाई हुई भी। वे आगे आ गए और मुझे दोनों हाथों से लगभग लपेटते हुए कमरे के बीचोबीच खड़ा कर दिया।

"प्रणव का लड़का, प्रणव का लड़का आया है।" वे न जाने किसे बुलाकर बोले, "बैठने को दो, बैठने को दो। इस जाजिम पर ही जगह बना दो। ओ नलिनी, ओ नीलि," उनका कण्ठस्वर काढ़े गये दूध की तरह गाढ़ा था, जो शंख की तरह ध्वनित हो रहा था, और शंख की तरह ही कांपे भी जा रहा था। उनके डगमगाते हुए एक पैर के धक्के से एक गिलास लुढ़क गया।

जिसे नलिनी के नाम से पुकारा गया था, वह अब सामने आयी। काले पाड़ वाली साड़ी, हाथ में काँच की चूड़ियाँ, सलीके से गुँथे हुए बाल। आगे आते हुए उसने उस विशालकाय व्यक्ति को हटाते हुए कहा, "आह! क्या हो रहा है सव्य-साची बाबू? देख नहीं रहे हैं, बच्चा है, घबड़ा जाएगा!"

जिस तरह नाटकों मे चलते हैं, आहिस्ता-आहिस्ता पीछे हटकर वे धुप से एक बंधे यन्त्र के ऊपर बैठ गए, जो तुरंत ही यन्त्रणा से झंकृत हो उठा।

ये ही सव्यसाची हैं। विख्यात अर्जुन विख्यात कालकेतु, विख्यात जहाँगीर—नाटक सिर्फ एक ही बार देखा हूँ। बाबा ने दिखलाया था—दीवारों मे न जाने कितने पोस्टर देखे हैं—मैं अपलक देखे जा रहा था। मेरी अपलक दृष्टि का अनुसरण

करके वे भी मानो थोड़ा तन गए। सीना थोड़ा फैलाते हुए बोले, "लगता है पहचान गये हो। क्यों ? हाँ, मैं ही सव्यसाची हूँ। मच पर हमेशा राजा, अमीर, उमराव बनता है, पर साजघर मे ? केवल भिखारी है। हज़ारों बार मरा हूँ, मर-मर के जिया हूँ ?"

"आह, क्या हो रहा है ! आपसे कहा न सव्यसाची बाबू, एक बच्चे के सामने "

"बच्चा ?" छत फाड़कर उन्होंने ठहाका लगाया। मुझे अपनी झपती हुई आँखो से परखते हुए कहा, "बच्चा, बच्चा कहा है ? मजे से मूछें भी तो दीखने लगी है। नीलि ! उस उम्र मे ही मैं इतना पक चुका था, कि इधर-उधर एकाध बच्चे पैदा हो जाना असम्भव नहीं था। (हो भी गया तो बडी बात नही) कौन जाने हो भी गया हो !"

"आ" इस बार सचमुच मे तेज आवाज मे जिसने घुड़की लगाई, उसका नाम नलिनी था। मेरा हाथ पकड कर बाहर बराडे मे ले आयी और एक बेंच पर बैठा दिया। "कुछ सोचना नहीं, वे थोड़ा ऐसे ही हैं। पेट मे थोड़ा जाते ही डाँवा डोल हो जाते हैं।"

अब कहीं जाकर मैं बोल पाया, "बाबा ?"

"प्रणव बाबू बगल वाले कमरे मे सो रहे हैं। इस समय थोड़ा ठीक हैं। अचानक बेहोश हो गए थे।"

"अचानक ?"

नलिनी, याने महिला ने इस प्रश्न से मानो थोड़ा अस्वस्ति बोध किया, "अचानक याने ठीक अचानक भी नही, मतलब यह कि उन्हे थोडी चोट पहुँची थी। तुम्हें बाद में बताऊँगी। सब कुछ बताऊँगी। उसी से बेहोश हो गए। नाक से खून बहुत बहा है। मैं तो डर गयी थी। कभी पहले तो ऐसा नही देखा है न ! पर डरने वाली कोई खास बात नहीं थी। पर तुम काँप क्या रहे हो खोका ? इस ! माथा तो बर्फ हो गया है ! तुम्हे यहाँ ठड लग रही है क्या ? नही, डर वाली कोई खास बात नही है। डाक्टर आये थे, दवा दे गए हैं, बोल गए हैं, स्ट्रोक है, पहला स्ट्रोक। ऐसा ही होता है। शायद तुम्हारे बाबा को ब्लड प्रेशर था। डाक्टर बाबू ने बताया, खून अपने आप निकल गया, अच्छा ही हुआ, वरना खतरे वाली बात हो जाती। अब कुछ दिन तक आराम करने की जरूरत है। फिर ठीक हो जाएँगे। पर यह क्या, तुम अभी तक काँपे क्यों जा रहे हो खोका ? थोड़ा गरम दूध पिओगे ? ला दूँ ?'

सिर्फ दूध ही नहीं, उसने मुझे प्लेट में रखकर दो सन्देश भी लाकर दिए। दूध के गिलास मे वैसी ही एक तीखी महक थी। बोला, "दवा जैसी महक है इसमे।'

शायद थोड़ा लज्जित-सी हुई वह। बोली, "कोई खास बात नही, बल्कि तुम्हारे लिए अच्छा ही रहेगा। बदन मे फुर्ती आएगी इस ठड मे।" उसके बाद मेरे होंठ के

किनारे दूध लगा देख, शायद इधर-उधर उसने गमछे-वमछे की टोह में देखा, फिर अपनी साड़ी के छोर से ही मेरे होंठ साफ कर दिए।

मैं सकुचाता हुआ-सा पीछे हटने की कोशिश करता हूँ, पर वह बोली, "इसमे शरमाने की क्या बात है ? तुम तो मेरे बेटे की तरह हो। माँ क्या अपने बेटे का मुँह नही पोंछ सकती ?"

सोच कर देखो मा ! अपने साथ उसने तुम्हारी तुलना की। स्थान-काल भूल कर जोर से सिर हिलाया, और फिर कर्कश स्वर मे बोला, "आप मेरी माँ तो नहीं हैं !"

वह प्रस्तुत नहीं थी, शायद इसलिए पहले थोड़ा सा सकपकायी, पर उसके बाद धीरे-धीरे उसका चेहरा कठोर हो उठा, नथुने फड़कने लगे। उसके बाद पूरे वजन को अपनी आवाज़ में डालते हुए कहा, "मैं तुम्हारी मा हूँ। तुम्हें कुछ भी नही मालूम, कुछ भी नहीं।"

कण्ठ स्वर सुनिश्चित, दृढ़ था। थोड़ी देर पहले जिस स्वर मे उसने, 'आ क्या हो रहा है," कहकर विशालकाय सव्यसाची को घुड़की लगाई थी।

"आओ, आओ ! अपने बाबा से मिल लो।" शायद उसने हम दोनों के बीच फैली असहजता को तोड़ने के लिए ही कहा, और मैं उसके पीछे-पीछे एक पालतू जीव की तरह आकर मिलाए हुए कमरे की चौखट पर जाकर खड़ा हो गया।

इस कमरे की दीवार पर नीली [illegible] फैली हुई थी। बाबा सोए हुए थे। रोशनी की नीली आभा उनके चौड़े माथे पर फैली हुई थी। बाबा को इतना सुन्दर पहले नहीं देखा था।

कुछ बोलने जा रहा था, पर उसने होंठों पर उंगली रखकर कहा, "चुप।" चुपचाप उनके पाँव की ओर आँख गड़ाए पास वाले कमरे में चला गया।

उस कमरे म सव्यसाची और खाली गिलास दोनों आसपास, एक ही साथ [illegible] पर लुढ़क पड़े थे। ऐसा लगा बगल वाले कमरे में बाबा की तरह इस समय सव्यसाची भी नींद में डूबे हुए हैं। कमर पर धोती काफी ढीली हो जाने के कारण तोंद इस समय काफी निकल आया था, जो पके हुए उम्र के कारण था। [illegible] चुस्त-दुरुस्त पोशाक में जब वे राजा अथवा वीर सेनापति बनते हैं। उस [illegible] क्या ये सारे लक्षण उभर आते हैं ?

[illegible] बैठना ठीक होगा कि नहीं मैं खुद तय नहीं कर पा रहा हूँ। [illegible] पा रहा हूँ इसलिए ललिता के मुँह की ओर ताके जा रहा हूँ। संकेत [illegible] पा ही उधर ताके जा रहा हूँ। तब उसने खुद ही उँगली के इशारे से [illegible] दिखाते हुए कहा, "यहाँ बैठो।"

कहने के तुरन्त बाद ही वह समझ गयी कि सव्यसाची [illegible] मैं [illegible] में हिचकिचा रहा हूँ। हँसते हुए कहा, "डरने [illegible]

देख नहीं रहे हो, वह इस समय बिल्कुल दूसरा आदमी बना हुआ है। नींद में बेसुध ? कुछ नहीं कहेगा।"

सिमटा हुआ-सा मैं बैठ गया। वह उस समय भी बेमतलब ही सव्यसाची की वकालत किए जा रही थी, "यह ऐसा ही है। इतना लम्बा-चौड़ा है, पर जब जो कुछ करेगा, हद ही कर डालेगा। सीमा से बाहर जाने के सिवा उसने अपने जीवन में कुछ भी नहीं किया। दरअसल अन्दर से बहुत नरमदिल है न, इसलिए अपनी उस कमजोरी को छिपाने के लिए हर शाम हद से बाहर करता है।"

सच कहूँ तो मुझे इन बातों का मतलब रत्ती भर भी समझ में नहीं आ रहा था। कुनमुना रहा हूँ, न जाने और कितनी देर इस तरह रहना पड़ेगा। घर पर शायद तुम अभी तक बैठी हुई होगी। इतनी कड़कती ठंड में जाऊँगा भी तो कैसे ? जो अपने साथ ले आया था, वह क्या दोबारा अपने साथ जाएगा ? तरह तरह की चिन्ताएँ, उसके ऊपर यह अपरिचित परिवेश, फर्श पर बिछी चादर, चादर पर गिलास, बगल में सव्यसाची। हम लोगों के उस आधे शहर वाले मकान में जिस तरह शाम के बाद चारों ओर तरह तरह के पक्षी, कीड़े-मकोड़े और झिंगुरों की आवाज से मुखरित हो उठता, उसी तरह यहाँ इस मकान में भी उसी पास आती, दूर चली जाती हुई हँसी, हुल्लड़, तबले के बोल, सुरीली आवाज में गीत सुन पा रहा हूँ। मेरे थके हुए स्नायु, मक्खी की तरह विभिन्न शब्दों के जाल में फँसा छटपटाने लगा है।

मैं कब जाऊँगा। बाबा को छोड़ जाऊँ या ले जाऊँ, ये सारी चिन्ताएँ तो थीं ही, पर सबसे जरूरी बात अभी तक नहीं जान पाया हूँ, बाबा यहाँ क्यों आये थे!

पर मेरी समस्या को नलिनी ने मिटा दिया। मानों मेरे दिल की बात उसने समझ ली थी। आँचल से सिर पोंछते हुए [illegible] । आज [illegible] जाने कितनी बातें होती जा रही हैं। नाटक [illegible] । है, प[illegible] ही हुआ। एकदम पूरा नाटक। अभी भी रोंग[illegible] । पह[illegible] बाबू, तुम्हारे बाबा।"

"यहाँ [illegible] क्या ?" मुह[illegible]

मेरे उस प्रश्[illegible] गयी।

वह [illegible], "आज [illegible]

ने कहा। देख [illegible] बैठे हुए [illegible]

"यह सब क्या [illegible] मरे [illegible]

सोच रहा हूँ, [illegible] सु[illegible]

सुनाना है तो [illegible]

गयी। पर वे उसे [illegible]

खिंचती। उन्होंने [illegible]

सव्यसाची बाबू न [illegible]

निकाल पा रहे हैं। आज तक वे ठीक से सुन नही पाए हैं। यहाँ उन्हें पकडने के लिए ही आया हूँ। मैंने अवाक होते हुए कहा, सुनाएँगे ? यहाँ ? सकेंगे ? प्रणव बाबू ने छोटा-सा मुह बनाते हुए कहा, कब तक इन्हे ढोए ढोए सव्यसाची बाबू के पीछे पीछे घूमता रहूँ ? पर अब नही सक रहा हूँ। मैं वादा करता हूँ, ज्यादा समय आप लोगों का नही लूगा, बस हद से ज्यादा दो घण्टा। थोडा बैठ जाऊँ ? प्रणव बाबू ने इस तरह थोडा बैठ जाऊँ कहा कि तुम्ही बताओ उसके बाद क्या कोई किसी को कह सकता है कि चले जाओ ?"

नलिनी की बाते लगातार सुनता जा रहा हूँ। रात गहराती जा रही है। रात गहराने के साथ ठडी हवा भी उतनी तेज बहने लगी है। फिर भी नींद नहीं आ रही है। उस दिन कितनी देर बाद आए थे सव्यसाची बाबू ? शाम होने के काफी देर बाद। बाबा तब तक किसी तरह चिरौरी-विनती करके नलिनी को ही कुछेक पृष्ठ पढ़कर सुनाने लगे थे।

('तुम अगर थोडा सिफारिश कर दो नलिनी—अचानक बाबा अल्पपरिचित उस महिला को 'तुम' कह बैठे थे—'तो सव्यसाची बाबू इसे जरूर ले लेंगे। एक बार स्टेज्ड होने की देर है, फिर तुम देखना, लोगों को कितना पसन्द आएगा।')

पढना जारी ही था कि उसी समय फडफडाते हुए सव्यसाची बाबू कमरे मे घुसे। बाबा, फराश पर बैठे पन्ने पलट रहे थे। नलिनी तख्तपोश पर बैठी गाल पर हाथ धरे सुन रही थी। ठीक उसी समय जिन्होने अचानक प्रवेश किया, उस नायक और नटोत्तम ने गदन घुमाकर कहा था, "वाह उत्तम ! अति उत्तम।"

"उसके बाद," नलिनी बोलती गयी, "जो कुछ हुआ। इतनी गन्दी-गन्दी बातें सव्यसाची ने याने यह आदमी बोलता गया कि तुम्हे वह सब नही कह पाऊँगी। बस इतना जान लो, तुम्हारे बाबा को बहुत ठेस लगी थी, हालांकि सव्यसाची ने उनके बदन पर हाथ नही लगाया था। समझ लो नही लगा पाया। मैंने ही रोका था। तब उसने मुझ पर गन्दी-गन्दी गालियो की बौछार की। खुद एक ओर लुढक गया और कराहने लगा। उधर तुम्हारे बाबा बेहोश हो चुके थे, और साथ ही खून की धार बह चली थी। ओह ! कितना खून ! तुम्हे क्या बताऊँ, उन्हें बहुत ठेस लगी थी। हाथ से लिखे पन्ने इधर-उधर बिखर गए थे। बात क्या है, जानते हो ? तुम्हारे बाबा प्रणवबाबू बाहर से देखने मे जिद्दी लगते हैं, पर अन्दर से बहुत नरम दिल हैं। ग्रीन रूम म ठोगे मे भर-भर कर न जाने कितना खुबानियाँ हम लोगा को खिलायी है। एक बार मेरे गले मे मामूली खराश आ गयी थी। वे उसी समय न जाने कहाँ स एक गिलास गरम काढा ले आए थे। तकरीबन रोज ही थियेटर मे आते थे न ! हालाँकि वे प्रेस के मैनेजर थ, उनका काम सिर्फ प्रोग्राम के पोस्टरों मे सबके नामो को बडे-बडे हरफों में छापना था, फिर भी उनकी धारणा थी, उनका असली काम वह नहीं था। वे अपने को नाटककार समझते थे। उनके नाटक का मचन होगा, उन्हें ख्याति मिलगी यही सोचा करते थे।"

देख नही रहे हो, वह इस समय बिल्कुल दूसरा आदमी बना हुआ है। नींद में बेसुध ? कुछ नही कहेगा।"

सिमटा हुआ-सा मैं बैठ गया। वह उस समय भी बेमतलब ही सव्यसाची की वकालत किए जा रही थी, "यह ऐसा ही है। इतना लम्बा-चौड़ा है, पर अब जो कुछ करेगा, हद ही कर डालेगा। सीमा से बाहर जाने के सिवा उसने अपने जीवन मे कुछ भी नही किया। दरअसल अन्दर से बहुत नरमदिल है न, इसलिए अपनी उस कमजोरी को छिपाने के लिए हर काम हद से बाहर करता है।"

सच कहूँ तो मुझे इन बातो का मतलब रत्ती भर भी समझ में नही आ रहा था। कुनमुना रहा हूँ, न जाने और कितनी देर इस तरह रहना पड़ेगा। घर पर शायद तुम अभी तक बैठी हुई होगी। इतनी कड़कती ठंड में जाऊँगा भी तो कैसे ? जो अपने साथ ले आया था, वह क्या दोबारा अपने साथ जाएगा ? तरह तरह की चिन्ताएँ, उसके ऊपर यह अपरिचित परिवेश, फर्श पर बिछी चादर, चादर पर गिलास, बगल में सव्यसाची। हम लोगो के उस आधे शहर वाले मकान मे जिस तरह शाम के बाद चारों ओर तरह-तरह के पक्षी, कीड़े-मकोड़े और झिंगुरों की आवाज़ से मुखरित हो उठता, उसी तरह यहाँ इस मकान मे भी उसी पास आती, दूर चली जाती हुई हँसी, हुल्लड़, तबले के बोल, सुरीली आवाज मे गीत सुन पा रहा हूँ। मेरे थके हुए स्नायु, मक्खी की तरह विभिन्न शब्दो के जाल मे फँसा छटपटाने लगा है।

मैं कब जाऊँगा। बाबा को छोड़ जाऊँ या ले जाऊँ, ये सारी चिन्ताएँ तो थी ही, पर सबमे जरूरी बात अभी तक नहीं जान पाया हूँ, बाबा यहाँ क्यो आये थे।

पर मेरी समस्या को नलिनी ने मिटा दिया। मानो मेरे दिल की बात उसने समझ ली थी। आँचल से सिर पोछते हुए कहा, "इस्स्! आज शाम से न जाने कितनी बातें होती जा रही हैं। नाटक थियेटर मे होता है, पर आज मेरे यहाँ ही हुआ। एकदम पूरा नाटक। अभी भी रोंगटे खड़े हो जाते हैं। पहले तो आए प्रणव बाबू, तुम्हारे बाबा।"

"यहाँ आते रहते हैं क्या ?" मुह से बात फिसल गयी और नलिनी भी मानो मेरे उस प्रश्न मे छिपे अर्थ को भाँप गयी।

वह धीरे-धीरे बोलने लगी, "आते हैं यह तो मैंने नही कहा, बल्कि आए थे ये कहा। देखती हूँ व तख्तपोश पर बैठे हुए थे। हाथ मे कागजो का पुलिन्दा। पूछा, "यह सब क्या है ? प्रणव बाबू ने कहा, मेरे लिखे नाटक हैं। आज तो स्टेज बन्द है, सोच रहा हूँ, सव्यसाची बाबू को थोड़ा सुना आऊँ। मैंने कहा, सव्यसाची बाबू को सुनाना है तो यहाँ क्यो ? दरअसल मैं तुम्हारे बाबा के ऊपर थोड़ा नाराज़ ही हो गयी। पर वे उसे ताड नही पाए थे। अगर ताड जाते तो बात इतनी दूर तक नही खिंचती। उन्होने हँसते हुए कहा, आएँगे, जरूर आएँगे। पता करके ही आ रहा हू। सव्यसाची बाबू ने मुझे वचन दिया है, मेरे नाटक का मचन करेंगे, पर समय नही

निकाल पा रहे हैं। आज तक वे ठीक से सुन नहीं पाए हैं। यहाँ उन्हें पकड़ने के लिए ही आया हूँ। मैंने अवाक होते हुए कहा, सुनाएँगे ? यहाँ ? सकेंगे ? प्रणव बाबू ने छोटा-सा मुह बनाते हुए कहा, कब तक इन्हें ढोए ढोए सव्यसाची बाबू के पीछे पीछे घूमता रहूँ ? पर अब नहीं सक रहा हूँ। मैं वादा करता हूँ, ज्यादा समय आप लोगों का नहीं लूगा, बस हद से ज्यादा दो घण्टा। थोड़ा बैठ जाऊ ? प्रणव बाबू ने इस तरह *थोड़ा बैठ जाऊँ कहा कि तुम्हीं बताओ उसके बाद क्या कोई किसी को कह* सकता है कि चले जाओ ?"

नलिनी की बातें लगातार सुनता जा रहा हूँ। रात गहराती जा रही है। रात गहराने के साथ ठंडी हवा भी उतनी तेज बहने लगी है। फिर भी नींद नहीं आ रही है। उस दिन कितनी देर बाद आए थे सव्यसाची बाबू ? शाम होने के काफी देर बाद। बाबा तब तक किसी तरह चिरौरी-विनती करके नलिनी को ही कुछेक पृष्ठ पढ़कर सुनाने लगे थे।

('तुम अगर थोड़ा सिफारिश कर दो नलिनी—अचानक बाबा अल्पपरिचित उस महिला को 'तुम' कह बैठे थे—'तो सव्यसाची बाबू इसे जरूर ले लेंगे। एक बार स्टेज्ड होने की देर है, फिर तुम देखना, लोगों को कितना पसन्द आएगा।')

पढ़ना जारी ही था कि उसी समय फड़फड़ाते हुए सव्यसाची बाबू कमरे में घुसे। बाबा, फराश पर बैठे पन्ने पलट रहे थे। नलिनी तख्तपोश पर बैठी गाल पर हाथ धरे सुन रही थी। ठीक उसी समय जिन्होंने अचानक प्रवेश किया, उस नायक और नटोत्तम ने गर्दन घुमाकर कहा था, "वाह उत्तम ! अति उत्तम।"

"उसके बाद," नलिनी बोलती गयी, "जो कुछ हुआ। इतनी गन्दी-गन्दी बातें सव्यसाची ने याने यह आदमी बोलता गया कि तुम्हें वह सब नहीं कह पाऊँगी। बस इतना जान लो, तुम्हारे बाबा को बहुत ठेस लगी थी, हालांकि सव्यसाची ने उनके बदन पर हाथ नहीं लगाया था। समझ लो नहीं लगा पाया। मैंने ही रोका था। तब उसने मुझ पर गन्दी-गन्दी गालियों की बौछार की। खुद एक ओर लुढ़क गया और कराहने लगा। उधर तुम्हारे बाबा बेहोश हो चुके थे, और साथ ही खून की धार बह चली थी। ओह ! कितना खून ! तुम्हें क्या बताऊ, उन्हें बहुत ठेस लगी थी। हाथ से लिखे पन्ने इधर-उधर बिखर गए थे। बात क्या है, जानते हो ? तुम्हारे बाबा *प्रणवबाबू बाहर से देखने में जिद्दी लगते हैं, पर अन्दर से बहुत नरम दिल हैं। ग्रीन* रूम में ठोंगे में भर-भर कर न जाने कितनी खुबानियाँ हम लोगों को खिलायी है। एक बार मेरे गले में मामूली खराश आ गयी थी। वे उसी समय न जाने कहाँ से एक गिलास गरम काढ़ा ले आए थे। तकरीबन रोज ही थियेटर में आते थे न ! हालांकि वे प्रेस के मैनेजर थे, उनका काम सिर्फ प्रोग्राम के पोस्टरों में सबके नामों को बड़े-बड़े हरफों में छापना था, फिर भी उनकी धारणा थी, उनका असली काम वह नहीं था। वे अपने को नाटककार समझते थे। उनके नाटक का मंचन होगा, उन्हें ख्याति मिलगी यही सोचा करते थे।"

(माँ, यह बीमारी बाबा के अकेले की नहीं थी। हम लोग जो कुछ करते हैं, जिसमे हैं, वह हमारे लिए नहीं हैं। हमारी सार्थकता कहीं और है—और इसी चिंता मे लगातार जर्जर होते रहते हैं, छटपटाते रहते हैं।)

"मैं उनकी तकलीफ को समझती थी, समझती हूं।" नलिनी बोल रही थी। बोलते-बोलते उसका स्वर कोमल हो आया था, "खैर, तुम लोग फिकर करने लगोगे, इसलिए तुम्हे बुलवा भेजा था। देख तो लिए हो, माँ को बता देना। वे इस समय ठीक ही हैं। कल सुबह कम्पनी की गाडी से भिजवा दूंगी। तुम तुम अब जाओ।"

मुझे इतस्ततः करते देख बोली, "जाओगे ही जाओगे। जाना ही पडेगा। यहा नहीं रहना चाहिए। समझ नही रहे हो क्या?" सव्यसाची की ओर उंगली के इशारे से दिखाती हुई बोली, "यहा सारी रात कोई नही रहता है न। वे लोग भी नही। सब चले जाते हैं, सिर्फ मैं रहती हूं। आज की रात की बात और है दो कमरो मे दोनो जने सोए रहेंगे, सिर्फ मैं अकेली रहूंगी। मुझे जागे रहना पडेगा, और मेरी हालत देख रहे हो न।" कहकर नलिनी फीकी हँसी, हँसी। मेरे साथ नीचे उतर आई इशारे से जिस टैक्सी को बुलाई, उसके आते ही मैं समझ गया कि उसका ड्राइवर नलिनी का जाना पहचाना था। उसने फिर से मेरी ओर देखते हुए कहा, "घबराने की बात नही। यह तुम्हें ठीक से पहुँचा देगा।" अंतिम बार के लिए उसने मेरा स्पर्श किया। हाथ को थोडा दबाया, "कल सुबह प्रणव बाबू को भेज दूंगी। और वे यहाँ पर हैं, यह अपनी माँ से मत कहना। कहना, थियेटर के एक कमरे मे हैं।"

माँ, कुछ दिन तक तो तुम वैसा ही सोचती रही, क्योंकि मैंने तुमसे झूठ कहा था, जान बूझकर। बाबा दूसरे दिन ही आ गए थे। थियेटर की गाडी में। पकड कर ऊपर लाए गए। लाकर सीधे बिस्तर पर लिटा दिए गए। होश आ गया था। चेहरा और सफेद पड चुका था। होठ रह-रहकर काँप जाते। बीच-बीच में जबडा, ठुड्डी टेढी-मेढी होकर विकृत होती रही। डाक्टर आते रहे।

फिर एक दिन बाबा ने बिस्तर भी छोडा। इस बीच कई महीने निकल चुके थे। मुझे एक दिन कमजोर आवाज मे कापी और पेन्सिल लाने के लिए कहा।

तकिए के ऊपर कापी रख बाबा गर्दन झुकाए लिखते जा रहे थे। लगातार नही, रुक रुक कर। कमरे के इधर से देख पा रहा हूँ, उनकी उँगलियाँ काँप रही हैं।

तुम कमरे में आयीं। थोडा झुककर लिखा हुआ शायद देखने लगी थी, पर बाबा ने जल्दी से कापी बन्द कर दी। थोडा हँसकर तुमने कहा था "बस-बस छुपाने की जरूरत नहीं। मुझे देखने का समय कहाँ है? नाटक लिख रहे हो? फिर से?"

उस रक्तपात के बाद से बाबा की आँखें हमेशा सफेद दीखने लगी थी। जो हँसी वे हँसते वह भी फीकी होती।

"नाटक ? नही, अनु नाटक नही। वह सब अब और नही लिखूगा। बस ऐसे ही थोडा इधर-उधर की लिख रहा हूँ।"

"बैठो। पहले तुम्हारी दवा ले आऊँ!" इतना कहकर तुम चली गयी। बाद म हाथ वैद्य की दवा ले आयी। बीमारी के बाद बाबा के साथ तुम्हारा सम्पर्क सहज हो आया था, पहले वाली जडता और कठोरता नही रही।

पर वह कॉपी ? उस कॉपी ने ही एक दिन सब कुछ गडबडा दिया। बाबा, पता नहीं क्यों इतने लापरवाह थे ? रोज उस कॉपी को कहीं छुपाकर रखा करते थे, किसी को पता भी नही चलता था। एक दिन शायद भूल गए। वैद्य जी के कहे अनुसार बाबा सुबह पार्क मे टहलने गये थे।

नल पर से मु ह धोकर आने के बाद देखता हूँ चूल्हा उस समय तक जलाया नहीं गया था। तुम खिडकी के किनारे खडी-खडी खुली हुई कापी के प ने पढ रही हो।

मेरी सांस तुम्हारे कन्धे पर पडते ही तुमने चौंककर फौरन आंचल से कॉपी ढँक ली। ठीक उसी तरह जिस तरह बाबा ने छिपा ली थी। तुम्हारा चेहरा उतरा हुआ। उस समय तक मैं समझ नही पाया था कि उस कॉपी मे ऐसा क्या लिखा था, जिसके लिए तुम दोनो ने ही उसे छुपाना चाहा ?

उस खाते में क्या था, यह मुझे बाद में मालूम पड़ा था। एक दिन बहुत ढूंढने पर मुझे वह खाता मिल गया।

नहीं कोई नाटक नहीं। डायरी लिखी हुई थी। दो-चार लाइन पढ़ते ही पता चल गया कि बाबा ने उस दिन की घटना लिख रखी है।

(उस समय समझ क्यों नहीं सका ! बाबा को क्या जरूरत पड़ी थी, वह सब लिख रखने की ! पर आज सब कुछ समझ पा रहा हूँ। अपने पास साफ रहने के लिए, हर व्यक्ति को कभी न कभी यह काम करना पड़ता है। करना ही पड़ता है, वरना मैं भी क्यों सब कुछ लिख कर मन हल्का कर लेना चाह रहा हूँ ? हम लोगों के अन्दर दो अलग-अलग किस्म के मनुष्य रहते हैं। एक जन अपराध करता है, करता ही जाता है और दूसरा स्वयं को गिरफ्तार करवाने के लिए खुद ही अन्दर ही अन्दर कोशिश करता जाता है। हम लोग दो विपरीत व्यक्तित्व के साथ ही हैं।)

डायरी की भाषा कुछ इस प्रकार की थी —

सव्यसाची ने मुझे गलत समझा सोचा होगा, शायद नलिनी के यहां मैं भी फुर्ती करने गया हूँ। वे लड़खड़ा रहे थे। आँखें सुर्ख। देखते ही समझ गया कि कुछ ज्यादा ही चढ़ा कर वहाँ आए थे, मुझे देखते ही उनकी लाल आँखों से मानो चिंगारी फूटने लगी। "स्साला !" थरथराते हुए, क्रोध अथवा नशे में काँपते हुए उन्होंने जिस भद्दे सम्बोधन से शुरू किया, उसे कलम से उतारने में भी तकलीफ हो रही है। उन्होंने कहा, "स्साला ! चोर की तरह यहाँ चक्कर लगाने लगा है ! कुत्ता होकर, घी के बर्तन में मुंह मारना चाहता है ?'

न तो उस समय उनका दिमाग दुरुस्त था, न जुबान ही। सुरचित, कोमल छन्दों से परिपूर्ण जिन संलापों को नित्य उनके मुंह से सुनता हूँ, उससे इस भाषा का कहीं कोई मेल नहीं था। उनसे कहना चाहा, नलिनी के पास मैं नहीं आया हूँ, बल्कि उनसे ही मिलने आया हूँ। अपने खून से लिखी हुई सारी रचनाएँ उन्हें दिखाना चाहता हूँ। यही मेरी अंतिम चेष्टा होगी। मेरी समस्त साधना सार्थक हो उठेगी। काँटे की तरह जो लगातार चुभ रहा है, वह फूल की तरह सौरभ से परिपूर्ण हो जाएगा। जिससे

हर कोई आमोदित हो उठेगा—आमोदित होऊँगा मैं भी। अनेकों रात के सारे सपने सफल होंगे—यह मेरी अन्तिम कोशिश है।

यह सब कहना चाहा था, पर नहीं कह सका। पलभर में मेरी आँखों के सामने ही माना एक बहुत ही जाना पहचाना सिंह, मानों एक क्षुद्रकाय पर निष्ठुर और फिसलने वाला साँप बनता जा रहा है। मैंने करुण दृष्टि से नलिनी की ओर देखा कि वह कुछ बोले। नलिनी सुन्दरी है, स्वभाव से मधुरा। वृत्ति चाहे कुछ भी क्या न हो उसका मन बहुत ऊँचा है, ऊपर से वह दयामयी भी है। नलिनी समझ गयी! सव्यसाची से कहा, "जो कुछ सोच रहे हो, वह बात नहीं है। ये किसी दूसरे कारणों से नहीं आए हैं।' आए हैं अपने नाटकों के बारे में तुमसे बात करने। उसके बारे में तुमसे अन्तिम रूप से बात करना चाहते हैं।"

सुनते ही सव्यसाची ठहाका मार कर हँसने लगा। नाक और होंठों की सहायता से उसके मुँह से प्रमत्त और अद्भुत एक शब्द निकल आया, फु उ उन्‌! अन्तिम शब्द के साथ एक हिचकी भी थी। उसके बाद—अर्थहीन उस शब्द के बाद—उसने जो कुछ कहा उसका मतलब यह रहा, फु-उ उन्‌! तेरा वह नाटक कौन भला खेलेगा? अहम्मक!

(सव्यसाची ने सचमुच में मुझे अहम्मक कहा।)

मनुष्य अपना चेहरा स्वयं नहीं देख पाता है। तुम्हारा यह कूड़ा क्या चीज बनी है, वह तुम कैसे समझोगे? मैं तो तुम्हें थोड़ा खेला रहा था। हर समय पीछे-पीछे घूमते रहते थे। अपना छोटा-मोटा काम तुमसे करवा लिया करता था। मुझमे थोड़ी दया ममता भी है, इसलिए अब तक तुमसे साफ-साफ कुछ कहा नहीं, आज डटकर शराब पी है। यह देख मेरे खट्टे डकार। तेरा असली चेहरा मेरे पास साफ हो गया है, इसलिए सुन! बिल्कुल बेधड़क तुझे बता रहा हूँ—कोई आशा नहीं है। तेरी वह रचना, थू! आदमी तो दूर की बात रही, साड, सियारों को भी वे सब पाट जँचेगा नहीं।"

बोलते-बोलते उन्होंने फिर से एक हिचकी ली और उसके साथ ही मेरी ओर एक गिलास फेंका। उनका ठहाका, निर्मम से निर्ममतर होकर मुझे आघात करता रहा। आघात! वह तो शरीर पर लगा ही, पर उससे भी प्रचण्डतर भाव से शरीर से भी गम्भीरतर किसी स्तर पर जाकर लगा।

क्या घटित हुआ? उसके बाद से क्या घटने लगा, कुछ पता नहीं। एक बार महसूस हुआ था। मेरा सिर घूम रहा है—यह पता था कि पृथ्वी घूमती है, पर पृथ्वी को स्थिर रखकर पूरा आकाश ही घूम गया। ऊपर से सीने में बहुत तकलीफ होने लगी—और? और उसी समय एक छिलका, मोह का छिलका मानो उतर गया। ऐसा लगा मैं मुक्त हो गया हूँ। और?

सब कुछ याद नहीं है। मैं पुरुष हूँ, पर सब कुछ लिखने मे हर्ज क्या है? एक

बार ऐसा लगा जैसे मैं रो रहा हूँ। आँख का पानी पोछने की गरज से हाथ उठाने गया, वह हाथ नाक से टकरा गया। गीले हाथ को सामने फैलाते ही देखता हूँ। आँख का पानी कहाँ है यह तो खून है !

खून बह रहा था। साँस घुटने लगी थी। पाव के नीचे से जमीन खिसकने लगी थी। हाथ के पास ऐसा कुछ भी नही था, जिसका सहारा लू। मैं डर गया। दीवार वगैरह सब गायब होने लगे क्या ! खून झरता जा रहा था। उसके लिए कोई दुख नही, बल्कि हल्का हो रहा था। पर उसके बाद कुछ याद नही। सिर्फ गिरने के पहले ऐसा लगा, किसी ने मेरा सिर अपनी गोद मे उठा लिया है।

बाद मे जान पाया, नलिनी ने ही मुझे सहारा दिया था। पर आज मैं मुक्त-स्वस्थ हूँ। कम से कम एक ओर से। आज मुझमे तनिक भी मोह नही है, इसलिए लिख सका, खोल उतर गया है।

माँ, तुमने जल्दी से उस खाते को छुपा दिया था। मुझे आते देख तुम्हारा चेहरा भय अथवा लज्जा से विवर्ण हो गया था।

तुम्हे पता नहीं है, बाद में मैंने भी छुपा कर कुछ पक्तियाँ पढी थी। उसके बाद न जाने कैसे, किस तरह शायद मकान बदलने की हडबडी मे वे सारे कागज मेरी हिफाज़त मे ही आ गए थे। बाबा उस समय अवश से अधिकतर अपने कमरे मे ही अतरीन। उन कागजों को उन्होने ढूढा था, मिला नही। नही मिला, यह भी किसी से बता नही पाए। ढूढना और न पाना, दानो ही गोपन रहा।

बीच-बीच मे देखता, वे अपना सन्दूक अँधेरे म टटोल रहे हैं। घुटने टके, उठँग बैठकर छुपा कर। अपनी चीज भी कभी-कभी किसी को क्या चोर की ढूढना पडता है ?

पर बाद के दिनो म, बाबा ने ढूढना बन्द कर दिया था। शायद उनके बारे मे सारी चिन्ताएँ मिट चुकी थी। और आज ? आज तो सब कुछ साफ है—एकदम। आज तो बाबा नही हैं, तुम भी नही हो। उनकी कीमत किससे परख सकूगा, इसलिए कुछ मूल्यहीन दस्तावेज मेरे पास होते हुए भी वे खो चुके हैं।

पर उस दिन बात आसानी से खत्म नही हुई थी।

डाक्टर से अनुमति लेकर उस दिन बाबा बाहर निकले थे। पास ही किसी पार्क में कही गए होग। मैं पढ रहा था। तुम एकाएक से सामने आकर खडी हो गयीं। इधर इस तरह काम छोडकर, मेरे पास इस तरह नहीं आया करती थीं। थोडा चौंक गया था। खुशी भी हुई थी। किताब का पन्ना मोडकर, बहुत दिनो के बाद, प्रगाढ़ स्वर में बोला, "माँ !" हाथ बढा दिया।

पर देखा, तुम वापस जा रही हो। मेरा प्रत्याखात हाथ वापस आ गया।

"तून उसे देखा है ?" यह स्वर खिडकी के बाहर से नहीं आया था, इसलिए तुम्हारा ही था।

"किसे ?" मैं सिर्फ एक बार आख उठाकर बोल सका।

मेरे पास, मेरे लिए तुम नही आयी थी। कुछ और जानने की गरज से आयी थी। मन मे अभिमान हुआ, इसलिए उदास स्वर मे सिर्फ पूछा था, "किसकी बात कर रही हो ?"

काफी देर तक तुम खामोश रहीं, सिर्फ बात करने के प्रयास मे तुम्हारी आँखो और होठों के कानो पर तरह-तरह की रेखाए बनकर मिटती जा रही थीं। बाद मे बहुत धीमे स्वर मे तुमने कहा था, "तेरे बाबा, याने पहली बार जिस दिन बेहोश हो गए थे।"

"ओह! उस दिन!" पुरानी बात थी, इसलिए मानो कोई खास बात न हो, इस लहजे मे मैंने हल्के स्वर म कहा, "वह तो थियेटर मे हुआ। वहाँ तो बहुत से लोग थे। तुम किसकी बात कर रही हो ?"

साफ देखा था मा, तुम्हारी पलकें काँप रही हैं। तुम्हारा एक हाथ उठ रहा है। मुझे मारोगी ? नहीं मारा नहीं। इतने बडे इस उम्र के लडके पर झट् से हाथ उठाया नही जाता क्योंकि पहले ही बताया है, माँ-बाप के विरुद्ध, उम्र ही उस समय लडको का दोस्त, सहाय या बॉडीगार्ड होता है। वरना, तुम मुझे मारती। जानबूझ कर मैं बन रहा हूँ। झूठ बोला हूँ इसके लिए। पर तुम्हारी आँखो मे जो भाव देखा माँ! उमसे शायद मार भी कम अपमानजनक होता। अपलक मेरी ओर देखते हुए मानो आँखो के समस्त धिक्कार से मेरे झूठ को जला कर खाक कर देना चाह रही हो। 'छि-छि', वे आँखें कह रही थी, "छि-छि, तेरे बाबा उस दिन थियेटर में बेहोश नहीं हुए थे। "मुझे पता है।"

"मुझे पता है", तुम्हे कहते हुए सुना। "कहाँ थे, कहाँ गए थे वे।" स्थिर दृष्टि से मेरी ओर देखते हुए कहा था, "तूने उसे देखा है ?"

"देखा है माँ।"

"कैसी है देखने मे ? बता न! बता न नलिनी देखने मे कैसी है ?"

मैं निरुत्तर रहा।

तुम्हारा प्रत्येक प्रश्न मुझे चिकोटी की तरह काटे जा रहा था। मुझे चुपचाप देख तुम लगातार बोले जा रही हो। मुझ से कबुलवाना चाह रही थी, "बता न, बता न! वह देखने मे कैसी है ? खूब हँसती है वह ? दाँत मे मिस्सी लगाती है ?"

"लगाती है।" बेधड़क बोल गया।

(नलिनी ने मुझे गरम दूध पिलाया था।)

"बदन का रग कैसा है ? मेरी तरह ?"

"तुम्हारे जैसा रग कितनों के पास है माँ! तुम्हारे सामने तो वह कलूटी है।"

(नलिनी ने अपने आँचल से मेरा मुह पोछ दिया था।)

"बकवास मत कर।' तुमने फुंफकारा, "हुम ! सबको पहचानती हूँ, सब के सब एक जात, एक धातु के बने हुए हो।"

(मैं और बाबा, एक जात, एक धातु के हैं, तुम्हें ठीक मालूम है माँ ?)

"सच्च कह रहा हूँ। बहुत काली है। थुलथुल मोटी, भद्दी।" इस बार और भी ज्यादा जोरदार स्वर मे बोला।

(मुझे नीचे तक नलिनी छोडने आयी थी। स्नेह और ममता स मेरे हाथ पकडे थे—हे ईश्वर, इस कृतघ्नता के पाप के कारण मुझे कोढ हो जाए। पर नहीं, वह सब भयकर सजा मुझे क्यो मिले ? अपनी दुखिनी माँ का मान और मन रखने के लिए बताकर बोलना पड रहा है ईश्वर ! तुम्हें क्या मालूम नहीं ?)

"उसकी जुबान बहुत गन्दी है न ?"

"भद्दी है माँ ! तुम्हे बता ही नहीं सकता, कितनी भद्दी है। बिल्कुल बेहया किस्म की है।"

'तेरे बाबा तेरे बाबा के साथ वह कर क्या रही थी ? किस तरह देख रही थी ?" मानो अन्तिम सकोच के लेशमात्र को भी परे हटाकर अचानक तुमने शीघ्रता से पूछा था।

"वह सब तुम्हें बता नही सकूगा याने उस तरह की औरतें जो कुछ करती हैं, वही और क्या।"

(बाबा के बेहोश होते ही नलिनी ने तुरन्त उनका सिर अपनी गोद मे उठा लिया था।)

इस बार तुम कुछ देर तक चुप रहीं। पीडा के कारण तुम्हारा चेहरा नीला पडता जा रहा है। मैं साफ देख पा रहा हूँ। मैं अपनी ओर से भरसक तुम्हे सान्त्वना दिए जा रहा हूँ।

"तून अब तक कुछ बताया नही। सब छुपा गया।' काफी देर बाद तुमने धीमे स्वर म कहा।

"बताया नहीं जा सकता है, बताना उचित भी नही है। लडका होकर किस तरह बताओ तुम ही बताओ !"

"ठीक कहते हो।" मेरे सिर पर तुमने एक हाथ रखा। जिस हाथ को थोडी देर पहले ही मारने के लिए उठाया था। "अब तो तू बहुत बडा हो गया है।"

"बहुत बडा नही माँ।" थोडा अवनत भाव से बोला, "थोडा बडा कह सकती हो। अब मैं थोडा-बहुत समझने लगा हूँ।"

'जो कुछ समझो, अब से मुझे बता दिया कर।" यह कैसी प्रत्याशा है ? यह कैसा आदेश है ? बडे होने की स्वीकृति है यह ? यह क्या बडे होने का मूल्य है ?

कद में उनसे लम्बा हो चुका हूँ, यह तो नाप कर देख लिया। उम्र मे भी पहली बार अपने को तुम्हारे समान पाया।

माँ और बेटे के बीच लुका-छिपी और व्यवधान पहली बार मिट गया।

फिर भी एक अपराध भाव मेरे मन में रह ही गया। तुम्हें थोड़ा-सा स्वस्ति देने के लिए, तुम्हारे बराबर होने के लिए मैंने किसके प्रति अन्याय किया ? वह कौन है ? बाबा के टूट जाने के क्षणो मे अचानक ही जो करुणामयी हो गयी थी, दूध पिला कर मेरा मुह पोछा था, उसका स्मरण कर मन हाहाकार कर उठा। उसने कोई अन्याय नही किया था, फिर भी मैंने उसका अपमान किया। उस अपमान की कोई क्षमा नही है, फिर भी उससे क्षमा चाहता हूँ।

यहाँ तक लिखना आसान रहा। पर माँ इसके बाद तुमसे भी क्षमा माँग लूगा। तुम्हें भी उस दिन धोखा दिया था। मुह से चाहे जो कुछ भी बोलू, मन ही मन मे तो जानता हूँ कि मैं विश्वस्त नही रह पाया था। मन ही मन मे उस नलिनी के प्रति भी श्रद्धा, अनुराग, कृतज्ञता मिला कर, एक तरह का आकर्षण महसूस कर रहा था। मा, तुम्हारे उस प्रचण्ड संशय-सन्देह, यन्त्रणा के उस क्षण में भी मैं तुम्हारा साथी नही बन पाया। बराबर ही तुम अकेली रही, उस समय भी अकेली ही रह गयी।

मैं निर्विवेक, उस दिन एक ही साथ तुम दोनो को ठगा था।

इसके बाद, इसके बाद माँ, इस पत्र का सूत्र कहाँ से पकडू ? घटनाओं का वर्णन तो इस रचना का लक्ष्य नही था, बल्कि चाहा था कुछ उन्मोचन और विश्लेषण हो। कुछ मूल्यो, बोध, विश्वास, सम्पर्क और धारणा के बदल जाने का विवरण दिया जाए।

* * *

पता नही क्यों, उस बार जाडे मे दिन मानो जितनी जल्दी सिमट आने लगा था, उतना ही लगने लगा कि हम तीन जनो को लेकर जो छोटा-सा जीवन है, उसका भी एक अध्याय धीरे-धीरे सिमटता आ रहा है। अचानक ही शायद कही समाप्त हो जाये।

महसूस कर रहा था, हालाँकि नियति बहुत खामोशी के साथ अपना काम करती है, फिर भी हमेशा से देखता आ रहा हूँ, भविष्य के ऊपर वर्तमान की परछाईं पडती है। न जाने कौन आकर मन के अन्दर बैठ जाता है, जो पहले से ही सब कुछ बता जाता है।

हालाँकि बाहर से कोई लक्षण, आतक के चिह्न का आभास मात्र भी नही था। शायद सब कुछ स्नायुओं की कारस्तानी हो ! वरना, बाहर से तो सब कुछ सहज, स्वाभाविक ही चल रहा था। बाबा फिर से काम पर जाने लगे थे। मेरा कालेज चल रहा था। तुम्हारी घर गृहस्थी भी। हाथ थोडा तग भी रहने लगा था। इन कुछ महीनों मे बाबा ठीक स काम पर नही जा सके थे। वैसा भी ठीक से नही आ पा रहा था। ऊपर से डाक्टर दवा, और सारे खर्चे।

और माँ, उससे भी ज्यादा चौंकाती हो तुम, जब कहती हो, "मैं जाऊँगी। उसे मुझे दिखाओगे ?"

चकित बाबा भी होते हैं, पर शायद उन्हें जिद चढ जाती है। भला वे क्यो हार मानें। गम्भीर स्वर में उन्हें कहते हुए सुनता हूँ, "जाओगी ? उसे देखोगी ? उतना साहस तुममें है ?"

"दिखाने का साहस तुममे है तो ?" यह तुम्हारा कठ स्वर था। उसके साथ ही वही तेजधार वाली हँसी, फिर से चमक गयी।

यह कैसा नाटक है ? जीवन म ऐसा नाटक न पढ़ा है, न लिखा हूँ। जीवन के बिल्कुल सामने खड़े होकर देख रहा था न, इसलिए उस समय समझ नही पा रहा था कि, उस दृश्य का कितना यथार्थ है और कितनी कल्पना। यहाँ तक कि जब हम तीनो एक घोडागाडी पर बैठकर चले जा रहे थे, उस समय भी समझने ना समझने के बीच में झूले जा रहा था।

बाबा ने अचानक कहा, "उतरो यहीं।" तुम उतर गयी। उस समय भी तुम्हारा सिर से पाँव तक ढका हुआ था। सिर्फ दोनो पाँव के चप्पल के ऊपर आलता रगे पाँव दीख रहे थे।

नलिनी पास के कमरे मे थी। जिस कमरे मे बाबा को सोये हुये देखा था। उसी कमरे म दीवार पर एक चित्र सिन्दूर से अकित मागलिक चिह्न। पहला सलाप बाबा का ही था। उँगली उठाकर बोले, "वह देखो।"

चौंक कर नलिनी ने पीछे मुडकर देखा। फिर हकबकाते हुए कहा, "अरे ! आप लोग ! आ प !" उसी समय उसने बाबा के पीछे तुम्हें देखा था न ! पर उसने बैठने के लिये तुम्हें नही कहा। स्वय ही उठकर आगे बढ आयी। धीरे-धीरे। उसके पाँव डगमगा रहे थे। उसे उसने छुपाने की तनिक भी कोशिश नही की। फिर गाल पर हाथ रखकर, हम सबको बारी-बारी से देखने लगी। उसके बाद मेरी ओर देखते हुये कहा, "बेटे ! तुम थोडा बाहर जाओ तो। वहाँ जाकर बैठो।"

आदेश अमान्य करने का साहस नही हुआ।

तुम तो वही ड्योढ़ी पर पत्थर की तरह खडी थी। तुम्हीं बताओ, उस समय क्या धीरे-धीरे नलिनी के चेहरे का भाव बदलता नही जा रहा था। उसने बदले हुए स्वर मे कहा था, "उन्हे उन्हे यहाँ क्या लाए हैं ?"

मैं उनका चेहरा भी नही देख पा रहा था, सिर्फ आवाज सुन पा रहा था।

"तुम्हे दिखाने।" बाबा का स्वर था।

"मुझे ? हम लोग कितनी गदी, भद्दी और फूहड होकर रहते हैं, क्या यही दिखाने ? प्रणव बाबू ! आपका दिमाग बिल्कुल खराब हो चुका है। अपने दिमाग का इलाज करवाइये।"

"तुम गदी नही हो, न खराब ही।" बाबा विस्मित थे, फिर भी पूर्व-

विश्वास के आधार पर बोले जा रहे थे, "अभी तो आकर देखा, तुम पूजा मे बैठी थीं।"

"ठीक जिस तरह शरत् बाबू के उप यासो मे लिखा हुआ होता है ?" नलिनी रह रहकर हँस रही है। वह तो हँसी नही, मानो खून छलक रहा हो, "अरे ! दुर-दुर ! आपका दिमाग खराब हो गया है प्रणव बाबू। सिर्फ दिमाग ही खराब हुआ है, वरना अन्दर से अच्छे हैं एकदम निपट सीधे सादे भले आदमी। यह लाइन आपके लिये नही है। पता है न, हम लोग नाटक करते हैं ? इतना भी नही रहे है, यह पूजा-वूजा भी भडैती है, अभिनय है, अभिनय ! हम लोग हुए बज्जात व घडीबाज। हम लोगो को समझ पाना आसान नहीं। अगर यह कहूँ कि, यह जो चरणामृत देख रहे है, असल मे वह ठर्रा है। चुक-चुक पीती हूँ। दू आपको भी थोडा-सा ?"

पता नही, नलिनी उस समय किस हालत मे थी। मैंने सिर्फ तुम्हे दबी आवाज मे कहते हुए सुना, "चलो यहाँ से। तुम चलो यहाँ स।"

नलिनी ने मानो बडे ध्यान से माँ की बात सुनी। इस बार टिटहरी की तरह आवाज़ बनाकर बोल पडी, "ठीक, ठीक कहती हैं आप। चले जाइये, ले जाइये उन्हें यहाँ से। भद्रलोक यहाँ रहते हैं भला छि ?"

साफ समझ पा रहे थे हम, बाबा धीरे-धीरे टूट रहे थे। कम से कम उनकी टूटी हुई आवाज सुनायी पडी, "पर नलिनी ! मैंने तो तुम्हारी बहुत बडाई करके इन लोगो को यहाँ लाया था। बहुत ताव मे बोला था, दिखाऊँगा।"

"किसे ?"

"मेरी जीवनदायिनी को !"

"जीवन ?" नलिनी ने मुह बनाया। "अरे अपना ही जीवन जिलाये रखना दूभर है, तो दूसर को जीवनदान ? नही जनाब, दान-वान कुछ भी नही किया है मैंने, न कर सकती हूँ। देखिए, थोडी देर म ही सात गिद्ध आकर मेरे जीवन पर ही झपट्टा मारेंगे इसी से बनठन कर तैयार हूँ।"

"चले आओ चले आओ फौरन।"

नलिनी थोडा रुक गयी, शायद तुम्हारी आवाज सुनने के लिये। पर रुक कर फिर से बोलने लगी, "आपके साथ फिर भी बाहर जा सकती थी, पर घर की बहू को साथ ले आये, दूध और तम्बाकू दोनो ही चाहिये ? बिल्कुल दिमाग खराब है। फिर ऊपर से आपकी जेब भी बिल्कुल सफाचट मैदान है। चले जाइये, वरना तुरन्त व लोग आ जाएँगे। अगर सव्यसाची ही आ जाये तो ! उस दिन फिर भी जान से नही मारा था, पर आज कुछ कहा नही जा सकता है। क्या करें ! आप बिल्कुल पागल हैं। उन लोगो को पहचानते नहीं हैं। अरे जनाब, आपके उन सीधे-सादे नाटको को, भला वे बदमाश मच पर उतारेंगे ?"

बाबा की मिमियाती हुई आवाज, "पर नलिनी, आज मैं उस काम से नहीं आया हूँ। वह सब नहीं सोच रहा हूँ।"

"तो फिर क्या सोच रहे हैं ?"

"सोच रहा हूँ, यह क्या तुम ही हो, जिसने उस दिन मुझे "

"बताया तो नाटक किया था। ड्रामा जनाब, सब ड्रामा है, इतना भी नहीं मालूम ?"

"चले आओ।" इस बार अन्तिम रूप से ध्वनित हुआ। उसके बाद ही तुम्हे बराडे मे देखा। बाबा सिर झुकाये तुम्हारे पीछे पीछे चले आ रहे है। और नलिनी ? उसने तुम लोगो की पीठ के ऊपर ही धड़ाम से दरवाजा बन्द कर दिया।

ड्रामा सब ड्रामा। उस दिन का वह शानदार ड्रामा देखने के बाद, काफी देर तक हम तीनो ही खामोश बने रहे। घृणा, विस्मय और आतक से कण्ठस्वर अवरुद्ध हो गया था।

बाद मे, बहुत बाद मे स्मृति के रग जब धीरे-धीरे बदलने लगे, जिस तरह पुरानी पुस्तकें के रग बदलने लगते हैं, पढ़ी हुई कविता का एक-एक अर्थ, जब अचानक बिल्कुल अचानक ही साफ हो उठता है, ठीक उसी तरह ड्रामा के दूसरे पक्ष को भी मैं देख पाया हूँ, मानो सीन के पीछे बैठकर।

बाबा का वह एकदम से टूटा हुआ चेहरा मैंने पहली बार देखा था, अहीरी टोला के गंगा घाट पर। डाक्टरों ने सलाह दी थी कि, बदन पर गंगामिटटी लगाने से शरीर ठंडा रहेगा। बाबा ने उस व्यवस्था को चुपचाप स्वीकार लिया था। पहले भाटा के समय गंगा मिट्टी अपने बदन पर अच्छी तरह पोत लेते उसके बाद, ज्वार आने पर उसी मे अपने को छोड देते। अच्छी तरह बदन धोकर फिर किनारे आ उठते। जब ज्वार आये, उसी प्रतीक्षा मे किनारे काफी देर तक बैठे रहते देखा है।

तुम्हारे आदेश पर सूखे कपडे थामे मैं बाबा के साथ अक्सर जाया करता था। जिस दिन बाबा दूर तक चले जाते, मैं बहुत डर जाता। दुर्बल शरीर, अभी तो बीमारी से उठे हैं। मुझे लगता वे ज्यादती कर रहे हैं। कही पानी मे ही हाफ-हाँफ गये तो! डूब जाएँ! घबडाकर मैं उन्हे पुकारता। पर वे सुन नही रहे हैं, सुन नहीं पा रहे हैं, या फिर सुनना नही चाह रहे हैं।

मैं डर जाता।

उस दिन शाम को ज्वार था। बाबा को लौटने म देर होते देख मैं उन्हें देखने गया। जाकर देखा, वे उस समय तक पानी मे उतरे ही नही थे, सिर्फ एक सीढी पर बैठे, दोनो पाँव पानी मे डुबो रखा था।

मुझे देखते ही झुककर पानी हिलाने लगे। और फिर धीरे से कहा, "अभी भी समय नही हुआ है।"

"नहाया नही है?"

"ज्वार ही नहीं आया। पर लगता है अब आ रहा है। अब तक शायद बजबज या खिदिरपुर मे आ गया हो।"

"तो फिर अब तक कर क्या रहे थे?"

बाबा न मुह ऊपर किया। एकदम अदर्शी शून्य दृष्टि और एकदम से फीकी आँखे। उनका वह रूप देखकर, मेरे अन्दर न जाने कैसा तो होने लगा। अपने भीतर के डर को दबाने के लिये तेज स्वर में पूछा, "तो अब तक क्या करते रहे?"

"स्रोत देखता रहा।" बाबा ने पानी के ऊपर झुकते हुए कहा, "देख, इस समय इस ओर बह रहा है न, पर ज्वार आते ही उल्टी ओर बहने लगेगा। मैं प्रतीक्षा कर रहा हूँ।"

इतना कहकर, फिर से उस स्रोत की ओर ही देखने लगे। प्रवाह की गति-प्रकृति को उतने ध्यान से देखते हुए, वे कौन-सा रहस्य जान लेना चाहते हैं? "कुछ नही," बाद मे खुद ही एक समय मुझे बोले, "कुछ नही।"

"ऊहूँ" सिर हिलाते हुए बाबा ने कहा, "तू समझता है मैं मतलब समझ जाता हूँ पर कतई नही।"

मैं भी समझ नही पा रहा था, थोडा भी नही। और एकबार मुह उठाकर मानो किसी रहस्य की बात बता रहे हो, कहने लगे, "स्रोत के मामले म यही बात है। समझता नही हूँ, पर देख-देख कर इतना तो समझ हा चुका हूँ कि, स्रोत हमेशा सामने की ओर चलता है। पर नटखट होता है न, इसलिए चलते-चलते, शायद चलने में थोडा वैचित्र्य लाने के लिये स्रोत स्वय ही कोई न कोई जटिलता पैदा करता है। यह नियम, जगत का नियम है। स्रोत की तरह ही हम भी होते हैं। हम लोग भी बीच बीच मे कोई न कोई उलझन पैदा कर ही लेते हैं। बहुत मजेदार है न?"

बाबा हँस रहे थे, पर न जाने क्यो माँ मैं नही हँस पाया। गले से लेकर पाव तक झुर-झुरी फैल गयी थी।

तुम्हें बताया नही था। बताया नही था कि बाबा उन दिनो बीच-बीच म और भी कई तरह के अद्‌भुत कारनामे कर बैठते थे। एक दिन खूब भोर मे, तुम न जाने कब उठ गयी थी। जागते ही देखता हूँ बाबा मेरे सिरहाने आकर खडे हैं। मेरे सिर पर हाथ रखे कुछ बडबडाये जा रहे हैं, ठीक नाटक मे जिस तरह स्वगोक्ति करते हैं। "थी आशा मेघनाद! मूदूँगा अन्त मे / ये नयनद्वय तुम्हारे ही सम्मुख / सौंप कर राज्यभार, पुत्र तुम्हे / करूँगा महाप्रस्थान / पर विधि! उसकी लीला समझूगा कैसे? छला उसने मुझे।"

ज्योंही महसूस किया कि मैं भी जाग रहा हूँ, वैसे ही हसते हुए बोले, "बताओ तो किसकी है?"

"माइकल मधुसूदन की न!" मैंने कहा—

उनका चेहरा प्रदीप्त हो उठा। "पढ़ा है तुमने? इतनी जल्दी? वाह! पढ़ता जा। उसके बाद" यहाँ आकर वे शायद थोडा झिझके, "उसके बाद लिखना, लिखते रहना।" मेरे माथे के ऊपर उनके हाथ का दबाव, अर्थात आशीर्वाद।

तुम्हें उस समय वह सब नही बताया था।

बाबा का वह एकदम से टूटा हुआ चेहरा मैंने पहली बार देखा था, अहीरी टोला के गंगा घाट पर। डाक्टरों ने सलाह दी थी कि, बदन पर गंगामिट्टी लगाने से शरीर ठंडा रहेगा। बाबा ने उस व्यवस्था को चुपचाप स्वीकार लिया था। पहले भाटा के समय गंगा मिट्टी अपने बदन पर अच्छी तरह पोत लेते, उसके बाद, ज्वार आने पर उसी मे अपने को छोड देते। अच्छी तरह बदन धोकर फिर किनारे आ उठते। कब ज्वार आये उसी प्रतीक्षा मे किनारे काफी देर तक बैठे रहते देखा है।

तुम्हारे आदेश पर सूखे कपडे थामे मैं बाबा के साथ अक्सर जाया करता था। जिस दिन बाबा दूर तक चले जाते, मैं बहुत डर जाता। दुर्बल शरीर, अभी तो बीमारी से उठे हैं। मुझे लगता वे ज्यादती कर रहे हैं। कही पानी मे ही हाफ-वॉफ गये तो ! डूब जाएँ ! घबडाकर मैं उन्हें पुकारता। पर वे सुन नही रहे हैं, सुन नहीं पा रहे हैं, या फिर सुनना नही चाह रहे हैं।

मैं डर जाता।

उस दिन शाम को ज्वार था। बाबा को लौटने मे देर होते देख मैं उन्हें देखने गया। जाकर देखा, वे उस समय तक पानी मे उतरे ही नही थे, सिर्फ एक सीढी पर बैठे, दोनो पाँव पानी में डुबो रखा था।

मुझे देखते ही झुककर पानी हिलाने लगे। और फिर धीरे से कहा, "अभी भी समय नही हुआ है।"

"नहाया नही है ?"

"ज्वार ही नही आया। पर लगता है अब आ रहा है। अब तक शायद बजबज या खिदिरपुर मे आ गया हो।"

'तो फिर अब तक कर क्या रहे थे ?"

बाबा न मुह ऊपर किया। एकदम अदर्शी शून्य दृष्टि और एकदम से फीकी आँखें। उनका वह रूप देखकर, मेरे अन्दर न जाने कैसा तो होने लगा। अपने भीतर के डर को दबाने के लिये तेज स्वर में पूछा, "तो अब तक क्या करते रहे ?'

"स्रोत देखता रहा।" बाबा ने पानी के ऊपर झुकते हुए कहा, "देख, इस समय इस ओर बह रहा है न, पर ज्वार आते ही उल्टी ओर बहने लगेगा। मैं प्रतीक्षा कर रहा हूँ।"

इतना कहकर, फिर वे उस स्रोत की ओर ही देखने लगे। प्रवाह की गति-प्रकृति को उतने ध्यान से देखते हुए, वे कौन-सा रहस्य जान लेना चाहते हैं? "कुछ नहीं," बाद मे खुद ही एक समय मुझसे बोले, "कुछ नही।"

"ऊँहूँ" सिर हिलाते हुए बाबा ने कहा, "तू समझता है मैं मतलब समझ जाता हूँ पर कतई नही।"

मैं भी समझ नही पा रहा था, थोडा भी नही। और एकबार मुह उठाकर मानो किसी रहस्य की बात बता रहे हो, कहने लगे, "स्रोत के मामले म यही बात है। समझता नही हूँ, पर देख-देख कर इतना तो समझ हो चुका हूँ कि, स्रोत हमेशा सामने की ओर चलता है। पर नटखट होता है न, इसलिए चलते-चलते, शायद चलने मे थोडा वैचित्र्य लाने के लिये स्रोत स्वय ही कोई न कोई जटिलता पैदा करता है। यह नियम, जगत का नियम है। स्रोत की तरह ही हम भी होते हैं। हम लोग भी बीच बीच मे कोई न कोई उलझन पैदा कर ही लेते हैं। बहुत मजेदार है न?"

बाबा हस रहे थे, पर न जाने क्यो माँ मैं नही हँस पाया। गले से लकर पाव तक झुर झुरी फैल गयी थी।

तुम्हें बताया नही था। बताया नही था कि बाबा उन दिनो बीच-बीच म और भी कई तरह के अद्‌भुत कारनामे कर बैठते थे। एक दिन खूब भोर मे, तुम न जान कब उठ गयी थी। जागते ही देखता हूँ बाबा मेरे सिरहाने आकर खडे हैं। मेरे सिर पर हाथ रखे कुछ बडबडाये जा रहे हैं, ठीक नाटक मे जिस तरह स्वगोक्ति करते हैं। "थी आशा मेघनाद! मूदूँगा अन्त मे / ये नयनद्वय तुम्हारे ही सम्मुख / सौंप कर राज्यभार, पुत्र तुम्हे / करूँगा महाप्रस्थान / पर विधि! उसकी लीला समझूगा कैसे? छला उसने मुझे।"

ज्योही महसूस किया कि मैं भी जाग रहा हूँ, वैसे ही हँसते हुए बोले, "बताओ तो किसकी है?"

"माइकल मधुसूदन की न!" मैंने कहा—

उनका चेहरा प्रदीप्त हो उठा। "पढा है तुमने? इतनी जल्दी? वाह! पढ़ता जा। उसके बाद" यहाँ आकर वे शायद थोडा झिझके, "उसके बाद लिखना, लिखत रहना।" मेरे माथे के ऊपर उनके हाथ का दबाव, अथार आशीर्वाद।

तुम्हें उस समय वह सब नही बताया था।

पर स देह क्या तुम्ह भी नही हुआ था, जिस दिन बाबा सुबह जाकर और कुछ भी नही लाये, सिर्फ ढेर सारे सहजन के फूल ले आये। तुम बहुत हताश हो उठी बहुत गुस्साते हुए कहा था, "यह क्या ? सिर्फ फूल ? इतने सारे फूल तुमने खरीदे हैं ?"

'खरीदा ही तो है। वरना मुझे कौन देगा, बताओ ! पर मैं तुम्हें दे रहा हूं," कहते हुए बाबा ने उन ढेर सारे फूलो को तुम्हारे आंचल मे उंडेल दिया।

तुम्हारे गालो पर हल्की-सी लाली फैल गयी, पर बाबा तनिक भी लज्जित नही हुए बोले, "अगर मिली तो एक दिन शाल की मजरी भी ले आऊंगा। सहजन और शाल की मजरी। दोनो का तात्पर्य क्या हुआ, पता है ? सहजन के पास से इसी की शुभ्रता सीख लूगा और शाल की मजरी से उसकी ही तरह समस्त तुच्छताओं का अतिक्रमण करके ऊपर उठ जाना सीखूगा।"

"वह सब बडे बडे भावो की बात है। मेरे पल्ले नही पडती।" तुमने विरस स्वर मे कहा। तब बाबा बोले, "तो कुछ हल्की चीज सुनाऊं ?" और फिर तुरन्त शुरू हो गये थे, 'वाह, वाह, क्या आश्चर्य / पुरुष का ब्रह्मचर्य / हो सलिल दृढ़, तुषार शीतल, तथापि आतप ताप मे जो जल, वह जल।"

' वह जल।' बाबा ने पूछा, "बताओ तो किसकी है ?"

"पता नही।"

"तुम्ह तो एक बार याद कराया था। नवीन सेन की रचना है।"

पर सिर्फ भाव की बात ही नही, धीरे-धीरे अभाव की बात भी हमारे परिवार मे घुसने लगी थी। पूरी तरह भले ही घुस न पायी हो, पर इधर-उधर उसकी काली परछाइ का आभास मिलने लगा था।

फिर-भी शुरू-शुरू मे तुम्हे विचलित होते नही देखा था। खूब भोर म जिस तरह उठ कर नहाती-धोती, सँवर कर सिंदूर डालती और फिर घर गृहस्थी के काम मे उलझ जाती, और धीरे-धीरे कोई भजन गुनगुनातीं, उस सुर को मे पहचानता हूं। जब भी सुनता हूं, मन के बहुत गहरे मे न जाने क्या, एक छोटे-से काँटे की तरह चुभने लगता। और उन्ही दिनो ही समझ सका था कि कोई एकदम से चला नही जाता है, कुछ न कुछ जाता है। जैसे सुधीर मामा कब के चले गये हैं, पर रह भी गये हैं उन सब गीतों के स्वर के आभास म।

तुमने कहना शुरू कर दिया, "ठीक महसूस नही हो रहा है। थोडा भी ठीक नही लग रहा है।"

समझ गया, तुम बाबा के लिये कह रही हो। बाबा का चाल-चलन, हाव-भाव सब कुछ बदल गया था। घर से बाहर निकलना ही नही चाहते थे फिर भी बीच-बीच मे जबरदस्ती, पार्क मे भेज दिया जाता। किसी किसी दिन गगा के किनारे उन्हें ले जाते।

बाबा की नौकरी खत्म हो चुकी है, यह दिन के उजाले की तरह साफ हो चुका था। उन लोगो ने छुड़ा दिया होगा।

पर तुम्हे यकीन था कि बाबा ने खुद ही नौकरी छोडी होगी। इसमें कोई शक नही कि बाबा को तुम मुझसे ज्यादा जानती थी तुम कहती थी, "शुरू की आदत रही है। फिर काम करते कहाँ से ? प्रेस की नौकरी तो एक बहाना थी। नाटक-वाटक का थोड़ा शौक था न वहाँ। जिस उम्मीद से वहाँ गये थे, वही जब टूट गयी, तो फिर और किस बात के लिये वहाँ ठहरते। शरीर उनका टूटने लगा है, साथ ही मन भी। पर बता तो हम लोग क्या करे! घर का गुजारा कैसे हो ?"

एक परिवर्तन मैं बड़े गौर से देखे जा रहा था। जब तक बाबा कार्यक्षम रहे, तुम हमेशा शान्त, उदास रही। अपने ही कल्पना जगत मे विचरती रही। पर अब बाबा को टूट जाते देख, तुम अपने आवरण मे से निकल आयी।

जो परछाई घर के इधर-उधर दुबकी हुई थी, वही अब काफी फैलकर बैठ चुकी थी। मैं अक्सर दु स्वप्न देखने लगा था। पढाई ठीक से नही कर पाता। दिमाग मे कुछ घुसता ही नहीं। न कालेज जाने का जी चाहता, क्योकि भरपेट खाकर कालेज जाना नही हो पाता। एक दो घंटे बाद ही पेट मे कुछ ऐंठने लगता। पढाई वढ़ाई सब गड़बड़ होने लगती। दिमाग का क्या कसूर! वही कितनी सुबह भात-चोखा खाकर निकला हूँ। सब हजम हो चुका है अब तक। लौटते समय एक पैसे का चीना बादाम। उसके पहले मिसीर जी! पेट भर कर पानी पिला दो न मुझे! वरना इतनी दूर जाऊँगा कैसे ? रास्ते मे सिर चकरा जायेगा ?

*　　　*　　　*

यहाँ तक इसी तरह लिखा। उस समय की मनोदशा जैसी थी, गीली मिट्टी, सूखे घास, कीचड सने जड समेत थोड़ा-सा उखाड लाया हूँ।

पर इस तरह क्यो ? माँ, शायद तुम यह जानना चाहो ? किसी और तरह से उस समय की गरीबी की भयकर तस्वीर मेरे लिये खीच पाना सभव जो नहीं था! चौबीसो घण्टे अपने आसपास एक काली परछाई डोलती हुई सी मिलती। माँ, उस समय आँख बद करने पर भी वह दीखता। उसे मैं घर के कोने मे जमे हुए धूल पर, तरकारी के छिलको और टूटी हुई कुर्सी के पाये, दीवार के उखडे हुए पलस्तर पर देखता हूँ। तुम्हारे रूखे बालो में यहाँ-वहा से फटी हुई साडी के हर हिस्सो में, माड दी हुई मेरी कमीज की एक-एक रिफू और पैबन्द मे। बात-बात म सर्दी बुखार मे बिस्तर पकड लेने मे। गटागट पानी और एक पैसे का बदाम खाकर टिफिन पूरा करने म। क्लास के दोस्तो से माँग-मूग कर किताब पढ़ने और उस अपमान को बहुत सारे झूठ के सहारे उडा देने मे। आह! माँ! मेरे उस कैशोर्य के अन्तिम दिनो और यौवन के पदार्पण के दिनो मे न जाने कितने कष्ट पाया हूँ, और झूठ पर झूठ बोला हूँ!

समाज म, जाने-पहचानो मे सिर उठाकर चलने-फिरने की भी गुंजायश नही रह गयी थी ।

मा, इतनी बातें शायद इसलिए लिखता जा रहा हूँ, क्योकि अन्दर कुछ ऐसा है जो बाहर निकलने मे अभी भी हिचकिचा रहा हो ।

माँ, झूठ नही बोलूगा। मैं उस अध्याय पर पहुँच गया हूँ, जब तुम्हारे मेरे सम्पर्क के लिय और निर्मम व्यवधान का प्रयोजन होगा। इसीलिए कलम नही चलना चाह रहा था। शायद इसी से इतनी भूमिका बाँधनी पडी ।

पर और नहीं। यह देखो मैंने सख्त मुट्ठी मे कलम पकड लिया है। अब हाथ नहीं काँप रहा है। मैं आत्मघाती हूँ मजे की बात देखो, बाबा ने परिहास-छल मे जो हुक्म जारी किया था, वह सत्य हुआ। मैं परशुराम भी हूँ, जो मातृ घाती था।

(कलकत्ता मे शुरू के दिनों म बाबा ने एकबार कहानी सुनायी थी। पिता जमदग्नि के आदेश पर बिना एक शब्द बोले परशुराम ने अपनी माता रेणुका का हनन किया था। बाबा ने कहा था, "इसी को कहते हैं पुत्र। पितृ आदेश ही जिसके लिए वेद वाक्य हो। तुझे अगर कहूँ तू कर सकेगा ?" उन्होंने हँसते हुए पूछा था। वह हसी अभी भी मेरे कानो मे बज रही थी।)

तुम्हें भी आघात करना होगा, क्योकि अभाव नामक वह डाकू, जो लालची होने पर भी लगोटधारी पहलवान था, हम दोनो को ही खीच-खीच कर लगातार नीचे घसीटते जा रहा था। बाबा उस समय रहकर भी नही रह गये थे। बहुत दिनो बाद फिर से हम दोनो ही रह गये थे ।

जरूरता ने हम लोगो को छोटा कर दिया था ।

माँ, कौन सी बात पहले लिखू, परीक्षा की फीस को लेकर धोखाधडी, या तुम्हारी आखिरी दो चूडियो की बिक्री ?

पहले पशुपति ताऊ जी की ही बात कह लूं। उन दिनो वे हम लोगों के परिवार मे कुछ दिनों के लिये एक सुखद हवा के झोके की तरह बह गये थे।

"प्रणव है, प्रणव ?" बोलते हुए एक दिन सुबह वे हम लोगो के मकान मे घुस आये थे। उन दिनों दरवाजा खटखटा कर कमरे मे घुसने का रिवाज नही था। बाबा को देखते ही बोले, "अरे प्रणव तो यहां है," कहकर ही थोडा ठिठक कर खडे रह गये, फिर बोले, "पर बिस्तर पर क्यों हो ?" तुम हडबडाती-सी, सिर पर घूघट डाले एक तरफ हो गयी। आगन्तुक ने, जो कद-काठी से काफी ऊंचा-तगडा था, बदन पर मोटा फतुआ, देखने मे बाबा जैसे पहले दीखते थे, वैसा ही, चौडा माथा, चमकती हुई आंखें। तुम्हारी ओर देखते हुए बोले, "तुम मुझे नही पहचानोगी बहू ! पहले कभी देखा जो नहीं है। मै पशुपति हूं। प्रणव ने कभी मेरी चर्चा नही की ?"

बाबा को उन दिनो बात करने मे तकलीफ होती थी, पर एक तरह की सजगता उस समय भी थी। देखा, अचानक उनका शीर्ण क्लिष्ट चेहरा आकस्मिक एक प्रकाश से खिल गया। पशुपति ने कहा, "मैं उसका दादा हूं।"

बाबा ने किसी तरह लडखडायी हुई आवाज मे कहा, "दादा से भी कही ज्यादा।"

पशुपति ताऊ बाले, "वैसे रिश्ता देखने जाओ तो काफी दूर का रिश्ता है। एक तरह से कहो कोई रिश्तेदारी ही नहीं बनती है। फिर भी हम लोग बहुतों से कही ज्यादा अपने हैं। सुख-दुख एक लम्बे अर्से तक एक साथ झेला है।"

तुमने तब उन्हें प्रणाम किया। तुम्हे देखकर मैंने भी।

पशुपति नि सकोच भाव से बाबा के पलग के एक किनारे बैठ गए। बोले, "इसकी ऐसी हालत हो गयी है, यह तो मालूम ही नही था। मैं तो बडी उम्मीद लिए आया था। पिछले महीने ही हम सब छूटे हैं। पता है ? मैं छूटते ही राची चला गया था न ! प्रणव को तो यह सब पता ही है ! राची मे हमारे ग्रुप के कुछ और लोग

भी आए थे। ज दमान से भी दो पुराने साथी वहाँ आ गये थे। वहाँ पर काफी दिनो तक सलाह मशवरा चलता रहा प्रणव !" बाबा की ओर स्थिर दृष्टि से देखते हुए पशुपति ने कहा, "एक योजना बना कर ही यहाँ आया हूँ।"

बाबा की पलकें और होठ काँप रहे थे।

पशुपति पलथी मार कर बैठ गए थे। बोले, "इस समय सारी बातें खोलकर नही बताऊगा। बाद मे धीरे-धीरे बताऊँगा। उससे पहले, जेब से एक पाँच रुपये का नोट निकाल कर बोले, "जा तो, गरम-गरम जलेबी ले आ। साथ में खस्ता कचौडी। सुबह स पेट मे कुछ गया नही है।"

तुमने अवाक होकर देखा था। कचौडी और जलेबी आ जाने पर पशुपति ने कहा, "हाथ मुह धो आऊ उसके बाद। नहानघर कहाँ है ?"

नहान घर-वर नही है, यह उन्हे नही कहा गया। सिर्फ नल जहाँ था। उधर दिखा दिया गया।

तुमने बाबा की ओर देखते हुए कहा, "बडे मजेदार आदमी हैं! एकदम खुले हुए।"

बाबा ने अस्पष्ट स्वरो मे जो कुछ कहा, उसका मतलब निकला यह कि, पशुपति एकदम अलग किस्म का आदमी है। अन्दर बाहर से एकदम एक जैसा। मन मे कोई मैल नही। मन मे खोट न होने के कारण ही इतनी सहजता से सब जगह घुलमिल जाते हैं।"

वे थोडो देर मे ही लौट आए। तुम उस समय प्लेट मे खाने की चीजों को रख रही थीं। बाबा, सिर्फ टुकुर-टुकुर देखे जा रहे थे। बीमारी के बाद से उनम ललच बढ गयी थी।

एक प्लेट पशुपति की ओर बढ़ाकर तुमने फुसफुसाते हुए मुझसे कहा, "पूछ तो, कहाँ ठहरे हैं ?"

"एक मेस मे ठहरा हूँ। मिर्जापुर स्ट्रीट के उधर।" पशुपति न ही सीधे जवाब दिया। "वह जगह काफी दिनो की जानी-पहचानी भी है, ऊपर से हम लोगो के दल का एक अड्डा भी है वहाँ।"

"खाना पीना कैसा है ?" तुमने पूछा, इस बार भी मेरी ओर ही देख रही थी।

"रसोइया, बहुत बढिया खाना नही बनाता है। वहू! मेरी इच्छा है कि एक दिन तुम्हारे हाथ का बना हुआ भोजन खाऊ।"

'आइए न !" अब जाकर तुम सीधे-सीधे बात कर पायी थीं, हालाकि अभी भी घूघट निकला हुआ ही था। उसके बाद बडे कुण्ठित भाव से बहुत धीरे-धीरे, कितने दिन आप रह पाएगे भला! आपको यहा ठहर जाने के लिए भी कहने का साहस नही हो रहा। अगर् कोई खास दिक्कत महसूस न करें, तो दोनो समय यही खाइए न !"

मैं स्तम्भित होकर सुन रहा था। माँ, तुम क्या पगला गयी हो! हम लोग खुद इस हाल मे रह रहे हैं। पाँवपोश के नीचे दबे कीडे की तरह किसी तरह दिन काट रहे हैं। इस विमुख-विमाता शहर मे, आजकल रोज मुझे मूडी भी नही मिल पाती है। बाबा के सिर पर लगाने का ठडा तेल भी नहीं खरीद पा रहे हैं और ऐसी हालत मे तुम और एक को बुला रही हो? क्या खिलाओगी तुम उस विशिष्ट अतिथि को! थाली मे क्या केवल भात और नमक मिर्च परोस दोगी? मैं छुपाकर तुम्हारे पाँव की उँगली मे चिकोटी काटता हूँ। याने सकेत मे तुम्हे चुप रहने के लिए कहता हूँ। पर तब तक पशुपति बाबू बोलने लगे थे, "अवश्य-अवश्य!" और तुम इसी बीच मानो और भी लज्जावती बहू बन गयी, सिर एकदम झुका हुआ। दोनो आँखें फर्श की ओर गडी हुईं। और भी मीठे और कोमल स्वर मे बोल रही हो, "वैसे आपको खाने मे तकलीफ होगी।" माँ! ऐसा स्वर तुम्हे मिला कहाँ से? और इतने सुदर ढग से कही गयी वे बाते! क्या बना कर बोल रही हो, या पहले से ही बना हुआ था! पशुपति बाबू हो-हो करके हँस रहे हैं, "क्या कहती हो! जीवन के शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष की तरह दो भाग का एक भाग जिनका जेल मे कटा है, जहाँ लप्सी को ही अमृत समझा जाता है। और तुम कह रही हो, यहा खाने मे तकलीफ होगी? हा-हा हा।"

पशुपति बाबू ने एक बार हँसी रोक कर कमरे के चारो ओर देख लिया। "पर बहू माँ! ठीक से बताओ तो, तुम्हे कोई असुविधा तो नही होगी न! मेरी काया देख ही रही हो न! फिर आजकल मैं कुछ ज्यादा ही भुक्कड हो गया हूँ। न खा पाने की कसर अब पूरी कर ले रहा हूँ। इस समय का सौदा सुलफ करवा लिया होगा!

(उन्हे हमारे यहा का हालचाल कुछ भी मालूम नही। इन दिनो हमारे यहाँ रोज सौदा-सुलफ होता ही कहाँ है!)

"तो फिर एक काम किया जाए! मैं शाम को आऊँगा। तुम जाओ तो खोका! बाजार से बढिया मूग की दाल लाओगे, ठीक? साथ मे पेट मोटा 'कोई' मछली ठीक? आलू, प्याज जो-जो चाहिए सब उसे बता दो तो।" उन्होने अब कमीज की जेब से एक दस रुपए का नोट निकाला।

थोडी देर पहले, जलेबी के लिए पाँच और इस समय सौदा लाने के लिए दस, सारे नोट नक्शेदार फूल बनकर इस कमरे की हवा मे तैर रहा है। क्या सचमुच तैर रहा है, या फिर हम लोग कोई करिश्मा देख रहे हैं? पशुपति बाबू, आकस्मिक वह अभ्यागत व्यक्ति क्या जाने सचमुच रक्तमास का है, या नहीं! शायद वे किसी परीकथा के नायक हो, जो परीकथा के पन्नों से उतर आए हैं! फिर तो यह नोट असली नही है, परन्तु गायब हो जा सकता है डरते हुए नोट को मैं अपनी मुट्ठी में कस लेता हूँ।

"दोनो भाई एक अर्से बाद एक साथ बैठकर ठाठ से खाएँगे। क्यों भई प्रणव ?" वह लगभग अलौकिक-से, अपरूप, प्रेरित-पुरुष प्रतिम व्यक्ति उदार स्वर मे बोल रहे थे। थोडी देर पहले जिस तरह पशुपति बाबू देख रहे थे, उसी तरह उस समय बाबा का भी तकिए पर रखे हुए सिर में से दोना आँखें कमरे के चारों ओर घूम रही थी। माँ, तुम भी घूँघट के अन्दर से इधर-उधर देख रही थी। और मैं ? मैं क्या उस समय अचानक ही किसी सौर जगत मे उपस्थित हो गया था ? या फिर वह कमरा ही उस समय सौर जगत बन गया था, जहाँ तरह-तरह के ग्रह-नक्षत्र चक्कर काटे जा रहे हैं ?

"बहुत मजेदार आदमी हैं पशुपति बाबू !" उनके चले जाने पर मैं बोल पडा। दरअसल बोले हम तीनो ही थे, तुम दोनो आँखो से मैं मुह से।

'छि उतने बडे आदमी का नाम लेकर नही पुकारते। जेठा बाबू बोलो।"

और माँ, थोडी देर बाद जब मैं नोट नचाते हुए बाजार की ओर चल देता हूँ, तुम्हे मन ही मन प्रणाम करता हूँ। माँ ! तुम्हें जरूर पता होगा कि उनका सिर्फ चेहरा ही दिलदरिया नही है।

शाम को मसाला पीसा गया, दो चूल्हे जलाए गए। इन सब छोटी मोटी बातो को छोड ही दू, पर बाल्टी भर-भर पानी से घर की जो धुलाई-पोछाई हुई ! अच्छा उसका जिक्र भी रहने दो। पर माँ ! कहाँ थी वह उजली साडी, जिसे शाम को नहाने के बाद तुमने पहन ली थी !

मेरी दृष्टि मे क्या थी ? विस्मय या मुग्धता ? तुम क्या थोडा सकुचित हो गयी थी ? शायद इसी से पकडा जाने के लहजे मे बोली थीं 'क्या देख रहा है ?"

अब तो मैं वह पहले वाला बालक नही हूँ, जो गाँव के मकान म पहली बार बाबा के आने वाले दिन तुम्हें रगीन साडी पहने देख व्यथित-आहत-सा होकर निर्वाक हो गया था !

"पहन ली है !" कुण्ठित स्वर मे तुमने कहा, "पहन ली हूँ। बहुत गन्दी रहने लगी हूँ। बाहर के आदमी को खाने आना है। कही उनका मन घिना जाए तो ?"

माँ ! तुमने एक बाहरी आदमी की दृष्टि स देखा था, इसलिए उस दिन समझ नही पायी थीं। आज अगर कहूँ, बदन मेरा भी घिनाया था ?

(हालाकि उस समय शहरी बना मैं उसी समय मिथ्यावादी बनकर बोला, "इस साडी मे तुम अच्छी ही लग रही हो।')

और क्या बाल रही थी तुम, गदा, जो साडी उस समय पहने हुए थी, वह साफ जरूर थो, पर तुमने क्या गौर नही किया था, कि उसके एक-एक धागे मे न जाने कितने अभाव छुपे हुए हैं ? यह साडी हालांकि रगीन नही है, पर न जाने किस

जगह से लोभ का रग निर्लज्ज भाव से चमक रहा है। तुमने क्या नही देखा था? दिव्य दृष्टि क्या इसी तरह होती है? एक ओर खुली रहे, दूसरी ओर बन्द?

इतनी धुलाई-पोछाई के बाद हम लोगों का कमरा चमकने लगा था, फिर भी कहाँ, खास साफ तो नहीं लग रहा है।

इतने स्पष्ट भाव से उस दिन समझ नही पाया था, फिर भी नामहीन एक दूसरी दृष्टि से धुंधला-सा उसे देखा था।

उसी अभाव को, जो खिड़की के बाहर खड़े होकर क्षुधार्त-धूर्त अपना सिर हिलाया करता था। वह साँप की तरह रेंगता हुआ इस घर में घुस आया है।

पशुपति, नही-नही जेठा बाबू ठीक समय पर आ गए। बहुत परितोष के साथ खाना खाया। काँटा चूस-चूस कर थाल के पास फेंक-फेंक कर।

("तुम सोच रहे हो प्रणव, मेरे दाँत बधवाए हुए हैं? ऐसी बात नही है। अभी भी ये दाँत काफी मजबूत हैं?)

झोल की कटारी में हथेली डुबोकर—

('पर तुम खा नहीं पा रहे हो प्रणव! तुम अचानक बुढा गए हो। हालाँकि अभी उस दिन तक! खैर चिन्ता मत करो। मैं जब आ ही गया हूँ, फिर से तुम्हे खड़ा कर दूँगा। फिक्र मत करो?)

जेठा बाबू ने एक पान भी मुह मे डाल लिया। जाते समय मुझे अपने पास बुलाया और बहुत अपनपन से पहली बार पूछा,

"क्या पढ़ रहे हो तुम?"

बताया।

"साइन्स या आर्ट्स?"

"आर्ट्स।"

"गणित में कमजोर हो क्या?"

समय विशेष पर थोड़ा-सा और बच्चा कैसे बन जाया जाता है, चेहरे पर शर्मीलापन ले आना पड़ता है, वह सब बचपन से ही जानता था। बड़ी सरलतापूर्ण मुस्कराहट चेहरे पर फैलाते चमकती आँखो से देखता रहा। पर कहा कुछ नहीं। गुरुजनो के साथ बराबरी का व्यवहार नही किया जाता। कभी-कभी न बोलना ही शिष्टता और विनय समझा जाता है। यह सब सीखा हुआ था, इसलिए खूब सरल मुस्कराहट और चमकती आँखो से देखता रहा।

बाबा भी चुप रहे। पर माँ आगे बढ़ आयी। घूघट को माथे तक चढ़ाते हुए, सचमुच के जेठ तो लगते नही है, फिर क्या आता जाता है! धीमे स्वर मे कहा, "उसका झुकाव दूसरी ओर है। लिखने-विखने की ओर।"

"अपने बाप की तरह?" जेठा बाबू हस और ठीक उसी क्षण न जाने क्या हुआ, बाबा अचानक दानो हाथो से आँखें ढँक कर अस्थिरभाव से सिर हिलाने लगे। वे क्या अस्वीकार करना चाह रहे थे, मालूम नहीं, वे लेखक नही हैं, या मैं नहीं हूँ?

या उनके जैसा नही हूँ ? ठीक बात है, बिल्कुल ठीक ! मैं गुस्से में अन्दर ही अन्दर उबलने लगा था। कनखी से बाबा की ओर देखकर मन ही मन मे बोल रहा था, "तुम्हारे जैसा बिल्कुल नही हूँ मैं। क्यो होने जाऊँगा ? अगर कभी सचमुच ही लेखक बना तो मैं अपने समय के साथ चलने वाला लेखक होऊँगा। एकदम झकाझक मार्डर्न ! कुछ हो सका क्या तुम्हारे उनका ! वही, नाटक-वाटक का ? कुछ नही !"

और बाबा सिर्फ सिर हिलाए जा रहे थे। अस्पष्ट अर्थहीन भाव से।

पशुपति उतना सब देख नही रहे थे। बोले, "क्या पढते हो ? दो एक किताबें ले आओ तो। आजकल के कोर्स म क्या है, सब मालूम भी तो नही है।"

"सारी किताबें तो उसके पास नही हैं," जल्दी से तुम बोल पडी, "खरीद नही पाया है।"

"क्यो नही खरीद पाया ?" पशुपति ने एक बार ही प्रश्न किया। उन्हें दोबारा पूछना नही पडा, क्योकि इस बार मैं चेहरे की वह सरल हँसी मिटा, छल-छलाती आँखो से देखता रहा न !

(माँ ! पहले से ही किसी ने तय कर दिया था, अथवा हम दोनों ने ही मौन भाषा मे तय कर लिया था कि बात-बात तुम करती जाओगी, और मैं कभी स्मित, कभी दुखित चेहरे पर इस तरह के हावभाव लाता रहूँगा, बदलता रहूँगा !)

मैं बडे करुण भाव से देखता रहा न ! इसलिए पशुपति ने आगे कुछ नही पूछा। पुस्तकें न खरीद पाने का कारण समझ लिया। थोडी देर बाद बोले, "परीक्षा कब है ?"

'बिल्कुल नज़दीक है। फीस भी अभी नही दिया गया है।" इस बार भी तुमने ही कहा। यह शहर क्या है माँ ! किस अद्भुत तरीके से एक छुईमुई-सी गृहवधू के मुख से आवश्यक बातें कहला लेता है !

इस बार पशुपति ने कारण भी नही जानना चाहा सिर्फ बोले, "ओ।"

वे जब चले जा रहे थे, उस समय और एक बार सिर झुकाकर तुमने प्रणाम किया। मुझे करने के लिए कहा। मृदु स्वर में बोली, "फिर आइएगा।"

"जरूर आऊगा। इतना बढिया खाना खिलाया तुमने, नही आऊँगा भला ?" पशुपति बोले 'और कुछ हो न हो, अच्छा खाना, खाने के लालच मे तो आऊँगा ही।" चले गए हसते हँसते। बाबा बैठे ही रहे। उनका सिर हिलना बन्द हो गया था। सिर्फ आँख उठाकर देखा।

और उसी समय माँ, तुम बोल पडी, "अरे !"

मैंने तुम्हारी ओर देखा।

आँचल की गाँठ खोलते हुए तुमने कहा, "उनके दस रुपए से बचे हुए पैसे चार रुपया छह आना तो रह ही गया। लौटाया नही गया !"

मैं देखता रहा। कुछ बोला नही। तुमने बाबा की ओर देखा। बाबा भी चुप। तुमने जल्दी से कहा ' शायद भूल गए हो।" हमलोग कुछ नहीं बोल रहे हैं।

उस हस्व तुम सिर्फ एकबार बात करती हो। अब तुम हँस रहे हो, पाते हँसने की कोशिश कर रही हो।—"कोई बात नहीं फिर तो आएँगे ही।"

"उन्हें याद नहीं रहा होगा।" बोला था मैं। बात शायद ठीक थी, पर आंशिक ही। तुम्हें बखूबी याद था। बचे हुए पैसे तुम्हारे होठों-इशारे ने ताऊजी के छोर से बँधे दे। यह मैं नहीं कह पाया। बेटा होकर माँ से भला ऐसी बातें कही जा सकती हैं।

बाबा सिर्फ ताकते रहे। देखते रहे, लगातार चार दिन कि पाँच दिन तक ठीक याद नहीं, पशुपति यानी ताऊजी आ रहे हैं, जा रहे हैं। किसी दिन खुद ही सामान ले आ रहे हैं, तो किसी दिन आते ही नोट बढ़ा दे रहे हैं। किस्म किस्म के पकवान, उसकी महक, आह! खिड़की के बाहर से झाँकता हुआ वह भिखारी देख। थाली के ऊपर औंधा होकर सब कुछ चाट-चाट कर खा रहा है!

बाबा के साथ भी ताऊ जी की ढेर सारी बातें होतीं। पहले की बातें, बाद में क्या होगा। वे सब बातें। सिर्फ एक दिन देखा, ताऊ जी हाथ में एक बहुत बड़ी हिल्सा मछली लेकर घुस रहे हैं, और बाबा सिर्फ तिरछी नजर से देखकर चुपचाप बाहर निकल जा रहे हैं।

खाना पकता रहा। ताऊ जी कागज पढ़ते रहे। शुरू में कुछ भी अटपटा-सा नहीं लगा था। कितने तरह के काम से ही तो आदमी, 'अभी आता हूँ', कहकर निकल जाता है। शायद बाबा नीचे गुसलखाने में गए हों, पर खाना बन जाने के बाद तुमने मुझसे कहा, "कहाँ गए वो ? देख तो! और उसी समय ताऊजी अचानक मानों चौंकते हुए बोले, "वास्तव में, प्रणव गया कहाँ ?"

मुझे पता था कहाँ।

* * *

गंगा के पानी में मन्थर गति से एक के बाद एक फूल बहते आ रहे थे। बाबा झुककर दो-एक फूल उठाकर सूँघ रहे हैं। मेरे पाँव की आहट पाते ही समझ गए कि मैं हूँ। "पशुपति रोज-रोज क्यों आता है?"

मैं तब तक उनका चेहरा नहीं देख पाया था। जब मुँह घुमाया देखा। वह चेहरा डरा हुआ। हाथ का गीला फूल काँप रहा है। दबे हुए पर मृदु स्वर में बाबा ने स्वयं ही कहा, 'मुझे मालूम है क्यों।" सिर झुका कर जोड़ दिया, 'वे लोग मुझे अन्दमान ले जाना चाहते हैं। ले जाने के लिए ही पशुपति आया है।"

मैंने कहा, "नहीं तो! सिर्फ थोड़े दिन पहले ही तो वे लोग अन्दमान से लौटे हैं।"

बाबा ने विह्वल भाव से सिर हिलाते हुए कहा, "मुझे पता है।"

मैं जोर देकर बोला, "आप गलत समझ रहे हैं। आपको वे लोग सहयोगी के रूप में पाना चाहते हैं। आपको भी वे लोग आन्दोलन में उतारना चाहते हैं।"

या उनके जैसा नहो हूँ ? ठीक बात है, बिल्कुल ठीक ! मैं गुस्से में अन्दर ही अन्दर उबलने लगा था। कनखी से बाबा की ओर देखकर मन ही मन मे बोल रहा था, "तुम्हारे जैसा बिल्कुल नही हूँ मैं। क्या होने जाऊँगा ? अगर कभी सचमुच ही लेखक बना तो मैं अपने समय के साथ चलने वाला लेखक होऊँगा। एकदम झकास्क माडर्न ! कुछ हो सका क्या तुम्हारे उनका ! वही, नाटक-वाटक का ? कुछ नही।"

और बाबा सिर्फ सिर हिलाए जा रह थे। अस्पष्ट अर्थहीन भाव से।

पशुपति उतना सब देख नही रहे थे। बोले, "क्या पढत हो ? दो एक किताबें ले आओ तो। आजकल के कोर्स म क्या है, सब मालूम भी तो नही है।"

"सारी किताबें तो उसके पास नही हैं," जल्दी से तुम बोल पडी, "खरीद नही पाया है।"

"क्यो नही खरीद पाया ?" पशुपति ने एक बार ही प्रश्न किया। उन्हें दोबारा पूछना नही पडा, क्योकि इस बार मैं चेहरे की वह सरल हँसी मिटा, छलछलाती आँखो से देखता रहा न।

(माँ ! पहले से ही किसी ने तय कर दिया था, अथवा हम दोनो ने ही मौन भाषा मे तय कर लिया था कि बात-बात तुम करती जाओगी, और मैं कभी स्मित, कभी दुखित चेहरे पर इस तरह के हावभाव लाता रहूँगा, बदलता रहूँगा !)

मैं बडे करुण भाव से देखता रहा न। इसलिए पशुपति ने आगे कुछ नही पूछा। पुस्तकें न खरीद पाने का कारण समझ लिया। थोडी देर बाद बोले, "परीक्षा कब है ?'

'बिल्कुल नजदीक है। फीस भी अभी नही दिया गया है।" इस बार भी तुमने हो कहा। यह शहर क्या है माँ ! किस अद्भुत तरीके से एक छुईमुई सी गृहवधू के मुख से आवश्यक बातें कहला लेता है।

इस बार पशुपति ने कारण भी नही जानना चाहा, सिर्फ बोले, "ओ।'

वे जब चले जा रहे थे, उस समय और एक बार सिर झुकाकर तुमने प्रणाम किया। मुझे करने के लिए कहा। मृदु स्वर में बोली, "फिर आइएगा।"

"जरूर आऊँगा। इतना बढिया खाना खिलाया तुमने, नही आऊँगा भला ?" पशुपति बोले 'और कुछ हो न हो, अच्छा खाना, खाने के लालच मे तो आऊगा ही।" चले गए हँसते हँसते। बाबा बैठे ही रहे। उनका सिर हिलना बन्द हो गया था। सिर्फ आँख उठाकर देखा।

और उसी समय माँ, तुम बोल पडी, "अरे !"

मैंने तुम्हारी ओर देखा।

आँचल की गाँठ खोलते हुए तुमने कहा, "उनके दस रुपए से बचे हुए पैसे चार रुपया छह आना तो रह ही गया। लौटाया नहीं गया !'

मैं देखता रहा। कुछ बोला नहीं। तुमने बाबा की ओर देखा। बाबा भी चुप। तुमने जल्दी से कहा "शायद भूल गए हो।" हमलोग कुछ नहीं बोल रहे हैं।

उस दृश्य तुम सिर्फ एकबार बात करती हो। अब तुम हँस रही हो, याने हँसने की कोशिश कर रही हो।—"कोई बात नही फिर तो आएँगे ही।"

"उन्हे याद नही रहा होगा।" बोला था मैं। बात शायद ठीक थी, पर आंशिक ही। तुम्हे बखूबी याद था। बचे हुए पैसे तुम्हारे होशो-हवाश मे साडी के छोर से बँधे थे। यह मैं नही कह पाया। बेटा होकर मा से भला ऐसी बातें कही जा सकती हैं।

बाबा सिर्फ ताकते रहे। देखते रहे, लगातार चार दिन कि पाँच दिन तक ठीक याद नहीं, पशुपति याने ताऊजी आ रहे हैं, जा रहे हैं। किसी दिन खुद ही सामान ले आ रहे हैं, तो किसी दिन आते ही नोट बढ़ा दे रहे हैं। कितने किस्म के पकवान, उसकी महक, आह! खिडकी के बाहर से झाकता हुआ वह भिखारी दैत्य। थाली के ऊपर औंधा होकर सब कुछ चाट-चाट कर खा रहा है!

बाबा के साथ भी ताऊ जी की ढेर सारी बातें होती। पहले की बातें, बाद में क्या होगा। वे सब बाते! सिर्फ एक दिन देखा, ताऊ जी हाथ मे एक बहुत बडी हिल्सा मछली लेकर घुस रहे हैं, और बाबा सिर्फ तिरछी नजर से देखकर चुपचाप बाहर निकल जा रहे हैं।

खाना पकता रहा। ताऊ जी कागज पढते रहे। शुरू मे कुछ भी अटपटा-सा नही लगा था। कितने तरह के काम से हो तो आदमी, 'अभी आता हूँ', कहकर निकल जाता है। शायद बाबा नीचे गुसलखाने मे गए हो, पर खाना बन जाने के बाद तुमने मुझसे कहा, "कहाँ गए वो? देख तो! और उसी समय ताऊजी अचानक मानों चौंकते हुए बोले, "वास्तव मे, प्रणव गया कहाँ?'

मुझे पता था कहाँ।

*　　　　*　　　　*

गंगा के पानी मे मन्थर गति से एक के बाद एक फूल बहते जा रहे थे। बाबा झुककर दो-एक फूल उठाकर सूंघ रहे हैं। मेरे पाँव की आहट पाते ही समझ गए कि मैं हूँ। "पशुपति रोज-रोज क्यो आता है?"

मैं तब तक उनका चेहरा नही देख पाया था। जब मुह घुमाया देखा। वह चेहरा डरा हुआ। हाथ का गीला फूल काँप रहा है। दबे हुए पर द्रुत स्वर मे बाबा ने स्वय ही कहा, "मुझे मालूम है क्यों।" सिर झुका कर जोड दिया, 'वे लोग मुझे अन्दमान ले जाना चाहते हैं। ले जाने के लिए ही पशुपति आया है।"

मैंने कहा, ' नही तो! सिर्फ थोडे दिन पहले ही तो वे लोग अन्दमान से लौटे हैं।"

बाबा ने विह्वल भाव से सिर हिलाते हुए कहा, "मुझे पता है।"

मैं जोर देकर बोला, "आप गलत समझ रहे हैं। आपको वे लोग सहयोगी के रूप मे पाना चाहते हैं। आपको भी वे लोग आन्दोलन में उतारना चाहते हैं।"

था उनके जैसा नही हूँ ? ठीक बात है, बिल्कुल ठीक ! मैं गुस्से में अन्दर ही अन्दर उबलने लगा था। कनखी से बाबा की ओर देखकर मन ही मन मे बोल रहा था, "तुम्हारे जैसा बिल्कुल नही हूँ मैं। क्यो होने जाऊँगा ? अगर कभी सचमुच ही लेखक बना तो मैं अपने समय के साथ चलने वाला लेखक होऊँगा। एकदम झकाझक माडर्न ! कुछ हो सका क्या तुम्हारे उनका ! वही, नाटक-वाटक का ? कुछ नही !"

और बाबा सिर्फ सिर हिलाए जा रहे थे। अस्पष्ट अर्थहीन भाव से।

पशुपति उतना सब देख नही रहे थे। बोले, "क्या पढते हो ? दो एक किताबे ले आओ तो। आजकल के कोर्स मे क्या है, सब मालूम भी तो नही है।"

"सारी किताबें तो उसके पास नहीं हैं," जल्दी से तुम बोल पडी, "खरीद नही पाया है।"

"क्यो नही खरीद पाया ?" पशुपति ने एक बार ही प्रश्न किया। उन्हें दोबारा पूछना नही पडा, क्योकि इस बार मैं चेहरे की वह सरस हँसी मिटा, छल-छलाती आँखो से देखता रहा न !

(माँ ! पहले से ही किसी ने तय कर दिया था, अथवा हम दोनो ने ही मौन भाषा मे तय कर लिया था कि बात-वात तुम करती जाओगी, और मैं कभी स्मित, कभी दुखित चेहरे पर इस तरह के हावभाव लाता रहूँगा, बदलता रहूँगा !)

मैं बडे करुण भाव से देखता रहा न ! इसलिए पशुपति ने आगे कुछ नही पूछा। पुस्तकें न खरीद पाने का कारण समझ लिया। थोडी देर बाद बोले, "परीक्षा कब है ?"

"बिल्कुल नजदीक है। फीस भी अभी नही दिया गया है।" इस बार भी तुमने ही कहा। यह शहर क्या है माँ ! किस अद्भुत तरीके स एक छुईमुई सी गृहवधू के मुख से आवश्यक बातें कहला लेता है !

इस बार पशुपति ने कारण भी नही जानना चाहा सिर्फ बोले, "ओ।"

वे जब चले जा रहे थे, उस समय और एक बार सिर झुकाकर तुमने प्रणाम किया। मुझे करने के लिए कहा। मृदु स्वर म बोली, "फिर आइएगा।"

"जरूर आऊँगा। इतना बढिया खाना खिलाया तुमने, नही आऊँगा भला ?" पशुपति बोले 'और कुछ हो न हो, अच्छा खाना, खाने के लालच मे तो आऊगा ही।" चले गए हँसते-हँसते। बाबा बैठे ही रहे। उनका सिर हिलना बन्द हो गया था। सिर्फ आख उठाकर देखा।

और उसी समय माँ, तुम बोल पडी, "अरे !"

मैंने तुम्हारी ओर देखा।

आँचल की गाँठ खोलते हुए तुमने कहा, "उनके दस रुपए से बचे हुए पैसे चार रुपया छह आना तो रह ही गया। लौटाया नहीं गया !"

मैं देखता रहा। कुछ बोला नहीं। तुमन बाबा की चुप। तुमने जल्दी से कहा 'शायद भूल गए हो।" हमलोग

उस दृश्य तुम सिर्फ एकवार बात करती हो। अब तुम हँस रही हो, याने हँसने की कोशिश कर रही हो।—"कोई बात नहीं फिर तो आएँगे ही।"

"उन्हे याद नही रहा होगा।" बोला था मैं। बात शायद ठीक थी, पर आशिक ही। तुम्हे बखूबी याद था। बचे हुए पैसे तुम्हारे होशो-हवाश म साडी के छोर से बँधे थे। यह मैं नही कह पाया। बेटा होकर माँ से भला ऐसी बातें कही जा सकती हैं !

बाबा सिर्फ ताकते रहे। देखते रहे, लगातार चार दिन कि पाँच दिन तक ठीक याद नहीं, पशुपति याने ताऊजी आ रहे हैं, जा रहे हैं। किसी दिन खुद ही सामान ले आ रहे हैं, तो किसी दिन आते ही नोट बढ़ा दे रहे हैं। कितने किस्म के पकवान, उसकी महक, आह ! खिडकी के बाहर से झाँकता हुआ वह भिखारी दैत्य। थाली के ऊपर औंधा होकर सब कुछ चाट-चाट कर खा रहा है !

बाबा के साथ भी ताऊ जी की ढेर सारी बाते होती। पहले की बातें, बाद मे क्या होगा। वे सब बातें ! सिर्फ एक दिन देखा, ताऊ जी हाथ मे एक बहुत बडी हिल्सा मछली लेकर घुस रहे हैं, और बाबा सिफ तिरछी नजर से देखकर चुपचाप बाहर निकल जा रहे हैं !

खाना पकता रहा। ताऊ जी कागज पढते रह। शुरू मे कुछ भी अटपटा-सा नही लगा था। कितने तरह के काम से ही तो आदमी, 'अभी आता हूँ', कहकर निकल जाता है। शायद बाबा नीचे गुसलखाने मे गए हों, पर खाना बन जाने के बाद तुमने मुझसे कहा, 'कहाँ गए वो ? देख तो ! और उसी समय ताऊजी अचानक मानो चौंकते हुए बोले, "वास्तव मे, प्रणव गया कहाँ ?'

मुझे पता था कहा !

*　　　*　　　*

गगा के पानी मे म थर गति से एक के बाद एक फूल बहते जा रहे थे। बाबा झुककर दो-एक फूल उठाकर सूघ रहे हैं। मेरे पाँव की आहट पाते ही समझ गए कि ... "पशुपति रोज-रोज क्यो आता है ?"

... तक उनका चेहरा नही देख पाया था। जब मुह घुमाया देखा। वह ... हाथ का गोला फूल काँप रहा है। दबे हुए पर द्रुत स्वर में बाबा ... है क्यो।" सिर झुका कर जोड दिया, 'वे लोग मुझे ... जाने के लिए ही पशुपति आया है।"

... थोडे दिन पहले ही तो वे लोग अन्दमान से

... लाते हुए कहा, "मुझे पता है।"

समझ रहे हैं। आपको वे लोग सहयोगी के आन्दोलन में उतारना चाहते हैं।"

या उनके जैसा नही हूँ ? ठीक बात है, बिल्कुल ठीक ! मैं गुस्से में अन्दर ही अन्दर उबलने लगा था। कनखी से बाबा की ओर देखकर मन ही मन मे बोल रहा था, "तुम्हारे जैसा बिल्कुल नही हूँ मैं। क्यो होने जाऊँगा ? अगर कभी सचमुच ही लेखक बना तो मैं अपने समय के साथ चलने वाला लेखक होऊँगा। एकदम झकाझक मार्डन ! कुछ हो सका क्या तुम्हारे उनका ! वही, नाटक-वाटक का ? कुछ नही !"

और बाबा सिर्फ सिर हिलाए जा रहे थे। अस्पष्ट अर्थहीन भाव से।

पशुपति उतना सब देख नही रहे थे। बोले, "क्या पढते हो ? दो एक किताबे ले आओ तो। आजकल के कोर्स मे क्या है, सब मालूम भी तो नही है।"

"सारी किताबें तो उसके पास नही हैं," जल्दी से तुम बोल पडी, "खरीद नही पाया है।"

"क्यो नही खरीद पाया ?" पशुपति ने एक बार ही प्रश्न किया। उन्हें दोबारा पूछना नही पडा, क्योकि इस बार मैं चेहरे की वह सरल हँसी मिटा, छल-छलाती आँखो से देखता रहा न !

(माँ ! पहले से ही किसी ने तय कर दिया था, अथवा हम दोनो ने ही मौन भाषा मे तय कर लिया था कि बात-बात तुम करती जाओगी, और मैं कभी स्मित, कभी दुखित चेहरे पर इस तरह के हावभाव लाता रहूँगा, बदलता रहूँगा !)

मैं बडे करुण भाव से देखता रहा न ! इसलिए पशुपति न आगे कुछ नही पूछा। पुस्तकें न खरीद पाने का कारण समझ लिया। थोडी देर बाद बोले, "परीक्षा कब है ?"

"बिल्कुल नजदीक है। फीस भी अभी नही दिया गया है।" इस बार भी तुमने ही कहा। यह शहर क्या है माँ ! किस अद्भुत तरीके से एक छुईमुई-सी गृहवधू के मुख से आवश्यक बाते कहला लेता है !

इस बार पशुपति ने कारण भी नही जानना चाहा, सिर्फ बोले, "ओ।"

वे जब चले जा रहे थे, उस समय और एक बार सिर झुकाकर तुमने प्रणाम किया। मुझे करने के लिए कहा। मृदु स्वर में बोली, "फिर आइएगा।"

"जरूर आऊगा। इतना बढिया खाना खिलाया तुमने, नही आऊँगा भला ?" पशुपति बोले 'और कुछ हो न हो, अच्छा खाना, खाने के लालच मे तो आऊगा ही।" चले गए हसते हसते। बाबा बैठे ही रहे। उनका सिर हिलना बन्द हो गया था। सिर्फ आख उठाकर देखा।

और उसी समय माँ, तुम बोल पडी, "अरे !"

मैंने तुम्हारी ओर देखा।

आँचल की गाँठ खोलते हुए तुमने कहा, "उनके दस रुपए से बचे हुए पैसे चार रुपया छह आना तो रह ही गया। लौटाया नही गया !'

मैं देखता रहा। कुछ बोला नही। तुमने बाबा की ओर देखा। बाबा भी चुप। तुमने जल्दी से कहा "शायद भूल गए हो।" हमलोग कुछ नहीं बोल रहे हैं।

जा रही हो। और चूंकि बाबा ने शुरू से अन्त तक चुप्पी साध ली थी, शायद इसलिए तुम्हे भी जिद चढ गई थी। प्रत्येक शब्द पर बल देते हुए कह रही थी, "तुम्हारी नाटक मण्डली के और लोगो से कुछ भी कहो, बहुत बेहतर है। उन लोगों ने ज्यो ही देखा तुम गिर गए हो, त्यो ही तुम्हें छुडा दिया। छुडा ही दिया है न ?"

चूंकि तुम समझ चुकी थी कि बाबा के मुह से कुछ भी नही फूटेगा, सो शह पाने के लिए तुमने मेरी ओर देखा था। और मैं बाध्य अनुगत मेरे सिवा तुम्हारा और है कौन ? तुरत दीवार की छिपकली के स्वर मे स्वर मिलाते हुए बोला था, ठीक-ठीक।

(ये पशुपति लोग, मेरे दिल ने भी कहा था, मानो कहानी के गोपाल भैय्या जैसे हैं। मानो अकाल के महीने मे एक खेप बारिश हो। अचानक भिगा कर चले जाते हैं, जिला जाते हैं। मारते भी हैं क्या ?)

* * *

दुनिया के सामने अनावृत हो जाने की वह बात तो बाद मे। एक दूसरे के सामने भी तो हम लोग नगे हो गए थे। वही भयकर था। आज भी सोचते हुए शर्म आती है। इतना झूठ उस समय बोला हूँ, बेझिझक अनगल। बाडी वाले से लेकर मोदी, मोदी से लेकर सारे तकादे वालो से, सबसे। इकट्ठा करने पर झूठ का पहाड खडा हो जाता। कभी तुमने कहा, कभी मैंने। पृथ्वी के कहीं तो छह महीने की रात है न ? इस परिवार मे भी उसी तरह का एक अमावस उतर आया था।

बल्कि बाबा ही बच गए थे। शारीरिक कष्ट के सिवा दूसरे सब तरह के कष्ट से विधाता ने उन्हें मुक्त कर दिया था। शायद आशा-वासना-मोह इन सबसे मुक्ति। यह कृपा सबको नहीं मिलती है।

पर नही, लगता है जल्दी लिखने के फेर मे थोडा गलत लिख गया हूँ। यह सही है कि बाबा का शरीर निर्जीव होता जा रहा था, पर मन ? कभी ऐसा लगता, बाबा की अनुमति इच्छा आदि समेत, अस्तित्व के किसी निर्लिप्त स्तर पर पहुँच गये हैं। कभी ऐसा लगता, उनके शरीर म जितनी य त्रणा है, मन मे उससे कम नही। सजीव, उत्सुक दोनो आँखे सिर्फ चारो ओर कुछ टटोलती फिरती। पर क्या ढूढती फिरती थी हम क्या समझ पाते थे ?

"नही, नहीं," झुक कर पानी छूकर बाबा ने सहमते हुए हाथ हटा लिया। फिर भर्राए हुए स्वर मे कहा, "मुझे ठड लगेगी न ! मैं नही उतरू गा।"

धीरे-धीरे उन्हें उठाकर मैं अपने साथ ले आया। रास्ते में बडबडाते हुए बाबा ने कहा था, "उनके पास अभी बहुत पैसा है न, इसलिए दानो हाथो से उडा रहे हैं। यह सब पुराने जमाने के स्वदेशी डकैती का रुपया है।"

*   *   *

पशुपति हम लागो को देखते ही उठकर खडे हो गए। "अच्छा ही हुआ, भेंट हो गयी। मैं कुछ दिन आ नही पाऊँगा प्रणव।" रहस्यमय हँसी-हँसते हुए बोले, "आसाम के जगल मे जा रहा हूँ।"

बोलते-बोलते वे पाँव बढा चुके थे। घूमकर देखत हुए बोले, "सारा इन्तजाम ठीक ठाक करके लौटूगा सो पाच-छह महीने तो लग ही जाएँगे। उस समय तक आशा है तुम बिल्कुल चगे हो जाओगे प्रणव ! उस समय तैयार रहना।"

बाबा के होंठ काँप रहे थे। क्या कहा समझ मे नही आया। मोटी-मोटी उँगलियो से मेरी कमीज पकडे हुए थे। आश्रय चाह रहे थे ? जकड कर पकडे रहना चाह रह थे ?

पर वह लिफाफा, बिस्तर के ऊपर पडा हुआ था जो ! नोट भरे लिफाके को ताऊ जी क्या फिर गलती से ही छोडे जा रहे थे ? उन्हें क्या याद नहीं था ? जल्दी से हाथ बढा कर लिफाफा उन्हें थमाने गया। उन्होने एक स्वर्गीय हँसी चेहरे पर फैलाते हुए कहा, "रहने दो।"

"रहने दो," कहना ही काल बना। हम लोगो के लिए एक भयकर घटना थी। उस भिखारी ने कमरे में उठग बैठते हुए उस "रहने दो' को अच्छी तरह से सुना। गद्गद मुस्कान के साथ उसका चेहरा खिल गया। उसके मुह से लार टपकने लगी थी।

इतनी देर बाद मा तुम आगे बढ आईं। थोडा तिरस्कार भरे स्वर मे मुझे देखते आगे बढ़ आईं। थोडा तिरस्कार भरे स्वर मे मुझे देखते हुए कहा था, "लिफाफा वापस क्यो करने गया था ?"

' सोचा, शायद गलती से '

"गलती से नही। जानबूझकर। जानबूझकर ही छोडे जा रहे थे। मुझे मालूम था।"

"पता था ?" मेरे आश्चर्य की कोई सीमा नहीं। "कैसे जाना ?"

"मुझे बताया था न ! कहा था, "वह अगर कुछ विचार न करो तो इसे रख लो। तुम्हारा लडका इतना होशियार है। पैसे के अभाव मे उसकी पढ़ाई मे नुकसान हो यह मैं नही चाहूँगा।"

"दुनिया मे अभी भी ऐसे लोग हैं !" अभिभूत, उच्छ्वसित-सी तुम बोलती ही

जा रही हो। और चूकि बाबा ने शुरू से अन्त तक चुप्पी साध ली थी, शायद इसलिए तुम्हे भी जिद चढ गई थी। प्रत्येक शब्द पर बल देते हुए कह रही थी, "तुम्हारी नाटक मण्डली के और लोगो से कुछ भी कहो, बहुत बेहतर है। उन लोगों ने ज्यो ही देखा तुम गिर गए हो, त्यो ही तुम्हें छुडा दिया। छुडा ही दिया है न ?"

चूकि तुम समझ चुकी थी कि बाबा के मुह से कुछ भी नही फूटेगा, सो शह पाने के लिए तुमने मेरी ओर देखा था। और मैं बाध्य अनुगत मेरे सिवा तुम्हारा और है कौन ? तुरत दीवार की छिपकली के स्वर मे स्वर मिलाते हुए बोला था, ठीक-ठीक।

(ये पशुपति लोग, मेरे दिल ने भी कहा था, मानो कहानी के गोपाल भैय्या जैसे हैं। मानो अकाल के महीने मे एक खेप बारिश हो। अचानक भिगो कर चले जाते हैं, जिला जाते हैं। मारते भी हैं क्या ?)

*   *   *

दुनिया के सामने अनावृत हो जाने की वह बात तो बाद मे। एक दूसरे के सामने भी तो हम लोग नगे हो गए थे। वही भयकर था। आज भी सोचते हुए शर्म आती है। इतना झूठ उस समय बोला हूँ, बेझिझक अनगल। बाडी वाले से लेकर मोदी, मोदी से लेकर सारे तकादे वालो से, सबसे ! इकट्ठा करने पर झूठ का पहाड खडा हो जाता। कभी तुमने कहा, कभी मैंने। पृथ्वी के कहीं तो छह महीने की रात है न ? इस परिवार मे भी उसी तरह का एक अमावस उतर आया था।

बल्कि बाबा ही बच गए थे। शारीरिक कष्ट के सिवा दूसरे सब तरह के कष्ट से विधाता ने उन्हे मुक्त कर दिया था। शायद आशा-वासना-मोह इन सबसे मुक्ति ! यह कृपा सबको नही मिलती है।

पर नहीं, लगता है जल्दी लिखने के फेर म थोडा गलत लिख गया हूँ। यह सही है कि बाबा का शरीर निर्जीव होता जा रहा था, पर मन ? कभी ऐसा लगता, बाबा को अनुमति इच्छा आदि समेत, अस्तित्व के किसी निर्लिप्त स्तर पर पहुँच गये हैं। कभी ऐसा लगता, उनके शरीर म जितनी य त्रणा है, मन मे उससे कम नही। सजीव, उत्सुक दोनो आँखे सिर्फ चारो ओर कुछ टटोलती फिरती। पर क्या ढूढ़ती फिरती थी हम क्या समझ पाते थे ?

वे सब दिन ! तुम मुझे समझने देती, मैं तुम्हें समझने देता। आसपास रखी हुई दो किताब—खुले पन्ने। हवा मे दोनो के ही पन्ने उड रहे हैं। या फिर दो जने एक ही घाट पर डूब मरने उतरे हो। उस समय दोनो के बीच कितनी लाज शरम रह जाती है ? उपमा दर उपमा ! हथेलियाँ अगारे की तरह जलने लगी हैं। रहने दो और उपमा नही दूँगा।

अमानिशा की बात थोडी देर पहले लिखा था, पर इतना भर कहना भी आशिक होगा। अधकार जहाँ सम्पूर्ण हो, वहाँ तो वह शालीन और पवित्र है। पर इस अधेरी आकाश मे भी लुब्धक नक्षत्र जलता रहता। पशुपति वैसा ही थोडा सा लालच दिखा कर चले गए। वही है धक्-धक् लुब्धक ! रात को जिस समय सूखी-रोटी और रुचे नही, चबाते हुए दाँत तक हिल जाएँ, उस समय बासमती चावल की सुगध न जाने कहाँ से आकर नथुने से टकराती। उस सुगध का नाम स्मृति है, सपना भी है।

व्यथित दृष्टि से हम एक दूसरे की ओर देखते रहते। कोई वार्तालाप नहो, आँख के इशारे से सकेत बदलते। कोई बातचीत नही, सिर्फ एक उम्मीद कौंध जाती। उस आशा का नाम क्या है ? एक सपना खिलता है। उस सपने के आकार को क्या हम दोनो हम दोनो ही देख पाते। पशुपति या फिर उसके जैसा ही कोई और आया है। नोट बढा दिया है। बडल के बडल नोट। वे सारे नोट बह रहे हैं। वे सारे नोट बिस्तर पर बिखरे पडे हैं। उनमे से एकाध नोट उठा कर बाजार जा रहा हूँ। थैला, भर कर मछली, गोश्त लेकर आ रहा हूँ। अविश्वसनीय घटनाएँ असम्भव एक महोत्सव। हम लोग गोश्त खा रहे थे। भरे हुए ढेर सारे कटोरे, मानो जलतरग के हो, जिन्हें छूते ही रग और महक से टुनटुना उठते इसी तरह के ढेर सारे सपने देखा करता।

माँ, यही तक सब कुछ रोमाटिक है, काव्य है भले ही भोजन को लेकर ही क्यो न हो, फिर भी काव्य ही है, उपवासी का हाहाकार करता हुआ सगीत। न जाने कितने दिनो तक भरपेट खाने को नही मिला है ! स्वप्न भरे उन आँखो से

मानता हूँ आँसू टपक पड़ते हैं, पर वही सपना लार बनकर थाली मे क्यो टपकने लगता ?

पर कोई भी नही आया। ईश्वर का शायद यही एक रहस्य है। निर्धारित एक विधान। एक ही तमाशे को वह दो बार नही दिखाता है। फिर कोई नही आया, बल्कि हमी लोगो को जाना पडा। उससे पहले सन्दूक मे रखे हुए सिंदूर पुते रुपए—असली चाँदी के सिक्के साथ चले गए।

तुम सरल थी। तुम बहुत ही बुद्धू भी थी। मा! भात परोसते समय उतनी झुक क्यो जाती थी ? वरना शायद मुझे और देर से ही पता चलता कि तुम्हारे दोनो हाथ ही खाली हो गए थे !

दबे स्वर मे बोला था, माँ, तुम्हारी चूडियाँ !"

एक सेकेंड का शायद समय लेकर तुमने कहा था, "खोल कर रख दिया है। क्या होगा चूडो पहन कर ! मैं मैं तो बूढी हूँ !" थोडी फीकी-सी हँसी, हँसी थी।

मैं सीधा सादा, बुद्धू, तुरन्त खाना खाने लगा था। मुझे खाते देख तुमने थोडा मुझे छेडते हुए कहा था, "शैतान कही का ! हर तरफ नजर मारता है। वे उन सब चूडियों के डिजायन पुराने हो गए थे। आज कल कौन वैसा पहनता है। पडोस की बहू को दी हूँ, नई डिजायन के बनवाने के लिए। सुनार उसका जान-पहचान वाला है। तुडवा कर नया बनवाऊँगी। तेरी जब दुल्हन आएगी, एकदम गुडिया सो। मैं ही पसन्द करके लाऊँगी। उस समय उसे पहनाऊँगी।"

पर झूठ, सब झूठ था। बहुत से झूठ मीठे होते हैं, और कभी-कभी सच से भी ज्यादा जरूरी भी। पर झूठ के साथ एक दिक्कत है कि बहुत जल्दी सिल जाता है, घुल जाता है, कई सुन्दर चीजो की तरह, जैसे इन्द्रधनुष, फूल वगैरह-वगैरह। झूठ की उम्र लम्बी नही होती। उम्र अगर लम्बी होती तो तुम बीमार क्यो पडती और पडोस की बहू मुझसे कहने ही क्यो जाती कि तुम्हारी माँ न अब तक चूडियाँ छुडवायी नहीं, पर जिसके पास है, वह बार-बार कह रहा है, छुडाने के लिए, नहीं तो बाद मे बेच देगा। माँ से कह देना।

तुमसे कहा मैंने। फीके पडे चेहरे-चेहरे से सुना तुमने। पर कहा कुछ नही।

चूडियाँ चली गयी। उसके बाद वह गिन्नी, जिसे मुह दिखाई मे तुम्हारे किसी पैसे वाले ताया ससुर ने दिया था, गिन्नी के समय किसी झूठ का आवरण नही रहा। बीमारी के कारण तुम काफी कमजोर हो गयी थीं, इसीलिए कहा था, "वह बहू मुझे ठग रही है। चूडियाँ बिकी, पर एक धेला ऊपर से नही दिया। तू खुद जाकर बच सकेगा ?"

"क्या कहती हो भला बेच नही सकूगा ?"

तुम्हारे हाथ कांप रहे थे, मेरे हाथ मे गिन्नी थमाते समय।

लालची की तरह, बेवकूफ की तरह, गोल चकती को घुमा फिरा कर देख रहा था मैं। मेरी भी आँखें चमकने लगी थी, "कितने का होगा ?" पूछा था मैंने, घुटे, ललचाए उत्तेजित स्वर मे।

'कितने का होगा ?" तुम्हारा चेहरा सफेद पड गया। उस समय कहाँ मालूम था कि दुनिया का सबसे कड़वा सवाल मैं तुमसे पूछ रहा हूँ ? इसलिए तुम्हारा चेहरा सूख गया। मुह घुमा कर कहा था, "क्या पता, मेरे पास किसी चीज की कोई कीमत नही रह गयी है।"

और दाम ? उसने तो पन्द्रह-बीस रुपए बताए थे। रत्ती के हिसाब से या बटखरे के हिसाब से ?

यह देखो माँ, मैं लौट आया हूँ। देखो माँ, मेरी जेब मे रुपए खनक रहे हैं। बहुत से रुपए। पर उस तरह देखे क्यो जा रही हो तुम ? तुम्हारी आखें चमकने लगी हैं। तुम क्या झपट पडोगी ! कहोगी, "दे, दे दे" और फिर छीन लोगी ?

"कितने हैं ?"

'उन्नीस।"

उन्नीस ! मैंने क्या कहा उन्नीस ? पर मैंने तो कहना चाहा था बीस ? विश्वास करो माँ, विश्वास करो। बीस ही कहना चाहा था, पर मुह से फिसल गया उन्नीस।)

"उन्नीस ?"

"इस तरह पूछ क्यो रही हो ?" मेरी आवाज काँप रही है।

"उन्नीस टूटा हुआ हिसाब है न ! इसलिए बीस नही पच्चीस नही, उन्नीस ?"

"तुमने आज का अखबार नही देखा है। सोने का बाजार-भाव नही पढा है ? पढ़ने पर आवाज और ज्यादा काँपने लगी है। मैं तुतलाने लगा हू। डर कर तुम्हारे हाथ मे रुपए जल्दी से थमा देना चाह रहा हूँ, 'यह लो, रखो।"

हाथ बढा कर भी तुमने उसे पीछे हटा लिया। तुम्हारी आखो मे भी भय है, स्वर तुम्हारा भी आर्त है। "रहने दे। तेरे पास ही रहने दे।

डरते हुए तुम्हारी ओर देखता हूँ, कहा, अविश्वास की कोई रेखा वहाँ कहाँ है ? मैं मैं शायद अब समझ सका हूँ।

अगर मुझे पहले से पता होता, तो शायद एक रुपया पहले से हटा कर नही रखता। वह गिन्नी दादा की थी, इसलिए हाथ लगाने मे भी तुम्हे इतना सकोच था ! तुमने अपनी हथेली को तो बचा लिया पर मेरे शरीर मे तो फफोले पड गए ! तुमने मुझे यह कौन-सी सजा दी माँ ? मृत के प्रति इतनी ममता ! ठीक है, जितनी मरजी, अपने मन मे रखो, पर इसका मतलब यह तो नही कि जीवित के प्रति इतनी निष्ठुर हो जाओगी ? इतना पक्षपात क्यो ?

ठीक है, शोध लेना मुझे भी आता है।

यह देखो न! दौड रहा हूँ। इस समय भी दौड रहा हूँ। दौडते हुए एक मनिहारी की दूकान के सामने खडा हो गया हूँ, और हाँफते हुए बोल रहा हूँ, "तरल आलता एक शीशी।" शीशी हाथ में आते ही दौड पडता हूँ। एक रुपया फेंक कर दौड पडता हूँ। पीछे से दूकानदार आवाज लगाता रह जाता है, "अरे ठहरो, ठहरो! इसकी कीमत तो सिर्फ छह आना है।" पर कौन किसकी बात सुनता है।

घर लौटकर, "माँ, तुम्हारे दोनों पैर देखूं!"

"पैर? इस समय? क्या रे?"

'देखू न! एक बार। सिर्फ एक बार।" कहते हुए शीशी तुम्हारे पाँव के पास ले आता हूँ। -

"कहाँ से ले आए?"

'खरीद कर लाया हूँ।"

"क्यों? इतनी रात को?"

"तुम लगाओगी, इसलिए। लगाओ न माँ इसी समय।"

तुम्हे काफी अवाक होने का मौका भी नही मिला था, "इस वक्त, यहाँ रसोई मे? पगला कही का।" हाथ बढ़ाकर मेरी ठुड्डी पकडते हुए कहा था, "देख नही रहा है, इस समय खाना बना रही हूँ? फिर अब तो वह सब लगाना छोड भी दिया है।"

"लगाना ही होगा।"

मेरी आँखो की ओर देखते ही न जाने क्या पढ लिया। शीशी हाथ मे लेकर कहा, "ठीक है, लगाऊँगी कल सुबह।"

उस दिन रात का वह सपना। चाँदी का एक रुपया गलकर पिघल रहा है। एकदम लाल। तुम्हारे पाँव मे मैं उडेले जा रहा हूँ।

फिर से तुम मेरी हो गयी। यह एक मजेदार बात है न? एक जन चला गया है, पर बीच-बीच मे लौट आता है। और जो रह गया है, वह भी बीच-बीच मे चला जा रहा है। फिर भी लौट आता है। लौट आना ही पड रहा है। पाप धुल जा रहा है, अनुताप से। उसका समर्पण अन्तिम प्रणाम मे है।

या जाने-आने मे कोई विरोध नही है। जो चला गया और जा रहे हैं, उनके बीच कोई ईर्ष्या और द्वेष नही है।

"हालांकि," आँख बन्द करके मैं मृत्यु से कह रहा हूँ, "और अधिक आयु पर मेरा अधिकार नहीं है, क्योंकि अब मेरा जीवित रहना सिर्फ दिन के समय एक सफेद चादर फैलाना और हर रात को उसे काले कम्बल से ढक देना है। सुबह उठा लेना, रात को ढक देना इसी तरह क्रमागत एक लीक पर। मुझे मालूम है, इसलिए शान्त मन से नए दिगन्त के समय निकल जाने में कोई आपत्ति नहीं थी। विशेषतः जब सभी कार्य-अकार्य किए जा चुके हैं, पर थोड़ा-सा काम अभी बाकी जो है। उत्सर्ग-पत्र लिखना है। एक या कई। इहकाल में किसके, किसके रहा, किन्हें पाया, किन्हें और क्या ? यह सब कुछ मृत्यु-दंडित व्यक्ति की अन्तिम इच्छा है।

उस जाड़े में थोड़ा-सा समय माँग लिया था। उसके बाद अनर्गल लेखन से न जाने कितने पन्ने पर पन्ने भरते चले गए थे। अभी भी किनारे के आसपास भी नहीं पहुँच रहा हूँ। जाड़े में ओस गिर रहे थे, इसलिए शुरू के पन्ने गीले-गीले से हो जाते। उसके बाद चैत्र आया, रूखा रंग, सूखा धूल, लेखन को निष्ठुर बना दे रहा था। पर माँ फिर आषाढ़ आया है, रह-रहकर बूंदा-बाँदी, टप-टप् आँसू की तरह झर रहे हैं। पता नहीं सारे अक्षर उस पानी में घुल जाएँगे या नहीं।

फिर भी लिखता जाऊँगा, लिखना ही होगा। अभी तो आश्विन को आना है। मेरे सुनहरे-हरे दिन। हरसिंगार की सुगन्ध से खिलखिलाया हुआ आश्विन। वह आकर इस रचना को नीले-मुलायम आकाश के रंग में डुबो-डुबो देगा। एक एक ऋतु में एक-एक तरह का रंग लेगा, यह उन्मोचन ! यह काल-परिक्रमा यह उत्सर्ग। कभी मधुर, कभी सिक्त, कभी तिक्त, कभी विरस होगा—ऋतुओं की छाप को हम लोग बदल नहीं सकते हैं।

खोया हुआ सूत्र कहाँ से पकड़ूँ ? सपनों में जिस समय रक्त और आतंक में मिल गया, लौट जाऊँ वहीं पर ? स्वप्न वहीं एक तो नहीं था, और भी अनेक न समझ में आने वाले दृश्य मेरे तब के नींद भरे आकाश में छा गए थे।

कलकत्ता कुछ देगा नहीं। अभी भी किसी तरह सिर्फ पाँव टिकाए रहा जा सकता है। पर यह शहर हम लोगों को सिर उठाने नहीं देगा। धीरे-धीरे उसका आकार छोटा होता जा रहा है। सब कुछ जितना घुटन भरा होने लगा था, मैं उतना ही कहीं चले जाने की आदत डालने लगा। स्वयं के ही बनाए हुए एक विकल्प दुनिया में।

या फिर वह दुनिया बनी जिसमें छत थी। कमरे में बहुत गरमी लगने पर वहाँ चला जाता, वरना नहीं। या फिर पार्क। घर पर बेचैन हो उठा तो दौड़ पड़ा खुली हवा में। नरम घास पर लेट गया। वरना नहीं।

अजब देश में अकेले अमला ही नहीं गयी है, सब जाते हैं। सिर्फ एक जन की बात नहीं लिखी हुई है। जब तब निकल पड़ने का नशा क्या उस समय से ही मुझ पर हावी हो गया था क्या। दूर-दूर जगहों पर घूमते रहने का नशा ? पैदल

फिर आहिस्ता-आहिस्ता बोली, "कितना अच्छा लिखा है रे तू ! इस तरह, इस तरह कोई और भी लिखता है न ?"

मैं बुद्धू, उस दिन विश्वास कर गया। स्नेह ममता से लिपटी हुई बातों को निगला हूँ। विनयपूर्वक या फिर दयावश कहा था, "क्यों बाबा ?"

"वे तो दूसरों को लेकर लिखते हैं। वह सब बड़ी दूर की चीज़ लगती है। तुमने किसकी बात लिखी है, मालूम नहीं, पर तुमने जो कुछ लिखा है, अपने ढंग से लिखा है।"

मैं विश्वास कर गया।

तुम्हारे हाथ से कागज खींच लिया। बोला, "किसी मासिक अथवा साप्ताहिक पत्रिका में भेज दूँगा। मेरी कविता छपेगी, देखना।"

देखा था तुमने, पर कितना ! मैं तो उसके बाद साल दर साल उस छपने की कीमत रोज देख रहा हूँ।

*   *   *

माँ, इस समय मार्च का महीना है। अतीत के जल स्रोत की धारा में बहते हुए इस माह में आकर शब्दों को थोड़ा ठीक से सवार लेना चाहता हूँ। इस समय कोहरा नहीं है। हवा में थोड़ी सी तपिश है और मैं जहाँ बैठकर लिख रहा हूँ, वहाँ का बाग, बरांडा सूखे पत्तों से मर्मरित है। फिर भी दिन भर की उमस के बाद शाम सुहानी और शेष रात विशेष रूप से शान्त। ठंड-ठंड सी लगती। बदन में झुरझुरी उठती। उस समय पाँव से चादर खींच बदन ढँप लेता। लिखत-लिखत ही एक उपमा दिमाग में आ गयी। उसे लिख दूँ ? हालाँकि उस समय उपमा का वर्णन किसी गुरुजन के सामने करना उचित नहीं है। लगता है जैसे मार्च महीना कोई युवती है, जिसकी किसी रुक्ष-उजड्ड स्वरूप के साथ हाल ही में शादी हुई है, पर वह युवती अपने स्निग्ध स्वभाव पूर्वप्रणयी को अभी भी भूल नहीं पायी है।

खैर, उस दिन पूरी बात यहाँ लिख पाया था। उस न लिखने पर बात अधूरी ही रह जाएगी। दबे पाँव आकर तुम मेरे पीछे खड़ी हो गयी थी। मैं हँसा था, "फिर से पढ़ कर सुनाना पड़ेगा क्या ? पर नया तो कुछ लिखा नहीं है !"

बहुत कुण्ठित होकर कहा था, 'नहीं नहीं, वह बात नहीं है !"

"तो फिर ?"

साड़ी के छोर को उमेठते हुए शायद तुम शब्दों को ढूंढ रही थी। "तू तू बहुत बढ़िया लिखता है।"

(वह तो लिखता ही हूँ। उससे क्या। क्या कहना चाहती हो कह डालो)।

"सवार कर कुछ चिट्ठियाँ लिख सकोगे ?"

"चिट्ठी ? किसे ?"

"बताती हूँ। हमारे कुछ रिश्तेदार हैं ? बहुत दिनों से किसी की खोज-खबर नहीं ली गयी। न हम लोगों की खबर उन्हें मिलती है।'

घूमता रहता था। कभी रेस कोर्स, डक या फिर किसी-किसी दिन रेल लाइन की सीध पर बहुत दूर तक निकल जाता।

यह सब पागलपन था। पर ज्यादा दूर तक जाना नही हो पाता था, लौटना ही पडता था।

माँ, विकल्प जगत की बात कहते-कहते यह देखो कहाँ आ पहुँचा हूँ। विकल्प, याने कल्पना। याने मनगढ़ंत यही न ? उस समय मैं क्या किया करता था ?

बता रहा हूँ। मान लो एक पुलिया है। किसी घाट पर आकर जब देखा, नहर के पूरे शरीर मे ज्वार का तेज बुखार चढ़ा हुआ है, आँख बन्द करके तुरंत एक पुलिया बनाकर उस पर से गुजर जाता था। कहाँ ? मालूम नही।

वैसे विकल्प दुनिया एक ओर बन रही थी—मेरी रचना। उस समय सिर्फ कविता लिखा करता था, उसे अगर कविता मानी जाए तो ! याने कुछ तुकबंदियाँ।

याद है, एक दिन लिख रहा था, कि अचानक चौंक कर मुह घुमाया। तुम्हारे सामने पकडा जाने के कारण झेंपा हुआ-सा मैं। "देख रही थी, क्या लिख रहा है तू। मैं तो दबे पाव आयी थी। तुझे कैसे पता चला कि मैं आयी हूँ ?"

तुम लौट जा रही थी। मैंने आँचल पकड कर खीचा। "कैसे पता चला ?" तपाक स बाल बैठा, "माँ तुम्हारी साँस की खुशबू से।"

पर आज लिखने म कोई हिचक नही, उस दिन झूठ बोला था। कोई आया है, यह तो महसूस कर गया था, पर कल्पना की थी वह कोइ और होगा। जिसे कभी नही देखा था, पर जिसके बारे मे निरन्तर सोचता रहता हूँ। बहुत कोमल, बहुत आकर्षक। कोई आकृति पर दृष्टि नहीं है। उससे मैं कल्पना मे बातें करता रहता हूँ, गाना सुनता हूँ।

कल्पना। सोचा था उसी का आविर्भाव हुआ होगा। मुह उठा कर देखा तुम हो। हताश ही हुआ था। तुम्हे बताया नहीं।

निराशा ढकने के लिए ही तुम्हारा आँचल पकड कर खीचा था। "बैठो न ! क्या लिखा हूँ, सुनोगी ?"

"पढ़।"

पढता गया। सितारे, फूल, पक्षी, ज्योत्स्ना यह सब तो थे ही, पर समस्त शब्द सज्जा और वर्णनाओं के आडम्बर के ऊपर उभर आयी एक तस्वीर। किसी कन्या की, जो दिव्य थी। जिसके एक एक मोहक स्पर्श की अनुभूति मुझे थी।

पूरी कविता सुनने के बाद तुमने कहा था, "समझा मुझे। "फिर कागज अपनी ओर खीच कर पूछा था, ' किसक बारे म लिखा है ?"

मैं कितना बडा झूठा था ! या फिर मेरा दिमाग उस समय दुरुस्त नहीं था, इसलिए क्या कहते क्या कह बैठा ? वह कहा जो हो नही सकता। "तुम भी तो हो सकती हो ? ' हसते-हसते बोल बैठा था। "धत् !" तुमने भी कम स कम एक पल के लिए विश्वास कर लिया ! (झूठ को केवल एक क्षण का आयु मिल गयी !)

फिर आहिस्ता-आहिस्ता वोली, "कितना अच्छा लिखा है रे तू ! इस तरह, इस तरह कोई और भी लिखता है न ?"

मैं बुद्धू, उस दिन विश्वास कर गया। स्नेह ममता से लिपटी हुई बाता को निगला हूँ। विनयपूर्वक या फिर दयावश कहा था, "क्यो वावा ?"

"वे तो दूसरो को लेकर लिखते हैं। वह सब बडी दूर की चीज लगती है। तुमने किसकी बात लिखी है, मालूम नही, पर तुमने जो कुछ लिखा है, अपने ढग से लिखा है।"

मैं विश्वास कर गया।

तुम्हारे हाथ से कागज खीच लिया। बोला, "किसी मासिक अथवा साप्ताहिक पत्रिका मे भेज दूँगा। मेरी कविता छपगी, देखना !"

देखा था तुमने, पर कितना ! मैं ता उसके वाद साल दर साल उस छपन की कीमत रोज देख रहा हूँ।

*　　　　*　　　　*

माँ, इस समय मार्च का महीना है। अतीत के जल स्रोत की धारा मे बहते हुए इस माह मे आकर शब्दो को थोडा ठीक से सवार लेना चाहता हूँ। इस समय कोहरा नही है। हवा मे थोडी सी तपिश है और मैं जहाँ बैठकर लिख रहा हूँ, वहाँ का बाग, वराडा सूखे पत्ता से मर्मरित है। फिर भी दिन भर की उमस के वाद शाम सुहानी और शेष रात विशेष रूप से शान्त। ठड-ठड सी लगती। बदन मे झुरझुरी उठती। उस समय पाँव से चादर खीच बदन ढँप लेता। लिखते-लिखत ही एक उपमा दिमाग मे आ गयी। उसे लिख दू ? हालाँकि उस समय उपमा का वर्णन किसी गुरुजन के सामने करना उचित नही है। लगता है जैसे मार्च महीना कोई युवती है, जिसकी किसी रूक्ष-उजड्ड स्वरूप के साथ हाल हा मे शादी हुई है, पर वह युवती अपने स्निग्ध स्वभाव पूर्वप्रणयी को अभी भी भूल नही पायी है।

खैर, उस दिन पूरी बात कहाँ लिख पाया था। उसे न लिखने पर बात अधूरी ही रह जाएगी। दबे पाव आकर तुम मरे पीछे खडी हो गयी थी। मैं हँसा था, "फिर से पढ कर सुनाना पडेगा क्या ? पर नया तो कुछ लिखा नही है !"

बहुत कुण्ठित होकर कहा था, ' नही नही, वह बात नही है !"

"तो फिर ?"

साडी के छोर को उमेठते हुए शायद तुम शब्दो को ढूढ रही थी। "तू तू बहुत बढ़िया लिखता है।"

(वह तो लिखता ही हूँ। उससे क्या। क्या कहना चाहती हो कह डालो)।

"सवार कर कुछ चिट्ठियाँ लिख सकोगे ?"

"चिट्ठी ? किस ?"

"बताती हूँ। हमारे कुछ रिश्तेदार हैं ? बहुत दिना से किसी की खोज-खबर नही ली गयी। न हम लोगो की खबर उन्हे मिलता है।

"चाहने पर ही मिल सकता है। फिर तुम भी तो लिख सकती हो। चिट्ठी, वह भी इतने सँवार कर लिखने की क्या आवश्यकता है?"

"है।" तुम्हारी आवाज़ और नीचे उतर गयी है। तुम हल्का-हल्का खाँसने लगी हो।

(माँ, तुम्हें भी बहाना ढूँढना पड़ रहा है?)

"मैंने ढूँढ़-ढाँढ़ कर दो चार पता ठिकाना खोज निकाला है। एक तो हमारे मामा-ससुर हैं। तुम्हारे बाबा को उन्होंने ही पाला था। एक मेरी मासी हैं, बचपन में मुझे "

"पता बाद में देना। क्या लिखना है, वही बताओ।"

तुम उस समय भी हल्के-हल्के खाँसे जा रही थीं। "यान लिखोगे, हम लोगों की बातें। उनकी इतनी बड़ी बीमारी है। बताना तो हमारा भी कर्तव्य है? और फिर तुम्हारी बातें। कालेज में पढ़ रहा है। जल्दी ही इम्तहान देने वाला है, यही सब विस्तार में और क्या!"

"विस्तार से लिखने का मतलब?"

"अगर अगर सुना है उन लोगों की अवस्था अच्छी है। परीक्षा की बात सुनकर वे लोग फीस के लिए अगर कुछ भेज दें "

"इसका मतलब भीख माँगूँगा? भीख लूँगा?" सुनते-सुनते मेरे कान गरम हो उठे। चिल्लाकर बोल उठा हूँ, "माँ !"

तुम और नज़दीक आ गयी हो। मुझे गन्ध मिल रही है। भयंकर गन्ध, "हट जाओ, हट जाओ, मैं सह नहीं पा रहा हूँ।"

"नहीं सकोगे?"

"नहीं। फिर फीस के लिए तो पशुपति ताऊ से रुपया मिला है। मालूम नहीं, मुझे कुछ मालूम नहीं। इतना घटिया, इतना नीच काम मैं नहीं कर सकूँगा।"

पहले शायद तुम्हारी आँखें छलछला आयीं, होंठ काँप गए, उसके बाद क्या आँखों में बिजली कौंध गयी? दाँतों से होंठों को दबा रखा है तुमने। अपने आप ही थोड़ा पीछे हटते हुए बोली हो, "इसका मतलब है तू मुझे ओछी, नीच कहा? ठीक है, तो बाल अगर साहस है तो मेरी ओर देख कर बोल, जिसकी माँ ओछी और नीच है, उसके पेट का लड़का फिर क्या है? बहुत महान, बहुत सच्चा है न?"

माँ, इतने तेज स्वर में मत बोलो। इतनी जल्दी-जल्दी भी नहीं। तुम काँप रही हो। दोनों हाथ बढ़ाकर मैं तुम्हें सम्हालने की कोशिश करता हूँ। पर सख्त हाथों से मुझे ढकेलते हुए तीखे स्वर में बोल उठती हो, "छि ! मैं ओछी हूँ। मैं नीच हूँ। मुझे छूने से तेरे हाथ गन्दे हो जाएंगे। मुझे मत छू।"

क्रमशः तुम पीछे हटती गयी हो, दीवार से सट कर बैठ गयी हो। पर क्यों नहीं छूऊँगा! यह कैसा असम्भव आदेश है!—मैं भला क्यों मानने लगा।

"मा, मैं पत्र लिखूँगा," अनुतप्त स्वर में कहा था। तुम फिर भी चुप रहीं।

मैं हाथ बढ़ाकर तुम्हारा आंचल पकड़ लेता हूँ, "लिखूगा, मैं लिखूगा। क्या लिखना है। एक बार ओर बता दो।"

इस बार तुमने मुझे ढकेला नही। बारिश थमने के बाद बादल फटकर थोडी-सी धूप। भीगी हुई भोर की आँखें खुलने लगी हैं।

लिख रहा हूँ। अब मैं ढेर-सी चिट्ठियाँ लिखे जा रहा हूँ। दूर-दराज के रिश्तेदारो के नाम से। तुम पढती जा रही हो। कनखी से देख रही हो। बोल रही हो, "ठीक है।" दो एक खतो मे तुम दस्तखत कर रही हो, "तूने ठीक ही कहा था रे! बहुत ओछे हो गए हैं हम। सचमुच। पर अपने आप नही हुई हूँ। हम लोगो की किस्मत उसी किस्मत ने बलपूर्वक हमारा सिर झुका दिया है। रहकर भी तुम्हारे बाबा नही हैं। ईश्वर जानते हैं, हमारा कोई नही है। सिर्फ हम दोनो हैं।" अचानक ऊपर की ओर देखते हुए कहा था। "ओर आकाश के चाँद तारे सुन रहे हैं। वे लोग गवाह हैं, अपने लिए तो कुछ नही। जो कुछ किया, सब तेरे लिए, ताकि तुम जी सको, सिर उठाकर चल सको। जो सिर आज झुक गया है, वही एक दिन फिर से ऊँचा होगा। देखना, मेरी एक-एक बात एक दिन सच होगी। तुझे छू कर कहती हूँ। बेटे को छूकर कोई माँ कभी झूठ बोल सकती है भला!"

तुमने दृढ स्वर म उच्चारण किया था। उस समय उसे खुले आकाश के नीचे मैं सिरे से काँपे जा रहा था।

ग्लानि, तुम्हारे चेहरे की हँसी मे ढक गयी है। ढकी रहने दो। अपनी तकलीफ के बावद तुम्हे कुछ नही कहूँगा। अपनी अर्जित विद्या को व्यावसायिक काम म लगाया हूँ। शुरू मे ही सरस्वती को याचिका की भूमिका मे उतार दिया! एक तरह की यह भी तो वेश्यावृत्ति है! वही पाप मेरा जीवन भर पीछा करे। उसके अभिशाप को अकेले ही वहन करूँ। आत्म विक्रय के उस अपराध का हिस्सा बनने के लिए तुम्हे नहीं बुलाऊगा। अब भी नहीं बुला रहा हूँ माँ! न तुम्हें न किसी और को।

मा, चलो अब चलो वहाँ चलें। बाग वाले उस लाल रंग के मकान मे। वह जगह इस समय कलकत्ते के साथ घुलमिल गया है, पर उस समय शहर से अलग-थलग सी ही थी। गाव से आने के बाद यहाँ हम लोगो का दूसरा डेरा लगा था। सकरी गली से बोरिया बिस्तर उठने के बाद वहाँ हम लोगो ने पडाव डाला था।

बोरिया-बिस्तर हम लोगो को आखिरकार समेटना ही पडा था। चार महीने का किराया बाकी पड जाने के कारण मकान मालिक ने उठते बैठते हम लोगो को टोकना शुरू कर दिया था, और फिर एक दिन अच्छी खासी तू तू मैं-मैं हो गयी।

बाबा उस समय कमरे के अन्दर थे। चिडियो को रोटी खिला रहे थे। वे पक्षी उनके जाने पहचाने हो गए थे। जिस समय वे सोए हुए रहते, उस समय भी, वे दोनो चिडे-चिडी चू-चू करते घूमते यह कोई बडी बात नही थी, बीच-बीच मे सिरहाने खडे रहकर शायद पहरेदारी करते रहते। बडी बात नही थी, चोंच से दो-चार सफेद बाल भी निकाल देते हो। खैर, बाबा दोनो चिडियो को खिला रहे थे, जब उस आदमी के पाव पटकने की आवाज बाबा ने भी सुनी थी। जाते हुए धमकी दे गया, "तीन दिन का समय दे रहा हू, सिर्फ तीन दिन का।"

घूमकर देखता हूँ, बाबा फिर से बहुत ध्यानपूर्वक चिडियो को रोटी का टुकडा खिलाने लगे हैं। कही कोई चचलता नही है। मुझे देखकर वे हसे। इशारे से कहा, 'धीरे।" जब रोटी फेंकना खत्म हुआ और जब दानो चिडे-चिडी खिडकी से उड गए, बाबा हाथ झाडते हुए बैठ गए। "आज भर के लिए बस। देखो, वे लोग कितने सुखी हैं। कोई दुख या चिता कुछ भी नही। ज्योही पता चला आज का कोटा खत्म हो चुका है, त्योंही बिना किसी हुज्जत के खुद ही चले गए। पर हम लोग ऐसा नही कर पाते हैं।" बाबा ने छिपाकर दीर्घ-श्वास को दबाया, 'मनुष्य नही कर पाता है। मनुष्य जान भी नही पाता है कि कब उसकी यहा की लेनदारी खत्म हुई। इसलिए वह पडा रहता है। तकलीफ उठाता है।"

हम लोग खामोश थे।

यह डेरा ! यहाँ रहने की मियाद खत्म हो आयी थी। यह मकान मालिक लेसी के अभद्र व्यवहार के कारण हम तुम दोनों ने ही समझ लिया था। मानो अंधकार घिरता आ रहा है। लालटेन मे तेल नही है। जलाएँगे क्या ? क्या जलाएँगे माँ ? हम लोग कहाँ जाएँगे ?

और ठीक दूसरे दिन की डाक से—नही, हम लोगो की उन चिट्ठियों के जवाब मे किसी के पास से रुपया पैसा नही, तुम्हारी उस मासी के पास से चिट्ठी आयी।

मैं तथाकथित युक्तिवाद, तार्किक मैं अकृतज्ञ भी हूँ। फिर भी जीवन मे बार-बार अलौकिक किसी करुणा का परिचय पाकर अपनी सर्वसत्ता के साथ रोमांचित हुआ हूँ। उस समय भी काँप गया था, विश्वास या भक्ति से नही, कृतज्ञता से।

"देखा न !" तुम्हे मेरे अविश्वासी मन के बारे मे पता था। इसलिए उस दिन पत्र पाकर दिव्य मुस्कान से पूर्ण होकर कहा था, "देखा न ! मेरी उस मासी ने जाने के लिए कहा है। भगवान हैं !" तुमने हाथ जोडते हुए कहा था, "मुझे बताया था न, मेरी यह मासी बहुत अच्छी हैं। सगी नहीं हैं, पर सगी से बढकर हैं। नाम भगवती है। रूप मे भी साक्षात् भगवती हैं। गरीब परिवार की लडकी थी। सिर्फ रूप देखकर वरपक्ष स्वयं आकर उन्हे ले गए ऐसा सुना है। बहुत पैसे वाला घर था। सुना है उनकी शादी मे पचास नाव घाट पर आकर रुके थे, वरपक्ष वालों ने स्वयं ही सारा शरीर सोने से ढककर उन्हे सजा दिया था।

कितना सच, कितनी गप्प थी, तुम्हारी उस उच्छ्वसित वर्णना मे ? पता नहीं। उस चिट्ठी को तुम बार बार पढे जा रही हो। बाबा को थोडा-सा ठेलते हुए कहा था, "सुन रहे हो ? मासी माँ ने हम लोगो को एकबार आने के लिए कहा है।"

बाबा का खोयापन क्या टूटा ? समझ नही पडा। सिर्फ एकदम उदास स्वर मे कहा, "जाऊँगा ? कहाँ जाऊँगा ?"

"पता तो यहाँ है !"

चिट्ठी को बिल्कुल तुम्हारी नाक के सामने, मुँह के सामने फेंका दिया था।

बाबा ने बडे उदासीन स्वर मे पूछा था, "तुम्हारी यह मासी कौन है ? मैं तो पहचानता नही हूँ।" कहकर बिस्तर की चादर पर नाखून से पता नहीं क्या लिखते गए। आजकल अक्सर ही बिस्तर की चादर या फिर तकिए के गिलाफ पर क्या वो लिखते रहते हैं।

"पहचानते हो ! याद नही है !" लाचार-सी होकर तुमने कहा था, "वही बनारसी !"

बाबा गम्भीर होकर बोले, "याद नही है !"

तब तुमने मेरी ओर कातरभाव से देखते हुए कहा था, "मासी ने लिखा है, उनकी बडी इच्छा है हम लोगो से मिलने की।"

"अब तक यह इच्छा कहा थी ?"

"कहा हैं, यह उ हे पता नही था, यहा आकर उ हे कोई खबर तो दी नही थी किस रिश्तेदार से तुमने सम्पक बनाए रखा था ? अपने पागलपन मे ही तो रमे रहे !

"पागलपन ?" बाबा ने शिशु की तरह सरल आखो से देखा । हजामत नही किय गए गाल पर एकबार हाथ फेरा, मेरा सारा पागलपन ठीक हो गया है ।"

उनकी बात सुनकर हम दोना ने ही चौककर एक दूसरे की ओर देखा था। तुमने आगे बढ़कर बाबा के माथे पर हाथ रखा था । बहुत ही लाड भरे स्वर मे कहा था, "ठीक तो हो ही गए हो, सिर्फ तुम्हारी वह बीमारी तबीयत थोडी और सुधर जाए, देखना सब तरफ से एकदम ठीक हो गए हो !"

"ठीक हो गया हूँ ?" बाबा के चेहरे पर, अबोध, असहाय, विश्वासी हसी। सिर हिलाकर फुसफुसाते हुए बार-बार बाले जा रहे हैं, "ठीक हो गया हूँ ।" अभी भी मैं उस निष्पाप हसी को देख पा रहा हूँ । ठीक हो गया हूँ, ठीक हो गया हूँ ! ठीक हो जाने के लिए व्याकुल भग्नस्वर सुन पा रहा हूँ ।

पर बाबा ने अपनी जिद नही छोडी जब भी तुमने कहा है, "मासी अब अथर्व हो गयी हैं । आँख से ठीक देख पाती हैं। खत किसी और से लिखवाया है । हम लोगों को एक बार देखना चाहा है । जाओगे नहीं ?" बाबा ने हमेशा कहा है। "नही नही । जा-जाकर तो बहुत देख चुका हूँ । अब थोडा रहकर देखू, कही जाया जा सकता है कि नही ।"

माँ, उन सब बातो का अर्थ समझना आसान नहीं था । तुमने समझा भी नहीं। मेरी ओर देखते हुए कहा था, "तो फिर तू हो ने चल । मासी को देखभाल करने के लिये वैसा काई आदमी भी नही है और

"क्यो उनका वह गोद लिया हुआ बेटा ?"

"वह अब नही हैं ।"

"गुजर गये हैं ?"

"मासी ने ऐसा ही लिखा है । शायद बहुत पहले हो ।"

"और कोई नही है ?"

' उसकी पत्नी नही है ?"

"वह भी पिछले वर्ष चल बसी है । मासी ने सब तो लिखा है । तुम दोना में स किसी न पढ़के भी नहीं देखा । मासी ने कितना दुखित होकर लिखा है, गोद लिया हुआ लडका गया, दूसर घर से लायी हुई लडकी याने उनकी बहू वह भी गयी । पर दोनों उस बूढ़ी के पास अपनी जान के दो दुश्मन सौंप गये हैं। एक पोता एक पोती ! बूढ़ी दोनों की रखवाली कर रहा है । पर कैसे कर पायेगी ? इसलिये लड़की को बोर्डिङ्ग म रख दी है । लडके को भी भेज देगा । खुद पे ही हाथ-पांव जला बैठा है ।"

"खुद ही ? खुद ही क्यों ?"

किसी के हाथ का खाती जो नही हैं न। पुराने समय की विधवा हैं न।'

(तुमने उस दिन कहा था, 'पुराने समय की।" मैं भी आज पुराने समय की बातें लिख रहा हूँ। "पुराना," समय कितना मजेदार वाक्य है! देखो कितना आपेक्षिक होता है! एक-एक पुराना समय बैठा हुआ है हर समय का पीठ पर।)

"हालांकि, ' तुम कह रही थी, "नौकर रसोइयाँ सब कुछ हैं। खैर, सुनो! वे तो अपने मे ही मगन हैं। उनके तो दिमाग मे कुछ घुस नही रहा है। तुझे ही बता रही हूँ। मासी ने लिखा है, जो पराए थे चले गये। तू अपनी बेटी है। याने बेटी की तरह। तुम लोग सब एक बार आओ। मिलकर सलाह करेंगे। चलोगे ?"

सम्मोहित की तरह उस दिन कहा था, "जाऊँगा मां!" मैंने तब तक तुम्हारे समस्त उच्छ्वास का मतलब समझ लिया था। तिनका ही सही, उसे ही पकड़ना चाह रही थी। जीना चाहती हो, मुझे भी जिन्दा रखना चाहती हो। मैं भी मां, जीना चाहता हूँ, तुम्हें जीने देना चाहता हूँ।

पर बाबा ? वे पहले की तरह ही अड़े रहे। मगन होकर चीटियों की जाती हुई कतार देख रहे थे। तुम ज्योंही सूखे कपड़े उठाने चली गयी, बाबा ने मुझे इशारे से बुलाया। उद्दीप्त, विस्फारित दृष्टि, दबा हुआ स्वर। कहा, "वह देख! चीटियाँ पैदल ही खिड़की से होकर बाहर जा रही हैं। सोच रही हैं चीनी उधर होगी। इन्तजार करो। गरम हवा बह रहा है। बारिश आने दे! देखना वे लोग एक-एक करके लौट आएँगी, क्योंकि खिड़की के उस ओर भी चीनी नहीं है।"

"आ-एँ-गी-ही," बाबा अचानक किसी भयकर स्वर मे बोल उठे। ठीक उस समय, जिस समय तुम साड़ी बदल कर कमरे मे घुसी थी। पर तुम-चौंकी नहीं। थोड़ी देर पहले की उत्तेजना भी मिट गयी है। बिना पलक झपकाए। एक बार बाबा की ओर देख लिया, उसके बाद शान्त, अविचल मेरी ओर देखकर कहा, "तैयार है ? तो फिर चल!"

* * *

उन्हें देखा। तुम्हारी यह मासी सचमुच कभी रूपवती रही होगी। मैंने उनके फीके पड़े रंग मे रूप का चिह्न देखा। पतला सूखा हुआ चेहरा आँख पर सुनहली कमानी वाला चश्मा, सफेद बुर्राक थान साड़ी। तुम्हारी मासी को प्रणाम किया। तुम्हारे इशारे पर वाध्य होकर कहना पड़ा, दीदी माँ!

उन्होंने एक बार तुम्हारी ओर देखा। चश्मा पहनकर तो देखा ही, एकबार उतार कर भी देखा। तुम्हें अपने नजदीक खींच लिया। धीरे-धीरे तुम्हारे सिर पर, माथे पर, गाल और पीठ पर हाथ फेर दिया। उनकी आँखों मे पानी उतर आया यह मैंने देख लिया था।

आँख का पानी पोंछकर उन्होंने भीगे स्वर म तुम्हें बुलाया, '

आँखें भी गीली थी, "उँ उँ तुमने हुँकारा।

"उँ !" वह छोटा-सा, लाड भी एक अक्षर ने मुझे सब कुछ समझा दिया। माँ, मैंने तुम्हें उस उम्र मे देख लिया, जिस उम्र में कभी नहीं देखा था। कहाँ थी वह विषाद-प्रतिमा ? जो आहत और दुख से जजरित है ? खुशी स हल्की हो गयी हो तुम। अहेतुक उच्छ्वास से भर उठी हो तुम।

लौटते समय बग्घी मे भी घोर नही कटा था। तुम्हारे उसी रूप का ध्यान कर रहा था। सोच रहा था, उस रूपान्तर का रहस्य क्या था। ढलती रोशनी मे देखा था तुम्हारे चेहरे से खुशी का लेश उस समय तक नही मिटा था।

अपनी मासी के साथ तुम जब तक बात कर रही थी, मैं हमेशा ही तुम लोगो के पास बैठा नही था, बाग मे टहला था। घूम फिर कर सब कुछ देखता रहा था। एकबार गगा के घाट तक घूम आया था।

बग्घी जिस समय टाला पुल के पास पहुँची, उस सम मटमैले घने शहर ने मेरे सम्मोहन के परदे को हटाकर, मुझे अपनी दुनिया मे लौटाया। तुम्हे पूछा था, "कुछ हुआ ? क्या कहा तुम्हारी मासी ने वही दीदी माँ !"

वास्तव प्रश्न, पर अन्तरग स्वर। तुमने आँखें फैलाते हुए कहा था, "देखा नही, कितनी खुश हुई !"

"वह तो समझ रहा हूँ। पर कहा क्या ?"

"सब कुछ सुना। बोली, हम सब वहाँ जाकर रह सकते हैं। असल मे, मासी को भी मुझे देखकर राहत मिली है।"

"तुम वहाँ करोगी क्या ?"

"पूजा-पाठ। उनके रसोई का इन्तजाम। यही सब और क्या। और तेरे बाबा वे भी तो इस समय खास कुछ कर नहीं रहे हैं, कर नही रहे हैं, कर नही पा रहे हैं। जब तक पूरी तरह ठीक न हो जाए, तब तक यहाँ की देखभाल कर सकते हैं। नौकर-चाकर तो सब मिलकर मासी को लूट रहे हैं।"

"और मैं ?"

"तू पढेगा, परीक्षा देगा, पास करेगा। तुझे क्या सोचना है ! तू समझ नही रहा है। सब कुछ तेरे लिए है न !" बोलत-बोलते तुम्हारी आवाज ढलती हुई शाम की तरह गाढी हो गयी थी।

समझ गया। मेरे लिए भी एक भूमिका निश्चित कर दी गयी था, या फिर मैंन स्वय ही अपनी भूमिका का चुनाव कर लिया था।

और भी बहुत कुछ समझ गया था। छाती से एक बहुत बडा बोझ उतर जा रहा है, इसलिए तुम इतनी खुश थी। इसलिए माँ, "सब कुछ तेरे लिए ही था," भरी हुई आवाज मे यह बात कहने के तुर त बाद ही अचानक तुम बच्चो की तरह खुशी से हँस पडी थी।

"क्या हुआ ?" मैंने जानना चाहा था।

"एक बात याद आ गयी न ! तुमने सुना था, मासी मुझे आनू कहकर नही पुकार रही थी, खूकी कह रही थी !"

"सुना था।"

"और चश्मा उतार कर मेरा मुह बहुत पास लाकर निहारे जा रही थी। देखा था ? चेहरे पर कितनी झुर्रियाँ पड गयी हैं। आँख से ठीक दीखता नही है, इसलिये शायद समझ नही पायी कि मैं भी पूरी गृहस्थन बन गयी हूँ। हँसने की बात नही है ? बता, तू ही बता ! तेरे बाबा तो मुझे कब से कहते हैं, बूढी ! ठीक कि नही बता !" तुम चलती गाडी मे बैठकर मुझे ठेले जा रही थी। और एकदम खिलखिलाए जा रही थी।

और हँसने की जरूरत नही, मैंने समझ लिया है। तुम्हारे इस लडकपने का मतलब मैंने समझ लिया है। आश्रय पाने का आश्वासन भी खुश होने का एक कारण है ही। पर क्या इसके सिवा भी कोई दूसरा कारण भी नही था ? वह है उस शब्द में—"खूकी !" तुम्हारी मासी के पास वहा जादू था, जिसने तुम्ह पलक झपकते ही खुशी से सराबोर कर दिया। उनके पास खडे होते ही तुम वही नन्ही मुन्नी ! झुर्रियाँ पडे चेहरे की आँखो म रोशनी नही है, ठीक से देख नही पाती हैं—उनकी आँखो मे तुम्हारा इस समय का चेहरा कभी भी पकड मे नही आएगा। उसका डर नही रह गया है, इसलिये इतनी खुश हो न तुम ! यही न ! समझ गया हूँ मैं।

(हमारी खोयी हुई उम्र को, हमसे जो उम्र म बडे हैं, सिर्फ वे ही हमे लौटा सकते हैं। तु हारे उस उम्र मे पहुँच जाने के बाद से माँ मैं भी उस आनन्द के स्वाद को बीच-बीच म पाता हूँ। आज भी पा रहा हूँ।)

गली के अन्दर गाडी नही ले जाया गया। मोड पर ही उतरते हुए तुमने कोचवान से कहा, "मासी से कहना, हम लोग कल या परसो ही आ रहे हैं।"

तग गली, धँसी हुई ड्योढी, जजर सीढी। कुछ चमगादडो को परेशान करते हुए हम लोग कल्पना से वापस यथार्थ जगत मे लौट रहे हैं। इसी यथाय का परित्याग कर जाना है।

"क्या कर रहे थे ? हमारे लौटने की बाट जोह रहे थे ?" तुम्हारा मन उस समय बहुत हल्का था इसलिये मजाक कर पायी थी।

पर बाबा का स्वर शान्त, खोया हुआ सा। "नही, देख रहा हूँ।" तुम कपडे बदलने चली गयी थी। बाबा ने उँगली हिलाकर मुझे बुलाया।

"देख रहा है ?"

"कहाँ ? कुछ भी तो नही है !"

तब बाबा ने कान के पास मुह लाते हुए किसी गूढ सत्य को बताने के से लहजे मे कहा, "दीवार थाम कर बाहर जाकर भी उन्ह कुछ नही मिला, इसलिये लौट आ रही हैं। एक कतार से। अब देख रहा है न ?"

तुमने उस समय तक चूल्हा नही जलाया था। बदल कर आए हुए कपडो मे तुम पीछे चुपचाप आकर खडी हो गयी थी। पूरा मकान स्तब्ध था।

हम लोगो का दैनिक सत्य ! इन सबका परित्याग कर जाना है।

*   *   *

हम लोग चले जायेंगे। तुम सब कुछ समेटने, सहेजने लगी हो। गरीब की गृहस्थी मे भी कुछ न कुछ इक्ट्ठा हो ही जाता है। जरूरी, गैर-जरूरी सभी तरह की चीजें, इन कुछ वर्षों मे हमारे यहाँ भी इकट्ठी हो गयी थीं।

गठरी और पोटली बाधते हुए तुम माथे का पसीना पोछ रही हो। पके हुए पाँवों को फैलाते हुए कह रही हो, "यह इतना तो।" पर मैं ज्योंही जल्दी से कह उठता हूँ, "रहने दो न, वहाँ तो सब कुछ है।" तुम ज्योंही व्यथित होकर कहती हो, वाह ! बाद मे क्या हमारी अलग गृहस्थी नही बसेगी ? हमेशा वही रहना है क्या ! तेरे बाबा के थोडा सम्हलते और तेरे लायक बन जाते ही नया घर बसाएगे। नहीं क्या ?"

"तो फिर रहने दो।" मैंने भी हामी भरी थी।

"पर सब ले जाने से कितना बोझा हो जाएगा और छोड जाने का भी मन नही हो रहा। पता नही कब किस चीज की जरूरत पड जाए।"

"ठीक-ठीक," बाबा बोल उठे थे। "कह तो ठीक ही रही हो। कब किस चीज की जरूरत पड सकती है, कहा नही जा सकता।"

बाबा को ले जाने के लिए काफी हुज्जत करनी पडेगी, एसा सोच सोचकर हम लोग परेशान हुए थे, पर बाबा से जाने की बात कहते ही वे एकदम से तैयार हो गए थे। अच्छी तरह कुछ सुनने के पहले ही वे बोल उठे थे, "जाना होगा ? वह तो होगा ही ! यहाँ पडे रहना सम्भव नही है। हम लोग पडे रहने के लिये तो आये नही हैं !"

शान्त, सम्मत बाबा टकटकी बाधे तुम्हारा सामान सहेजना देखे जा रहे हैं। कभी कह रहे हैं सब कुछ फेंक जाओ।

"छोड जाऊँ ? हाथ समटते हुए तुमने पूछा है, ' छोड क्यो जाऊँ ?"

"तुम कुछ समझती नही हो। एकदम हल्का होकर जाना चाहिय।"

कभी-कभी तुम इतनी क्रूर हो जाती थी ! वरना बाबा के उस सीधी-सादी बातो का उतना टेढा जवाब देती ? सन्दूक से कागज का पुलिन्दा निकालते हुए कठोर स्वर मे कहती हो, "तो कहो इन्हे भी छोड जाऊँ ?"

बाबा ने मानो पहचाना नही, "क्या है ?"

"तुम्हारा ही पागलपन ! देख नही रहे हो ! नाटको का पुलिन्दा है ?"

मैं टकटकी बाधे बाबा को देख जा रहा था। उदास स्वर मे बहुत धीरे-धीरे वे बाले, "अरे हाँ, वे तो, व तो हा इन्हे छोड जाओ। एकदम छोड जाओ।"

बाबा आगे आकर तुम्हारे पास बैठ गए हैं। हल्के से अपना एक हाथ तुम्हारी पीठ पर रखा है। गाढे स्वर मे बोल रहे हैं, "डर रही हो ? मोह हो रहा है ?"

"तुममे मोह नही है, मालूम है। कभी भी किसी चीज़ मे नही रही है।" तुम किसी तरह बोल पायी हो। तुम्हारा स्वर बहुत उदास।

"है। मोह है। तुम्हे मालूम नही है आतू !"

(बाबा ने मेरे सामने पहली बार तुम्हे तुम्हारे नाम से सम्बोधित किया। मेरी उपस्थिति क्या उस क्षण उनके सामने लुप्त हो गयी थी ?)

"तुम्हे मालूम नही है, मोह है। पर समस्त इन्द्रीयवृत्ति की तरह मोह को भी बाँध कर रखा जा सकता है। उस शक्ति को मैंने अर्जन किया है। छोड जाओ उन्हें, जाओ न ! लिखने-विखने का वह एक अध्याय मात्र था। एक पद्धति, और भी पद्धतियाँ मैंने सीखी हैं। मेरा लिखना-विखना अभी भी चल रहा है, तुम्ह पता नही चला ? सफेद चादर पर उँगलियो से कितना कुछ तो लिखता रहता हूँ। उस लिखे हुए को पढ नहीं सकत हो। लिखता और मिटाता हूँ या खुद ही मिट जाता है। पर मन मे सब कुछ अकित रह जाता है। आतू ! जो मन चाहे इस कस्बे मे भर कर ले जा सकती हो, छोड जा सकती हो। किसी चीज़ मे मुझे आसक्ति नही है।'

बहुत कठोर थे वे शब्द। उससे भी अधिक कठोर उनका स्वर।

पर रह जाएगा और भी बहुत कुछ छिटफुट, परित्यक्त आत्मीय की तरह। इस समय जो मूल्यहीन है, पर किसी न किसी समय की स्मृतियो से गुथी हुई, शिकायत करती आँखो से वे पडी रह जाएँगी। हम लोग चले जाएँगे, बिना उनकी ओर देखे।

कमरे मे झाड़ू-पोछा लगाने के बाद जिस तरह आसन बिछाते हैं पूजा मे बैठते हैं, तुम देख पा रही हो कि नही, मुझे मालूम नही, मैं भी रोज उसी तरह बैठ रहा हूँ। इस दीर्घ पत्र का सूत्र पकडने के पहले नमस्कार कर लेता हूँ। अक्षरो, शब्दो और वाक्यो का लम्बा जुलूस, कितनी दूर से आ रहे हैं, कहाँ तक जाएँगे क्या पता ! अक्षरो की कतार, रेगिस्तान मे। ऊँट की तरह या फिर माथे पर गठरी चढाए चले जा रहे हैं, पुराने जमाने के तीर्थयात्रियो की तरह।

उस बीमारी के बाद से स्थाई सुख के लिए मेरी व्याकुलता भी बढ रही है। जरा के हाथ से मुक्ति नही है, पर जलन के हाथ से कैसे बचूँ, कैसे ? लगातार यही सोचे जा रहा हूँ। निरालम्ब शून्यता पर अब लटके नही रह सकता हूँ। वहाँ नीचता, ईर्ष्या, तात्पर्यहीन घटनाओ का तूफान है, जो मुझे लगातार थपेडे मारता रहा है। पाव के नीचे इसीलिए जमीन की तलाश रही है मुझे—जो मिल गया। वह जमीन मेरा यह लेखन है ! वह जमीन तुम हो। तबसे तुम्हारे आश्रय मे हूँ। खोद रहा हूँ, लगातार। कभी आवेश के वशीभूत होकर, कभी निष्ठुर आक्रोश से, फिर भी कहीं तो खडा हूँ मैं। यह जमीन छीन मत लेना, जीवन के बचे हुए दिनो मे अब और बेसहारा मत बनाना।

परिपार्श्व मुझे अभी भी विचलित करता है माँ। पहले ऋतुओ के बारे मे लिखा था। अब देख रहा हूँ, एक-एक दिन के विभिन्न पहर मेरा ध्यान भग्न करता है।

यद्यपि इस रचना की शर्त ही यही था कि नहा धोकर शुद्ध होकर बैठूगा ! फिर भी किसी किसी दिन मन-मुह कड़वाने लगता है। किसी-किसी दिन अनुभवो की शरशैय्या पर लेटे-लेटे कोई याद आने लगा है। बताओ तो कौन ? छोटे-से एक लडके की याद आ जाती है। एक बार उसे देखा था ! मेले की भीड मे खो जाने के बाद फफक-फफक कर रो रहा था। दोनो बाहे फैलाए बार-बार सिर्फ एक ही बात दोहराए जा रहा था, "माँ के पास जाऊँगा, माँ के पास जाऊगा।"

एक लडका अथवा एक लडकी। सभी मेले मे खोते हैं। माँ को पुकारते हैं, उन्ही की तरह।

माँ ! कल सारी रात मेरे सीने के ऊपर से कष्टों की बैलगाड़ी गुजरी है, जिसने मुझे मथित किया है। इस प्रभातबेला मे भी उसके पहिए के निशान से तकलीफ पा रहा हूँ। आवश्यक प्रसन्नता कही से भी ढूंढे नही मिल रहा है। इसीलिए उस बाग वाले मकान मे पहुँचने मे इतनी देर हो जा रही है।

हालाकि वहाँ हम पहुँचना तो है ही। माल ठेले पर लादकर पहले ही भेजा जा चुका था। बाद म जाकर देखा था, ठेला लुढका पडा था। शायद वही स्वाभाविक था, फिर भी न जाने क्यो दिल कैसा तो कर उठा था। लुढकी पडी गाडी क्या हमारे कुंठा-आश्रित अवस्था की प्रतीक रही ?

पर बाबा बहुत खुश थे। चारो ओर देखते हुए बोले थे, "वाह ! वाह ! कौन सा कमरा हम लोगो का होगा, बताओ तो ?"

"आते ही पहले कमरे की पूछ ?" तुमने दबी आवाज मे घुडकी दी थी, "अजीब आदमी हो तुम भी !"

"वाह ! कमरा ही तो सबसे पहले चाहिए। सबस जरूरी है टिकाव। कहाँ टिकना है, जानना नही चाहूँगा ?"

व्यस्त भाव से जो लोग घूम फिर रहे थे, नौकर-नौकरानियाँ ही होगी। वे लोग खडे नही हो रहे हैं। सिर्फ आपस मे बतियाते रहते। वह भी दबी आवाज मे। हम लोगों की ओर कनखी स देखते, पर ज्योंही हम उनकी ओर देखते, आँखें फिरा लेते।

"जाऊँ, मासीमाँ से मिल आऊ।" तुम ऊपर चली गयी।

बाबा, बगीचे मे घूमते रहे। ठेलेवालो को छोड तो देना ही है ! मैं वहाँ चला गया। और ठेलेवाले के साथ मिलकर रस्सी खोलने लगा। काफी मेहनत पड रही थी। गेट से उसी समय एक आधे भद्र महाशय ने प्रवेश किया। आधे क्यो ? चूंकि, बेशक फिसलते-फिसलते चरम दुर्दशा मे उस समय गिरे हुए हो—पर मध्यवित्त श्रेणी विज्ञान हममे जन्मार्जित और मज्जागत था।

उसके हाथ मे क्या सब तो सौदा सामान था। मुझे पसीने से तरबतर देख, ठिठक कर खडा हो गया। उसकी सहायता से सामान जल्दी उतार लिया गया। ठेले वाला चला गया। तब उसने कंधे पर रखे झाडन से हाथ झाडते हुए पूछा, "कहाँ से ?" शायद वह तय नहीं कर पा रहा था कि तुम बोले या आप, क्योकि मेरी वेश-भूषा और उम्र ही पशोपेश में डालने वाली थी।

"झामापुकुर," आप-तुम के पचडे से बचने के लिए मैंने भी एक ही शब्द मे उत्तर दिया।

"ओह समझ गया।" उसने बडे प्रांजल स्वर मे कहा, "माँ ने बताया था।" दूर-बगीचे के किनारे चहलकदमी करते हुए बाबा दिखलायी पड रहे थे। उस ओर उँगली से इशारा करते हुए उस आदमी ने कहा, "तो अब वे ही इस मकान के नए मैनेजर होंगे ?"

मैनेजर ? मकान के मैनेजर का मतलब। समझ नहीं पाया और समझ भी गया कि यह बात बहुत सम्मानजनक नहीं है। कान झनझनाने लगा था। क्या कहना ठीक रहेगा, तुरंत दिमाग में न आ पाने के कारण, असंलग्न-सा, पर तीखेपन के साथ बोल गया, "हम लोग इनके रिश्तेदार हैं।"

वह आदमी हँस पड़ा। उस हँसी के पुराने प्रिण्ट को हिलाने-डुलाने के बाद आज भी तय नहीं कर पा रहा हूँ कि उस हँसी की जात क्या थी। धूर्त की? दार्शनिक की? जो भी हो, यह हँसा था। बोला था, "रिश्तेदार तो सभी हैं। मेरे मामा भी यहाँ रिश्तेदार की हैसियत से ही आए थे—मालकिन के ससुर के समय। पर हुआ क्या? वही मामा हो गए गुमाश्ता और उनका भाजा याने मैं शुरू से हाट-बाजार करने वाला कारिन्दा। सुना है मैं चोरी करता हूँ, इस लिए मेरे ऊपर खबरदारी करने के लिए मैनेजर बैठाया जा रहा है।"

उसके स्वर में तिक्तता, ईर्ष्या, घृणा थी, पर आँखों में वेदना। मैं मिलाकर देख रहा था, पर मैनेजर-मैनेजर शब्द कान में सीसा उँडेले जा रहा था। और अधिक तल्खी के साथ, मानो अपने को सुनाने के लिए ही बोल उठा, "हम लोग रिश्तेदार हैं। दीदी माँ—दीदी माँ हैं न।"

मा! तुम्हारी मासीमाँ को वही पहली बार उपयाचक की तरह दीदी माँ बोला। पिछले कुछ दिनों में जिसे मन में भी नहीं ला पाया था, उसकी दीदी माँ—दीदी माँ शब्द को किसी कंगले की तरह जी जान से पकड़े रखना चाह रहा हूँ।

"नहीं। पुण्यस्नान के लिए वे त्रिवेणी गयी हैं। कल या फिर परसों लौटेंगी। पर उसके लिए चिन्ता की कोई बात नहीं है। मुझे सब बता गयी हैं। सारा इंतजाम हो जाएगा।" नीचे के दो कमरे खुलवा दे रहा हूँ।" इतना कहकर वह रुका नहीं, नौकरों से सारा सामान आँगन के सामने के दो कमरों में उठवा दिया।

*　　　　*　　　　*

ऊपर जाकर देखा, तुम एक दरवाजे पर पीठ टिकाए असमंजस की-सी स्थिति में बैठी हो। मुझे देखते ही जल्दी से बोल पड़ी, "आजा। पर मासीमाँ को कहीं देख नहीं पा रही हूँ। पता नहीं कहाँ हैं! मासी माँ शायद स्नानघर या फिर पूजाघर में होंगी। अभी तक निकली नहीं हैं। उससे पूछ रही हूँ, पर कुछ बताती ही नहीं है। समझ में नहीं आ रहा क्या करूँ?"

देखा, दरवाजे के सामने से नौकरानी जैसी कोई चली जा रही है। नौकरानी? वह अगर नौकरानी है, तो तुम फिर क्या हो? बाबा कहाँ हैं? अभी तक बाग में टहल रहे हैं? बाबा भी इस घर में क्या हैं? मैनेजर बनेंगे? मैनेजर याने गुमाश्ता! बाबा अगर गुमाश्ता हुए तो तुम फिर क्या हुई? हेड रसोईदारिन? यह शब्द मन के ऊपर पिघलते मोम सा गिरा।

"भूख लगी है?" तुमने कहा, "थोड़ा चिड़वा खा लो न! वाणी के पुराने

डिब्बे मे है । बाबा को भी दे । वे हैं कहाँ ?"

पता था । एक पेड के नाचे की वेदी पर बैठे हुए थ । ऊपर आते समय देख आया था । नीचे जाकर देखा, उस समय भी वे वहीं थे । न जान बडे ध्यान से क्या सुने जा रहे हैं और बीच-बीच मे ऊपर की डाल-पत्तियो की ओर देखे जा रहे हैं ।

मुझे देखते ही होठो को सिकोड कर धीरे-स किसी शब्द का उच्चारण किया —होठो के सिकोडने के भाव से समझ गया—घुग्घू ! जिसकी आवाज सुन रहे हैं, समझा दिया । मुझे हँसी आ गयी, घुग्घू ?

हाथ उठाकर मुझे मारने जैसा दुलार का भाव किए । "हँसता क्या है रे ?" नटखट ! ध्यान से सुन, उनकी आवाज मे कितनी यन्त्रणा है ! रही है !"

*　　　　*　　　　*

छत-वत घूमकर काफी देर बाद नीचे आया, तब तुम्हे भी देख पाया । उस आदमी से या फिर किसी नौकर-चाकर से इस बीच तुम्हारी काई बातचीत हुई होगी, क्योकि तुमने अब तक कमरे मे सामान सहज लिया था । पास मे एक तख्त-पोश पर बाबा पाँव लटकाए बैठे थे ।

तुम्हारा चेहरा तमतमाया हुआ । सामान करीने से रख रही हो, पर मन मुताबिक न होने के कारण, उन्हे फिर से सवार रही हो । बाबा निर्विकार, बल्कि हस रहे हैं । तुम एक-एक डिब्बे को खोल, अन्दर क्या है इसे सूघ कर परखते हुए, उठा-उठाकर रख रही हो । अचानक शायद किसी फटे हुए टीन के कोन से तुम्हारी उगली कट ही गयी और एक डिब्बा हाथ से गिर पडा । ठन् ! उस आवाज के आमोद से बाबा हँसे जा रहे हैं । पर इस्स ! खून ! इस्स, तुम रोन लगी । बहुत कट गया है क्या ? या फिर कटना-वटना बहाना रहा ! तुम रोना चाहती थी, एक बहाना मिला । काफी गर्मी के बाद जिस तरह बारिश उमड पडती है ।

बाबा तख्तपोश पर बैठे पाँव जरूर हिलाए जा रहे हैं, पर तुम्हे रोते देख पहल तो सकपकाए, फिर शायद कुछ समझ गए । सिर हिलाकर बडे पडिताई भाव से बोले, "नया घर, नए जूते की तरह होता है । शुरू मे थोडा चुभता है, बाद मे ठीक हो जाता है ।"

नीचे का कमरा, खिडकी पर जाले, सब कुछ घुटन भरा-सा । उस दिन शायद गरमी भी बहुत थी । आँगन की ओर से एक घुटी-घुटी-सी बदबू आ रही थी । 'माँ ? हमे क्या इसी कमरे मे रहना होगा माँ ?"

"बुरा क्या है ?" बाबा बोल उठे, "बगल वाला कमरा भी खोल दिया है । मैंने देख लिया है और मुझे बहुत पसन्द है । नीचे का कमरा हुआ तो क्या हुआ । वहीं-वहीं मैं अपना नया बिजनेस शुरू करूँगा । बेबी फूड, टीन फूड का । तुम्हे एक बार बताया था, याद है ? अरे वही फार्मूला जिसे मैंने चटगाव म एक अराकानी से सीखा था । तुम्हे भी तो सिखाया था, वही कितन साल पहल ! याद नहीं ?

पर मुझे याद है। इस बार देखना, सब कुछ वैसा खड़ा करता हूँ। और अगर यह चल पड़ा, तो एक और फार्मूला, वह भी मेरा सीखा हुआ है पर अलग किस्म की चीज़ है, दूसरी लाइन की—स्किन डिज़िज़ की दवा। नाम रखूंगा, 'स्किनो क्यूरा!' क्या कैसा रहेगा? जिस पौधे से वह दवा बनेगी, वह यहीं है। गंगा के किनारे-किनारे, मैं देख आया हूँ। भगवान शायद उसी लिए हम लोगों को यहाँ ले आए हैं वरना इतनी जगह रहते, भला यहाँ क्यों आना पड़ा?"

बाबा की आँखों में सपने झिलमिलाने लगे थे। बाबा बोले जा रहे थे, "कम्पनी का नाम क्या होगा, बताओ तो! इस बार कम्पनी तुम्हारे नाम से होगी। बहुत बड़े साइनबोर्ड पर लिखा जाएगा—ऐना प्रोडक्ट्स। आनू को थोड़े अंग्रेजी स्टाइल से ऐना कर लेंगे। कैसा रहेगा?"

बाबा सगर्व ताके जा रहे हैं। मेरी हिम्मत अब उनके चेहरे की ओर देखने की नहीं हो रही है।

तुमने धीरे से कहा, "बढ़िया। पर बीच में मेरा नाम क्यों? मैं तो अभागन हूँ, बल्कि कोई दूसरा नाम सोचो। वही, एक बार कौन-सा नाम दिया था न?"

"मिस्म!" बाबा ने छाती चौड़ी कर ली। "मिस्लेनियस इंडियन मैन्यु-फैक्चरिंग कम्पनी—संक्षेप में मिस्म। इंडियन, स्वदेशी, स्वदेशी शिल्प का पुनर्जीवन, उस समय सब कुछ किसी न किसी आदर्श के लिए किया जाता था। आदर्श के बिना कोई काम नहीं होता था।"

अचानक बाबा को ख्याल हुआ कि इतिहास के जिस अध्याय की बात कर रहे हैं, उस समय तक मैंने जन्म भी नहीं लिया था। अतः मेरे सुविधार्थ व्याख्या करके समझाने लगे, 'मिस्म था, कम्पनी का नाम, समझा? और था, कबरी-कल्याण-ब्यूटी बाम, मधु सोडा, नवीन स्क्वाश। तुम्हारी माँ का पता था, लोगों के मुँह से सुना भी था पर विश्वास नहीं किया था।"

"उस समय तो किया था।" तुमने कहा।

"अब करती हो?" अपना सिर तुम्हारे माथे के पास ले गए थे। अपलक दृष्टि से तुम्हारी ओर देखते हुए पूछा था "अब करती हो?"

"करती हूँ।" तुम्हारी आवाज़ काँप गयी थी।

"बस! यही बहुत है।" बाबा उत्साहपूर्वक बोल पड़े, "विश्वास रहने पर सब कुछ होता है!" एक छोटा-शिशु मानो उनके स्वर से स्वर मिलाए जा रहा था। हम लोग सुन रहे थे, देख रहे थे। वह शिशु थोड़ा देर बाद थक कर बिस्तर पर लेट गया। उसकी आँखें उस समय कमरे की छत की ओर! समझ रहे थे हम। उसकी आँखों में सपने तिर रहे थे।

'एकदम भोलेनाथ!" तुमने मेरी ओर देखकर आहिस्ता से कहा। पर शायद बाबा ने सुन लिया था। तख्तपोश पर ही सिर टिकाए, एकदम डूबे हुए स्वर में, मानो बहुत तकलीफ हो रही है, बोलने लगे, "विश्वास, विश्वास!" वे टूटे हुए

स्वर मे बोल रहे थे, "यह विश्वास अगर उस समय करती आन्! शायद थोडा बहुत रह जाता। सब कुछ नए सिरे से बनाना नही पडता। अब क्या सकूगा! अब और कब मेरी सेहत सुधरेगी अब बहुत देर हो गयी है!"

बाबा ने बहुत आहिस्ता-आहिस्ता कहा "अब और नही सकूगा।"

हम दोनो चुपचाप उनकी ओर दखते जा रहे हैं। नीचे का वह कमरा, आज उसका जो रूप देख पा रहा हूँ, मानो एक अमूर्त विचार-सभा हो। पर कौन अभियोगकारी है, कौन अभियुक्त ओर गवाह ही कौन है? मानो किसी की जबानब दी पढी जा रही हो। मानो किसी से कैफियत तलब की जा रही हो—उन सब दृश्यो का पुनर्निर्माण करते हुए आज यह सब देख रहा हूँ। मानो कोई अस्पष्ट कटघरा भी कही हैं, उस कटघरे मे चेहरा पहचाना नही जा रहा है। एक ऐसा अपराधी, मां! बतला दो, वह चेहरा किसका था! मेरा? या तुम्हारा?

*　　　　*　　　　*

उस मकान मे बिजली बत्ती थी। नाचे के कमरे म भी थी। मा, थोडी देर बाद ही, तुमने स्वीच दबा कर बत्ती जलायी थी। यह मनुष्य की एक सहजात प्रवणता, एक सहजात प्रवणता, एक स्वयक्रियता है, जो उसके स्वभाव का ही एक अश है—बाद मे इसे कई तरह से अनुभव किया हूं। भय और अधकार का हम एक साथ मिलाकर देखत हैं।

बारिश थम जाने के बाद भी जिस तरह पत्तो से टप्-टप् पानी गिरता रहता है, उस दिन उसके बाद भी छोटी-छोटी घटनाएँ घटी था। उठकर बैठते हुए बाबा न एक बार हाथ बढाया, "एक गिलास पानी।" होठ पाछ कर मेरी ओर देखा। खाता कलम लाया है? है यहां? दे जरा।" चुपचाप निकाल कर द दिया था।

धीरे धीरे बाबा सहज होत जा रहे हैं। यह दखो खात के ऊपर झुक आए है। तुमने देखा। आढ्ष्ठता लिए तुम खडी हो। बाबा ने मुह उठाया। बाबा अब हस रहे हैं। क्या बोल रह हैं बताओ तो? बोल रह हैं, "डरो नही। सो र रही हा मैं कोई नया नाटक तो नही लिखने लगा हूं? धत्! वह सब अब नही होने वाला। उसके लिए भी अब ब-हु-त देर हो चुकी है। उस दिन तुमने मेरी रचना-वचना पर भी विश्वास नही किया था न? अगर करती तो खैर क्या होगा वह सब सोच कर! जाने दो। अब मैं इस खाते मे दूसरा कुछ लिखू—मान लो नए देशी शिल्प की जो कल्पना है, उसकी स्कीम?"

"पर ज्यादा दिमाग लगाने से तुम अभी भी बहुत कमजोर हो। डाक्टर ने कहा है, अधिक चिन्ता करना मना है"

"आह!" कितने प्रसन्न मुख, कितनी क्षमा की धूप से बाबा का चेहरा भर गया है, "तुम बहुत चालाक हो, इसलिए घुमा-फिरा कर बोल रही हो। सोच रही हो, यह भी मेरा एक ख्याल, एक पागलपन है। क्या? अच्छा ही है। यही लेकर रहने दो न! कुछ न कुछ लेकर तो रहना ही पडेगा न? सब कुछ अगर मुझसे छीन

ही लोगे तो यह देखो, मैं अकेला हूँ, और भी ज्यादा अकेला होता जा रहा हूँ। सब कुछ अगर छीन ही लेना है तो फिर रोज दवा क्यों देती रहती हो ? जीवित रहने की यन्त्रणा फिर क्या देती हो ?"

दोनों हाथों से माथा दबाए बाबा फिर से लेट गए हैं। तुम दोनों हाथों से मुँह ढँक कर कमरे से निकल गयीं। मैं देख रहा हूँ।

काफी देर बाद, उस समय तक खड़ा ही था। महसूस किया बाबा मुझे बुला रहे हैं। उनके पास गया। मेरे सिर पर उनका हाथ। उनका हाथ मेरी पीठ पर। कुछ साल पहले, वही स्टेशन की रात फिर से लौट आ रहा है क्या ?

"तेरी माँ को मैंने ठीक ही कहा है।" बाबा हल्के-हल्के मुस्करा रहे हैं। उसे तकलीफ हुई, पर क्या करूँ ? मेरी तकलीफ को भी तो बाँट देना जरूरी है !"

मैं व्याकुल और विचलित होकर बोल रहा हूँ, "क्यों बाबा, आपको इतना कष्ट क्यों है ?"

"कष्ट ? क्यों है ? मेरे ही वाक्यों से बाबा ने सिर्फ दो शब्द कंकड़ की तरह उठा लिया। तुरन्त कोई उत्तर नहीं दिया। थोड़ा-सा दम लेकर बोले, "कष्ट क्यों है ? इस उम्र में तू उसका क्या समझेगा ? मान ले, एक दिन सुबह तड़के तू निकल पड़ा। दिन भर टो टो घूमता रहा। कहीं भी थोड़ा सा सुस्ताने का मौका नहीं मिला। शाम को हैरान होकर तू लौट आया। आकर देखा, अन्दर से दरवाजा बन्द है। धक्का दे रहा है। दरवाजा खुलता नहीं है, हालांकि तेरे पाँव काँप रहे हैं। सिर चकरा रहा है। यह ठीक उसी तरह का कष्ट है। या फिर आधी रात को किसी ने तुम्हें बाहर निकाल दिया है। अँधेरा है, चारों ओर अन्धकार। आकाश में एक भी तारा नहीं है कि तुम्हें दिशा मिले। तू धीरे धीरे खोता चला जा रहा है अन्धकार से और अधिक अन्धकार में, या फिर पाँव तले की जमीन ही धीरे-धीरे तुम्हें बहुत नीचे, खींचे ले जा रही है—समझा ?"

मैं अपलक मूर्तिवत खड़ा हूँ।

"कष्ट तो और भी है। जो कुछ करना चाहता हूँ, उसे कर न पाना। जो कुछ बोलना चाहता हूँ, उसे बोल न पाना, हालाँकि कितना कुछ कहना बाकी रह जाता है। अन्दर ही अन्दर घुमड़ता रह जाता है। अपने को अपने अन्दर ही बन्द रखने की यन्त्रणा बाबा अस्थिर भाव से हाथ हिलाते रहे। 'जब कि मैं इन बातों को बिल्कुल न बोल पा रहा हूँ, न लिख पा रहा हूँ।'

"ठीक है, लिखिए न !" मैंने कहा था, 'बाबा, क्या सचमुच अब आप कुछ नहीं लिखेंगे ?"

धीरे धीरे सिर हिलाकर बाबा ने समझा दिया—नहीं। तकिए पर सिर टिकाते हुए कहा, "बताया न, बहुत देर हो चुकी है।"

"कभी भी नही लिखेंगे ?"

"अगर कभी कुछ लिखा तो, यह देर हो जाने की बात ही लिखूगा।" समझा ? और वही होगा मेरा अन्तिम नाटक। समझा ?" उनके स्वर मे प्रगाढ क्लान्ति थी। "मेरी वह अन्तिम रचना लग्न बीतने के बाद वर के लग्न मडप पर पहुँचने की कथा होगी। पर अगर पूरा नही कर पाया तो उसे तू पूरा करेगा। करेगा न ? तू चाहे तो थोडा और आगे बढ़ा सकता है। तू लिखेगा न ?"

लिखूगा या नही, क्या वचन दिया था बाबा। आज वह सब याद नहीं।

तुम्हें ढूढ़ने पर छत पर पाया।

छत पर सिर्फ एक ही कमरा है। आकार में बरसाती से थोड़ा ही बड़ा, पर उस समय खिड़की-विड़की सब बन्द थी। दरवाजे पर भी ताला था। उसी दरवाजे के सामने सतृष्ण खड़ा था।

तुम कार्निस के पास खड़ी थीं। धीरे धीरे हट कर मेरे पास आकर खड़ी हो गयी। "क्या देख रहा है ?"

'यह कमरा माँ ?"

उसी एक वाक्य मे मेरे मन के भाव अगर समझ नहीं सके तो फिर माँ को माँ क्या कहा गया है, इस कमरे मे रहने की इच्छा हुई है ? हँसते हुए कहा, "बैठन को मिले तो सोना चाह।"

"नहीं, वह बात नहीं है। यहाँ काफी एकान्त है न। पढने-लिखने में सुविधा रहती। इम्तहान म अब देर कितनी रह गयी है।"

"कमरे मे ताला लगा हुआ है। पता नहीं कौन रहता है। देखू, मासीमाँ के आने पर बोलूगी।"

"सुना है, कोई एक दादाबाबू रहते हैं। वे लोग बता रहे थे।"

"दादा बाबू ?" तुमने थोड़ा सोचा। "इसका मतलब, मासीमाँ का वही पोता होगा। सुना है अपनी दादी के साथ, वह भी त्रिवेणी गया है। अगर वह रहता है, फिर ता···फिर तो।" समझ रहा हूँ, कमरा नहीं मिलेगा। साफ-साफ बताने मे तुम्हें तकलीफ हो रही है। "खैर, मासीमाँ को पहले आने दे।" तुमने इतना कहकर उपसंहार किया।

थोड़ी देर बाद तुमने कहा था, "पर तेरे बाबा को नीचे का कमरा बहुत पसन्द है।' तुम थोड़ा रुक गयी। उसके बाद माँ यह क्या ? तुम्हारा ही गला काँप क्यो रहा है ? तुम भी अचानक क्यो बोल पड़ी, "मुझे भी डर लग रहा है। एक दूसरी तरह का भय।"

किसका भय ? इस बार तुमने बड़ी मजबूती के साथ मेरा हाथ थाम लिया

है। "तुम्हें महसूस नही हुआ ? थोडा भी समझ नही पाया ? सुना नही, यहाँ आने के पहले तेरे बाबा किस तरह की बातें कर रहे थे।

"शुरू से ही वे कहते रहे हैं ?"

"कहते तो हैं, पर यह उससे अलग तरह की थी।"

"क्यो ? उन्होंने ढेर सारी जो बाते की हैं वे सब स्वाभाविक थी, बल्कि नया व्यापार-ओपार शुरू करने की बात कर रहे थे "

"उसी से तो मुझे डर है। उन्हे तो मैं तेरे पैदा होने के बहुत-बहुत पहले से जानता हूँ। देख, पता नही क्यो उसी समय से मुझे वैसा वो लग रहा है। किसी तरफ से ही हो, वे बदलते जा रहे हैं। या तो एकदम स्वाभाविक हो जाएँगे, नही तो एकदम हिसाब के बाहर चले जाएगे। उन्हे उन्हें फिर हम लोग सम्हाल नही सकेंगे।"

"फिर से चले जाएँगे। यह सोच रहो हो क्या माँ ?"

तुम हँसती हो। "चले जाना कई तरह का हो सकता है कुछ भी कहले मुझे कुछ ठीक नहीं लग रहा है। कुछ छुपाना चाहते हैं वे। किसी एक कष्ट को वे जी जान से दबाए जा रहे हैं।"

"किस बात का कष्ट माँ ?"

"नही समझ सके ?~ वे घर-गृहस्थी नही चला पाए, इस बात का कष्ट। यहाँ आकर रहना पडा, उस बात का कष्ट। हम लोगो को परजीवी होना पडा, खुद भी हो गए। इतना भी नही समझ रहा है।"

माँ! जो कुछ बोल रही हो धीरे-धीरे बोलो। उस खुले आकाश मे लाखा-करोडों कौतूहली आँखे नीचे झुकी हुई हैं, देख नही रही हो ?

"उनके मन मे," तुम बोल रही थीं, "उनके मन मे एक काँटा चुभ गया है। उस काँटे को निकाल देना चाहते है। वरना इतने दिनो बाद वे सब पुराने व्यापार-पयापार की बाते क्यो करने जाते ? असल म हम लोग आश्रित, अन्नदास बन गए हैं, इसे एक तरह से भूलना चाहते हैं। खुद को बहला रहे हैं।"

"चलो, चले जाएँ!" तुम्हे कहते हुए सुना। साधारण-सी बात थी, पर सुनकर सिहर उठा। याद है, मैंने फुसफुसाते हुए पूछा था, "कहाँ ?"

"यहाँ से, जहाँ भी हो। यहाँ और नही।" माँ! तुम्हारे वे छोटे-छोटे वाक्य पूरी तरह उच्चरित होकर भी खत्म नही हो गयी। इतने दिन बाद भी नही ?

"मुझे ले चलेगा ? वापस ले जा सकेगा ?" तुम्हारी बाते प्रार्थना की तरह सुनायी पड रही थी।

कहा लौटने की बात कर रही हो ? उस जगह का नाम तुम्हारी आँखो मे पढ़ पा रहा था, सो पूछा नही।

* * *

उस मकान मे बितायी गयी पहली रात को भूल नही पा रहा हूँ, इसलिए

इतनी बातें लिख गया। बाबा, मैं एक कमरे में, तुम दूसरे कमरे में थीं, कब आकर लेट गयी हो, पता नहीं चला।

कुछ और देर बाद, बाबा जब लेटने लगे थे, दरवाजे पर दस्तक हुई। किसी ने गला खखारते हुए पूछा, "प्रणव बाबू सो गए क्या ?"

अविनाश की आवाज थी। बिना प्रतीक्षा किए ही वह अन्दर आ गया। "माचिस है माचिस !" बाबा की ओर देखते हुए वह न जाने कैसे स्वर में बोला। बाबा बोले, "हूं।" उसके हाथ में माचिस थमा दिया। उसने हथेली की आड़ बनाकर एक तीली जलायी। पर बुझ गयी। उसने फिर से जलायी, फिर बुझ गया। "थू," खिड़की के पास जाकर थूकते हुए अविनाश ने कहा, "बीड़ी जलाना हो नहीं चाहती है। बार-बार बुझ जा रही है।" लेटे-लेटे ही तीली की रोशनी में उसका दमकता हुआ चेहरा देख पा रहा हूँ। कोई मतलब भरी है उसकी आखों में, कोई गूढ़ इरादा ? समझ नहीं पा रहा हूँ। अच्छा नहीं लग रहा है। छटपटा रहा हूँ।

"चलेगा ?" उसने कहा, फिर बाबा को हलके-से ठेलता हुआ बोला, 'लीजिए न जनाब ! खासी नहीं होगी। इसका नाम मेनका जोड़ा है।" बाबा ने क्या कहा सुना नहीं, पर देखा बिना कुछ बोले बीड़ी ले रहे हैं। मुझे पसीना आ रहा है। चादर भीगती जा रही है। अविनाश बोला, "दो-चार और रख लें। रात को जरूरत पड सकती है न।" इतना कहकर उसने बिस्तर पर और भी बीड़ियाँ फेंक दी। मैं पसीने में लथपथ। माँ ! बाबा देख नहीं पाये थे, मैं आँखें भी पोंछ रहा था। अविनाश चला गया।

अंधेरा कमरा। चारो ओर जितनी तरह की आवाजें थी, सबने विकट स्वर में हमारे ऊपर आक्रमण की। कहीं झिंगुर, कहीं कोई रतजगा पक्षी। मैं पहचानता नहीं हूँ, पर उनमें से एक आवाज़ को पहचानता हूँ। कुत्ते की। अचानक, पता नहीं क्या जिद चढ़ी, दौड़कर बाहर निकल गया और कुत्ते को बगीचे के बाहर तक खदेड़ आया। बाबा उस समय तक बैठे थे। दोनों हाथों को आंख के सामने फैलाए, मुझे देखकर कहा, "एक गिलास पानी।" दिया। पी गए। उनका हावभाव उखड़ा-उखड़ा सा। टूटा हुआ। चमकती हुई आखें पर पानी से नहीं। वैसे ही थके हुए स्वर में बोले, "कहां गया था ?"

"कुत्ते को खदेड़ आया बाबा ! कितनी बुरी तरह रो रहा था।"

"इसलिए खदेड़ दिया ?" बाबा ने सिर हिलाते हुए कहा, "आगे से मत खदेड़ना।"

'मैं अवाक होकर देख जा रहा हूँ, इसलिए धुंधली रोशनी में देखा, बाबा हल्के से मुस्कराए थे। निष्प्रभ पीली रोशनी में वह हंसी खो गयी। "क्यों मना कर रहा हूं ? कुत्ते बाहर से गन्द दीखते हैं, पर उनका सब कुछ हम कहाँ जानते हैं ? वे लोग रात के पहरेदार होते हैं। फिर विवेक भी तो कोई चीज है न ! रात की जाग्रत आत्मा ही शायद उसके कण्ठ से आर्तनाद करती हो !

ये सब अर्थहीन बातें थी, माँ ! मैं समझ रहा था, किसी दूसरे आर्तनाद को दबाने की कठिन चेष्टा । विस्तर के ऊपर उस समय भी कुछ बीडियाँ पडी हुई थी ।

"बाबा !" मैंने फुसफुसा कर कहा "उस आदमी के पास माचिस थी । मैं जान गया था । वह जब जा रहा था, उस समय जेब म हाथ डालते ही खडकी थी ।"

"मुझे मालूम है ।" प्रशान्त स्वर मे बाबा ने कहा, "मुझे मालूम है । वह जानबूझकर मेरा अपमान कर गया । बता गया कि वह और मैं दोनो बराबर हैं । हम दोनो ही यहाँ क नौकर है ?"

वह स्वरहीन, तरगहीन स्वर को मैं बरदाश्त नही कर पा रहा था । जल्दी से उठता हुआ बोला, "पर बाबा, कल या परसो दीदा मा तो आ जाएँगी, उनके आते ही ।"

बाबा अस्वाभाविक रूप से हस पडे, "हाँ फिर तो एक फैसला होगा ही । ठीक कहता है प्रमोशन मिलेगा नौकर से घर जमाई ।"

झुक कर मेरा गाल दबाते हैं और फिर उसी तरह जोर-जोर से हसने लगे ।

*   *   *

कुछ देर बाद कमर म तुम आयी थी । शायद उस हँसी की आवाज से तुम्हारी नीद खुल गयी थी । आँखे सूजी हुईं, इधर-उधर देख रही थी । भारी स्वर मे पूछा था, "क्या बात है ?"

बाबा अब हस नही रहे थे, पर मुस्कराहट होठो से थमा गो गयी नही थी । बाबा बोल रह थे, "बात क्या होगी ? और थोडो देर पहले आने पर मुझे नही पाती ।"

"यह भला कैसी बात हुई ?"

"फिर से वैरागी बन कर निकल जाता और क्या ? तुम तब भी सोयी रहेगी । बुद्ध देव या चैत य दव न गृह त्याग क्यो किया था, मालूम है ? असली कारण को मैंने समझ लिया है । आदमी जब सो नही पाए, छटपटाए, प्रहर पर प्रहर यूही बीत जाए और वह देख कि उसके पास जो है, विशेषत उसकी पत्नी, गहरी नींद मे बे-खबर होकर सो रही है, उस समय ससार बडा उदासीन लगता है । तुम कौन, कौन तुम्हारा ? परिवार-परिजन स्वार्थपर लगने लगता है । बुद्धदेव और चैतन्य ने इसी से ।"

गम्भीर स्वर म तुमने कहा, "बस करो । न तुम बुद्ध हो । न चैतन्य ही ।"

अब आकर बाबा के खिले-चेहरे पर एक परछाइ उतर आयी । हँसते हुए

चेहरे पर पीड़ा झलक आयी थी। सांस भरते हुए वे बोले, "पता है, मैं कोई नहीं हूँ। कुछ नहीं।"

अपनी गलती को तुमने तुरन्त महसूस कर लिया। "छि, टूटने से काम नहीं चलेगा।" मुझे दिखाते हुए कहा, "यह तो है। किस्मत में हुआ तो वह खरा होगा। आते समय मकान मालिक को अकड़ में साफ कह जो आए हैं कि हम लोग भाग नहीं रहे हैं। मेरा लड़का लायक बनेगा। तुम्हारी पाई-पाई चुका देगा।" बोलते-बोलते तुमने मेरे सिर पर हाथ रखा, "क्यों रे? नहीं चुका सकेगा?"

किसी तरह बोला, "सकूँगा।" और मेरी विश्वासी माँ! तुमने बाबा की ओर घूमकर गाढ़े स्वर में कहा था, 'ईश्वर का स्मरण करो। सब कुछ फिर से ठीक हो जाएगा। परीक्षा का परिणाम अच्छा हो। तुम्हारी तबीयत भी ठीक हो जाएगी। ईश्वर को पुकारो।"

"नहीं पुकारूँगा।" चौंकाते हुए बाबा साफ शब्दों में बोल उठे, "नहीं पुकारूँगा।"

"ईश्वर पर विश्वास नहीं है? अब भी नहीं है?"

'है," बाबा धीरे धीरे बोल रहे हैं, 'है, तभी तो नहीं पुकारूँगा।"

"फिर से पहेली?" तुमने व्यग्य पूर्ण स्वर में कहा।

"पहेली नहीं, पहेली नहीं।" बाबा अधैर्यपूर्वक बोले, "तुम समझ नहीं रही हो। हम लोग अपनी छोटी-छोटी जरूरतों पर उन्हें बुलाते हैं, इसलिए किसी बड़े काम में उन्हें काम में नहीं ला पाते हैं। मनुष्य तुच्छातितुच्छ स्वार्थ और छिटपुट कारणों से लगातार उनकी सहायता मांगता है, इसलिए ठगे जाते हैं, कम से कम मैंने जब भी कुछ चाहा है, ठगा ही गया हूँ।"

इस आत्माधिकार के बाद बाबा अपने आवेग से रुँधे हुए स्वर को मुक्त करने के लिए ही शायद रुक गये। फिर भी कष्ट से विकृत हो उठा उनका स्वर, "चाहा था, तभी तो जहाँ सचमुच की जरूरत थी, वहाँ न मिली उनकी कृपा, न करुणा। सबके साथ कदम मिला कर चल रहा था देश की मुक्ति के लिए। वहाँ भी पिछड़ गया, सो टूट गया, और लेखन? वहाँ और भी कठिन सजा उन्होंने दी—कहाँ, मुझसे उन्होंने उनके उपयुक्त कुछ लिखवाया क्या नहीं? सोचा था, तुम सबके साथ मिलकर एक सपनों भरा परिवार बनाऊँगा, अपने अन्तिम कुछ वर्षों के लिए पर वह सपना भी गिरे हुए स्वास्थ्य और शरीर के साथ ही टूट कर चूर-चूर हो गया है।"

हम दोनों खामोश! माँ, तुमने मेरी ओर देखा। आँखों में उत्कंठा, आतंक। आँखों से ही पूछा, "कैसा समझ रहा है? बीमारी इनकी घटी है या बढ़ा है?"

मैंने भी मन ही मन में जवाब दिया, "कुछ समझ नहीं पा रहा हूँ। इस मकान से मुझे डर लगने लगा है! माँ! मुझे यहाँ से छोड़ जाना है!

सुधीर मामा ने कहा, "अरे यह क्या बचपना है ? आ, इधर आ।"

(मानवीय भाषाओ मे जितने भी सम्बोधन हैं, उनमे से यह "आ" सम्बोधन सबसे ज्यादा हरा सुशीतल है, तृष्णा के किसी पेय की तरह। गहरा अर्थवान। आश्वासनो से ध्वनित है यह—"आ।")

सुधीर मामा ने कहा, "आ।" वही सुधीर मामा मा ! तुम्हे याद आ रहा है ?

कैसे उनसे मुलाकात हुई ? पूछ रही हो ? बताता हूँ। मुझे थोड़ा स्थिर होने दो।

* * *

उसके बाद का दिन बहुत बुरा बीता। कुछ भी अच्छा नही लग रहा था। न वह मकान न बाग। गगा तो बिल्कुल ही नही। नदी, एक गदा नाला लग रहा था। किसने मुझे खाने को दिया, कहाँ बैठकर खाया, सीलनदार रसोई मे पीढे पर बैठकर या उसके बगल वाले कमरे म रखे सफेद झक पत्थर के टेबुल पर ! इन सब बातो की ओर मेरा कोई ध्यान ही नही था। किसी तरह सिर झुकाए खा रहे हैं। जितनी जल्दी हो सके। खाना तो नही, असम्मान की मुट्ठी ! जिससे सिर्फ पेट का गढ़ा ही भरा जा सकता है। खा रहा हूँ और सोच रहा हूँ, खत्म होते ही भाग जाऊगा।

जाऊँगा, पर कहाँ ? कालेज ? अच्छा नही लग रहा था। लेक्चर का एक शब्द भी दिमाग म घुस नही रहा था। मेरे प्रिय कितने काव्य, सब कड़वे और बकवास लग रहे थे।

क्लास से स्टेशन भाग गया। वही स्टेशन, बहुत दिन पहले ! कितने दिन पहले हे भगवान ! कितना अरसा पहले ? जहाँ एक शाम को आकर उतरे थे ! स्टेशन मुझे अभी भी अवश, आविष्ट करता है। कम से कम काफी दिनो तक करता रहा है।

एक-एक गाडियाँ चली जाती हैं। मरी पलकें ईर्ष्या से काँप जाती हैं। मैं देखता रहता हूँ। डिब्बो के बाहर लकड़ी के तख्ते पर लिखा हुआ, एक-एक जगह का नाम। मैं पढ़ता हूँ, कुढ़ता हूँ।

फिर भी वह कौन-सा आकर्षण था, जिसके पीछे मैं स्टेशन चला गया ? पर जाता अक्सर ही था। उस दिन भी गया था। कारण तो बताया ही। मन उचाट था। लौटने की तबीयत नहीं हो रही थी। और फिर लौटूंगा भी कहाँ, उस मकान में ? वहाँ बाजा सौदा-सुलुफ लाने वाले नौकर या फिर मुनीम नहीं तो घर जमाई। और तुम माँ ? सोचते हुए भी कष्ट हो रहा था।

पर उस दिन स्टेशन में खडे रहकर तुम्हारी भी मुक्ति की बात सोचा था। रह तुम भी नहीं पा रही थी। लौट जाना चाहती हो वहा, जहाँ से हम आए थे।

*　　　　*　　　　*

अचानक उस दिन एक काम कर बैठा। एक ट्रेन ज्योंही धीरे धीरे स्टेशन से खिसकने लगी थी, मैं बिना कुछ सोचे-समझे त्योंही एक डिब्बे का हैंडल पकड कर उस पर चढ गया। मेरे पास टिकट नहीं था।

(जन्मभीरु भी कभी-कभी कोई न कोई साहस का काम कर ही बैठता है।)

शुरू-शुरू मे अच्छा ही लग रहा था। ट्रेन के हिचकोले मे भी एक आवेश है। विशेषत अगर खडे रहा जा सके। टलमल-टलमल, गाडी सिर्फ खुद ही हिचकोले नहीं खाती है, बल्कि अपने आसपास जो कुछ तस्वीर की तरह स्थिर रहता है, सबको हिचकोले खिलाती है। यात्रियो मे कोई अखबार पढ रहा है तो कोई आपस मे हस बोल रहा है। उन सबमें, मैं अपरिचित अनधिकारी एक आगन्तुक, मेरी भी एक अलग दुनिया थी—अस्वस्ति और भय की। कहाँ जा रहा हूँ, क्यो जा रहा हूँ क्या होगा जाकर, इन सब प्रश्नो ने कोचना शुरू कर दिया था।

एक बूढे से सज्जन खिडकी के पास बाहर की शाम के साथ अपनी आँखें मिलाए बैठे हुए थे। सोचा उनकी बगल मे बैठ जाऊँ, पर भरोसा नहीं हुआ। उनकी ओर थोडा झुककर पूछा, "यह गाडी कहाँ जाएगी ?"

उन्होने मेरी ओर मुह घुमाया और एकबार सिर से पाव तक मेरा मुआयना करते हुए बोले, "आप तुम्हे कहाँ तक जाना है ?"

"बहुत दूर," मैंने हकबकाते हुए कहा।

(ऐसा ही तो ! ठीक ही बात है, बहुत दूर मैं जाना चाहता हूँ।)

उन्होने शक भरी नजरो से मेरी ओर देखा, यह ट्रेन तो बहुत दूर तक नहीं जाएगी !' उसके बाद फिर से मुह घुमाकर बैठ गए और बाहर की शाम में डूब गये।

उसी समय वह आया। वही चेकर। पांवदानिया से होते हुए वह कितनी सुगमता से हम लोगो के कमरे मे आ गया। "टिकट कहाँ है, टिकट ! टिकट,

टिकट !" मौखिक परीक्षा के कठिन प्रश्न मुझसे पीछे जा रहे हैं। उत्तर एक का भी नही द पा रहा हूँ।

उसने भी मेरे आपादमस्तक का निरीक्षण किया। आँखो का सुई की तरह घुमा कर बोला, "नही है ?" उस समय किसी कठपुतली की तरह सिर्फ सिर हिलाया था ? याद नही।

उसने फिर पूछा, "कहाँ जाओगे ?"

बोल बैठा, "सियालदाह।'

सुनकर चेकर अपने चेहरे को बहुत कुत्सित बनाकर हँस पडा। सबको सुनाते हुए बोला, "सुन रहे हैं ? यह छोकरा कह रहा है सियालदाह जाएगा।" उस समय गोद म झाडन बिछाकर जो लोग ताश खेल रहे थे, उनम से एक ने ऊँट की तरह मुह उठात हुए चेकर की हँसी के साथ अपनी हँसी मिलायी।

चेकर बोला, "छाक रा ! फोकट मे पैसेजरी करना चाहता है ? पर फाँकी मारने की चतुराई का ठोक से अभी सीखा नही है। बुद्धि का घट बिल्कुल ठन-ठन है क्या ? यह गाडी तो आ ही रही है सियालदाह मे, हा हा हा। या फिर उभी बदमाशी से पार हो जाना चाहते हो छाकरा !"

छोकरा-छोकरा ! बार बार वही एक बात सुनकर मेरा दिमाग गरमा गया। फस्स स बोल उठा, "नानसे स ! किसे क्या कहना चाहिये पता नही है ?"

उसने मुझे तुम कहा था, इसलिए मैंने भी उसे 'तुम' कहा। तुरन्त वह बौख लाया सा मेरी ओर बढ आया। मेरी कमीज का कालर पकड कर मुझे झकझारने लगा और फिर किसी कुत्ते की तरह गुर्राते हुए बोला, तुम्हे पता है ? आज तुम्हे पता कर देंगे। पता है, नानसेन्स का मतलब ?

कॉलर पकड कर उसने मेरा लगभग टेंटुआ ही दबा बैठा था। मेरी आँखें अपने आप भीग उठी।

मैंने बडे रिरियाए हुए स्वर मे कहा, "छोड दो मुझे छोड दो।" उसके दोना हाथ साँप की तरह झूल रहे थ।

"जानत हो ! मतलब जानत हो ?" जब उसका पारा चढने लगता, ता ऊँट की तरह मुह उठाकर हसा था। हाक लगाकर बोला, "जाने दो, जाने दो मल्लिक। लडके की शक्ल नही देख रहे ? नानसे स का मतलब उसे नही मालूम है। अहा, मालूम होने पर भला बालता ?"

चेकर के कालर पकडते मेरा सिर्फ दम घुटने लगा था। पर ज्योही उस आदमी ने कहा "आहा ! जानता नही है।" ऐसा लगा मेरे ऊपर किसी न एक बोतल स्याही उँडेल दी हो।

अपमान ! अपमान ! चेकर उस समय भी तडफडा रहा था, "आज बता दूगा अच्छी तरह।" फिर भी दूसरा क कहने पर, कालर को छोडत हुए गाडा के रुकत ही प्लेटफार्म पर धक्के मार कर उतार दिया। प्लेटफार्म क आखिरी सिर तक

गया था। ट्रेन चली गयी थी, पर सिर अभी तक चकरा रहा था। जी मिचलाने लगा। सामने ही नल है। सिर मे पानी डाला। शीतल जल बहा। दल की झरझर धारा में स्नेह और सान्त्वना सचारित हो जाने लगा। मेरे स्नायुओं मे शिराओं में।

*　　　　*　　　　*

उसी समय सुन पाया था, "आ।" चौंक कर देखता हूँ। सुधीर मामा।

वही सुधीर मामा। अगर कहूँ, देखते ही पहचान गया, तो वह एक चौंकानेवाला झूठ होगा। माँ, तुम्ह तो धोखा नही दे सकता हूँ। ज्योंही उन्होंने कहा "आ," त्योंही मैंने उनके चेहरे से नहीं, आवाज से उसे पहचान लिया। उस बुलाहट को मैं जन्म से पहचानता था न! बहुत बहुत दिनों के बाद फिर से वही बुलाहट!

सुधीर मामा एक बेंच पर बैठे हुए थे। धीरे-धीरे ज्योंही पूछा, "क्या हुआ है?" उस समय वह पानी मैंने महसूस किया आखो से छलकने लगे हैं।" क्या हुआ है?" उन्होने फिर से पूछा। पर मैं जवाब दूँ क्या? मैं उनके पाँव के पास बैठ गया हूँ। उसी बेंच के नीचे। आँखें छलकी जा रही हैं। मैं उसके घुटने पर मुँह रगड रहा हूँ। मेरे सुधीर मामा! वे काँपते हाथों से मेरा मुह उठाना चाहते हैं।

"क्या हुआ है," फिर नहीं पूछा। मेरे गाल पर हाथ फेरते हुए कहा, "बडा हो गया है।"

'बडा हो गया है,' सुनने के बाद मैंने भी उनकी ओर मुह उठाकर देखा। कितने बदल गए हैं वह? बदन का रग पहले जैसा ही गेहुँआ। फिर भी साफ। बाकी चेहरा कहीं बदलता है भला? पर दोनों हाथ और अधिक शीर्ण।

"क्या देख रहा है?" उन्होंने स्मितभाव से पूछा।

"आप बूढ़े हो गए हैं सुधीर मामा।" मैंने शरमाए-से लहजे मे कहा, "बूढ़े और और भी ज्यादा दुबले।"

"बूढ़ा? वे पहले की तरह ही हँस पड़े। "वह तो हो ही गया हूँ। उम्र कुछ कम तो नहीं हुई! दुबला गया हूँ? दुबला होना तो अच्छा ही है। चर्बी-वर्बी भर रही है। सिर्फ चर्बी ही क्या बहुत कुछ झर गया है।

आहत खिन्न स्वर मे, पर मन ही मन मे मैं भी उनसे कहता रहा, यानी बोलना चाहा था, सुधीर मामा! हम लोगों का भी सब कुछ झड चुका है। कलकत्ते ने एक-एक करके सब कुछ छीन लिया है। बाबा का शरीर टूट चुका है। माँ—

"व लोग कैसे हैं रे?" वे लोग यानी कौन लोग? वे लोग यानी माँ। मुझे यह समझने मे देर नहीं लगी।

सक्षेप मे बोला, "अच्छे नहीं हैं, "फिर तुरन्त कहा, "अच्छे हैं।"

चश्मे के अन्दर से उनकी आँखें टुकुर-टुकुर देख जा रही थीं। "अच्छे नहीं हैं, अच्छे हैं? इसका मतलब? कलकत्ता जाकर इन कुछ सालों मे पहेलियाँ बुझाना सीख गया है क्या? मैं गाँव का पुराने समय का सीधा-सादा आदमी हूँ मुझे थोड़ा समझा कर कहो।"

अचानक एक उच्छ्वास मे बोल पडा। "कलकत्ता मुझे अच्छा नही लगता है सुधीर मामा।" इससे ज्यादा कुछ बोल नही पाया। हालांकि सीने के अन्दर बहुत कुछ बोलने के लिए आग लगे बाँस की तरह फटाक-फटाक फटते जा रहे थे। बहुत कुछ कहना चाह रहा था, पर कुछ भी कहा नही जा सका। उसकी जगह बडे भोलेपन के-से अन्दाज में पूछ बैठा, "यह कौन-सा स्टेशन है सुधीर मामा?"

इस बार वे सचमुच अवाक् हो गए। "क्या, दमदम! कौन-सा स्टेशन है यह भी अगर मालूम नही तो आया कैसे?"

सब कुछ समझा कर बताना नही पडा। उन्होने शायद खुद ही समझ लिया। "भाग रहा था? पकडा गया? इसलिए उन लोगो ने उतार दिया? इसलिए रो रहा था?" यह स्वर तिरस्कार का नही, हमदर्दी का था।

मैं रुंधे स्वर मे सिर्फ इतना ही बोल पाया, "मेरे पास टिकट नही था न!"

उन्होंने सिर्फ इतना ही कहा, "आगे से भागना नही। जब तक टिकट न मिले गाडी मे चढ़ना नही चाहिए। उतार दिया जाता है।" बहुत दबे स्वर मे व बोले जा रहे थे। बोलने का तरीका बिल्कुल पहले जैसा।

"मैं भी चला जाना चाहा था, पर नही जा सका। फिर अब तो और भी नही सकूंगा यह जो लाठी देख रहा है न, यह पहले भी थी, पर अब तो अपरिहार्य हो गयी है। इस पर बदन टिकाए बिना एक कदम भी चल नही सकता हूँ। गठिया ने इस लम्बे शरीर को एकदम तोडकर रख दिया है। कितना झुका दिया है, खडे होने पर देखना। जितना था, उससे कम स कम सात-आठ इच कम।"

"जब तक मजबूत था, "सुधीर मामा बोले जा रहे थे, "एक दिन पता चला, सचमुच का कही जाने की जरूरत नही पडती है। बैठे-बैठे ही जाया जा सकता है। बस आँख बन्द करो और फिर ।"

सम्मोहित की तरह सुने जा रहा था। "चल उठा जाए।" सुधीर मामा खडे हो गए। पहले अपनी लाठी खडी की, उसके बाद उस पर टेक लगाकर उठकर खडे हो गए। काफी कुछ पहले जैसे ही, पर अब पहले जितने लम्बे नहीं दिख रहे थे। पीठ धनुष की तरह टेढी होकर सामने की ओर झुक गयी थी।

स्टेशन के शेड के नीचे जितना अधकार लग रहा था, बाहर उतना नही था। आकाश एक बडे थाल जैसा। भोजन समाप्त होने के बाद भी उसके किनारे पर थोडी-सी धूप का जूठन लगा हुआ था।

सडक पर भीड थी। छोटा-मोटा सब्जी बाजार भी सडक किनारे लग चुका था। एक जगह सुधीर मामा कुछ खरीदने के लिए खडे हो गए। पर खरीदा क्या था उन्होने? देखा, कुछ खास चीज नही। एक गुच्छा बासी फूल। उसके बाद फिर से चलने लगे थे।

मैंने अनुभव किया। इस बीच व थोडा हाँफने लगे थे। हाथ की लाठी ठीक

जगह पर नहीं पड रही थी। बोला, "सुधीर मामा! आपको चलने में तकलीफ हो रही है क्या ?"

वे सिर घुमाकर बोले, "अरे, वह कुछ नहीं। थोड़ी-सी तकलीफ तो उठानी पड़ती ही है। जीने के लिए इतना जरूरी है।"

एक गली के नुक्कड़ पर आकर हम लोग खड़े हो गए थे। जो बात मन में कब से घुमड रही थी, अचानक मुह से निकल गया, "आप ठीक बाबा की तरह बातें करने लगे हैं।'

"ऐसा क्या ?" वे थोडा चौंक गए क्या ? पर तुरन्त खुद को सम्हालते हुए बोले, "हो सकता है। घर लौटकर शायद हम लोग एक ही जगह पर आ पहुचे हों। हो सकता है।

बोलते समय भी माँ! सुधीर मामा ने एक बार खाँसा था। उनका गला काँप गया था, "क्या कहते हैं तेरे बाबा प्रणव बाबू ?"

"वह सब क्या मैं आपको बता सकूगा ? बहुत कठिन-कठिन बातें! बाबा काफी बीमार पड गए थे न! अभी भी पूरी तरह ठीक नहीं हुए हैं। उसी समय से कैसी अजीब-अजीब तरह की बातें। बाबा अब भगवान पर विश्वास करने लगे हैं।"

"करने लगे हैं ?" सुधीर मामा ने ऊपर की ओर देखा, मानो भगवान वहीं व्याप्त हैं या नहीं यह देखना चाहते हैं। उसके बाद सिर हिलाते हुए बोले, "पर कहाँ, मैं तो विश्वास नहीं करता हूँ।'

"नहीं करते हैं ?'

सुधीर मामा ने कहा, "नहीं। पर कुछेक रुचि-अरुचि, न्याय-अन्याय को मानता हूँ" हाथ में लिए हुए पीले फूलों को दिखाते हुए बोले, "जैसे ये सब हैं। सुबह भी तो खरीद सकता था ? पर उस समय वे बहुत ताजे रहते हैं। माया आती है। इस समय उन्हें लेने में कोई रुकावट नहीं है। जीवन में जिनकी इच्छाएं रह गयी हैं। उन्हें नष्ट कर देने में मुझे कष्ट होता है। जो सूख गए हैं या खत्म हो आए हैं, मैं सिर्फ उन्हें ही लेता हूँ। हिलाडुला कर स्वस्ति पाता हूं।'

"इसीलिए तो कह रहा था सुधीर मामा! आप ठीक बाबा की तरह बातें करने लगे हैं।'

उन्होंने कहा, "कहां ? उन्हें विश्वास है, मुझे नहीं है।"

उसी समय फस्स से बोल बैठा, "सुधीर मामा! बाबा से आप बहुत नाराज हैं न ?"

बोलने के बाद ही पता चला, मूर्ख जैसा काम कर बैठा हूं! वे शायद दुखी व नाराज हो जाएँगे। हाथ की लाठी काँपने लगेगी। पर ऐसा कुछ भी नहीं हुआ। आतंकग्रस्त की तरह बोल पड़े, ' गुस्सा ? नहीं, बिल्कुल नहीं।

हम लोग फिर से चलने लगे थे। सहजता फिर से आ गयी थी। वे सारा हालचाल पूछ रहे थे। बीच में एक बार बोले थे, 'तू तो जेंटलमैन बन गया है।"

कहाँ रह रहा हूँ, सुनकर बोले, "फिर तो यहाँ से ज्यादा दूर नहीं है। पास में ही है, कच्ची सड़क पकड़ कर चला जाएगा, सीधे पश्चिम में। दो-तीन मील का रास्ता होगा। मैं इस गली के आखिरी सिरे पर रहता हूँ वह जो टालियोवाला मकान देख रहा है, सामने नल है! वही।" सुधीर मामा थोड़ा-सा रुके, फिर बोले, "अच्छा तो फिर ठीक है।" याने विदा कर रहे हैं। फिर भी मुझे इतस्तत करते देख फिर थोड़ा मेरे पास आए, 'जाऊँगा एक दिन तुम लोगों के यहाँ। तेरा भाई कितना बड़ा हो गया है भाई, माँ बहन? देख आऊँगा।"

कहकर ही वे धीरे-धीरे डेरे की ओर बढ़ गए। मेरे मन में कुछ कौतूहल रह ही गए। उस डेरे में और कौन है भामती? भामती के बारे में कुछ पूछ ही नहीं सका।

उस दिन लौटते समय मन पर एक सुखावेश हरी घास की तरह फैला हुआ था। थोडा-थोडा ओस भी जमने लगा था उन घासो के पोरा पर—भय का ओस। रास्ता भी पहचाना हुआ नही। उस दिन शाम के बाद ही वे सारे इलाके सुनसान हो जाते थे। सीधा चला जा रहा हूँ। यही ठीक पश्चिम दिशा है तो? सुधीर मामा ने कहा था, सीधे पश्चिम की ओर। सुधीर मामा! रह-रहकर सीने के भीतर स रक्तोच्छ्वास उमड आता।

अन्तत काफी चलने के बाद जानी पहचानी जगह दिखलायी पडने लगी। गगा भी दीख गयी, उसके बाद यह तो सामने फाटक है। रात होने के कारण दरवाजे बन्द पर उसके मजबूत इस्पात के कपाट, एक बहुत बडे आश्वासन की तरह। फाटक के सामने पहुँच कर जान म जान आयी।

सबसे पहले तुमस मुलाकात हुई। पता था, होनी ही थी। ढेर सारी कैफियत देनी होगी। पता नही कितनी डाँट खानी पडेगी। कैस क्या कहूँ कौन-सा बहाना गढू, सोचते-सोचते अन्दर जो कुछ खदबदा रहा था, उसे उच्छ्वास के प्रवाह मे निकाल दिया।

"पता है माँ! सुधीर मामा से आज मुलाकात हुई थी।"

तुम्हारा चेहरा जो अब तक सिकुडते हुए चादर जैसा हुआ पडा था, वह मानो तुरन्त-तुरन्त खीच कर बिछा दी गई। सहमे हुए स्वर मे एक बार कहा, "कौन? क्या कहा?"

"सुधीर मामा।"

शायद थोडा-सा पहले वाला रूखापन। तुम एकदम भावलेश-शून्य-सी हो गयी हो। अब तक मैं डरा हुआ-सा था, पर अब साहस मिल गया। उसके बाद मुझे छत पर ले जाकर पूछताछ। मेरा सब कुछ बताना। तुम्हे वह सब मालूम है, आज सिर्फ उसका खाका भर खीचूगा।

*   *   *

क्या? और क्या?—और कुछ नही।—कैसे हैं?—अच्छे ही, बताया न!—अच्छे? वह तो रहेगा ही। क्यो?—हम लोगो का हालचाल पूछ रहे थे। हम लोगो का मतलब? किसका-किसका? बाबा का मेरा। तेरे बाबा का और तेरा? आह,

और ! और कुछ नही । और कोई बात नही हुई ! बहुत बातें हुईं, बताया तो । बाबा के ऊपर अब कोई नाराजगी नही है ।—नही है ? तेरे बाबा के ऊपर कोई नाराजगी नही है ? अच्छा !

"बाबा के ऊपर नाराजगी नही है," इस बात से विस्मय अथवा हताश होने जैसी बात क्या थी माँ, मुझे मालूम नही । ठीक उसी समय बाबा ऊपर आ गए थे, इसलिए । वरना उस तरह पूछताछ कब तक चलती रहती, पता नही । तुम जल्दी से बोल पडी, "सुनते हो, सुधीर दा के साथ आज तुम्हारे बेटे की भेंट हुई थी । वही सुधीर दा । उन्होंने क्या कहा है, पता है ?"

बाबा ने माँ की ओर देखा ।

"कहा है, तुम्हारे ऊपर उन्हे कोई नाराजगी नही है ।" मानो बडा मजेदार कोई बात हो । सुनकर बाबा हँस पडे थे और निर्मल स्वर मे कहा था, "नही है न ? मुझे पता है, नही रहेगा । मुझे भी नही है । सिर्फ गुस्सा ही क्या, कुछ भी बहुत ज्यादा दिनो तक नही रहता है । उड जाता है, ठडा पड जाता है, धूमिल हो जाता है । समझी ?"

तुमने बहुत तत्परता से कहा था, "समझ गयी, समझ गयी हूँ । तुम दोनो मिल गये हो, समझ गयी हूँ ।"

मैंने बहुत धीमे स्वर मे कहा, "सुधीर मामा एक दिन आएगे, पता है ? बडी मजेदार बात कही है उन्होने । मेरे भाई या बहन कितने बडे हो गए हैं, आकर देख जाएँगे ।"

यह बात मजेदार थी, इसलिए या किसी और कारणो से तुम्हारे चेहरे का रग एकदम बदल गया, 'पहले इस बात का जिक्र क्यो नही किया ?' तुम हस रही थी, "सुधीर दा ने झूठ कहा है समझे ?" बाबा की ओर देखते हुए कहा था, "गुस्सा एकदम से ठडा नही पडा है । थोडा-सा रह गया है, समझे भोलानाथ ? वरना भाई-बहन की बात नही करता ।"

* * *

उस मकान मे हम लोगो का आश्रित जीवन किस तरह गुजरता रहा, उसका रोजनामचा मैंने रखा नही है, पर याद है कष्ट, अपमान-बोध आदि की सुइयाँ क्रमश अपनी सूक्ष्मता खोती जा रही थी ।

बगीचे के कोने-कोने मे, गगा के किनारे, जिस समय बाबा पेड पौधे ढूढते फिर रहे हैं, जड समेत कोई-कोई पौधा उखाड ला रहे हैं, उस दृश्य को आज भी साफ देख पा रहा हूँ । और यह भी समझता हूँ कि, व्यापार के लिए उपादान संग्रह करने का वह बहाना भर था । बाबा अपने लिए ही दवा ढूढ रहे थे—सम्मानबोध जगाए रखने का कोई जड, या फिर ऐसा कुछ करना, जिससे अपमान-बोध को कम से कम सुला कर रखा जा सके ।

और मैं ? अपने लिए भी मानो उसी तरह की कोई दवा किस्मत से मिल गयी थी। माँ ! उस दिन तुम समझ नहीं पायी थीं, समझना चाहा भी नहीं था, फिर भी आज फिर से बोल रहा हूँ। उस दिन अगर मेरे मन के अन्दर झाँककर देखती, तो किशमिश की घटना को लेकर क्षिप्त नहीं हो उठती। कैसे क्या घट गया था, आज फिर से सिलसिलेवार कहने बैठा हूँ तुम्हारे एजलास में—अपनी इस जवानबंदी में। यह मेरी आखिरी कोशिश है।

वह घटना, घटने के कारण ही मैं जी गया। मेरे मुरझाए पड़-छ दिन फिर से तरोताजा हो गए थे। आज इतने दिन बाद लिखने बैठ कर भी सोच रहा हूँ, आह ! अगर किशमिश शुरू से वहाँ रही होती ! पर नहीं, वह आयी सबसे बाद में। उससे पहले मेरे बहुत से निचोड़े हुए, सूखे कष्ट के दिन गुजरे हैं।

* * *

तुम्हारी मासीमाँ, उस घर की जो मालकिन थी, हालाँकि वे दो दिन बाद ही आ गयी थी। साथ में उनका पोता। उनके आते ही घर में कितनी चहल-पहल हो गयी थी !

सचमुच तुम्हारी मासीमाँ बहुत अद्भुत महिला थी। मेरी दीदीमाँ। उस दिन कालेज से लौटने पर देखा, घर पर मानो धूम पड़ गयी है झाड़-पोंछ, सफाई-धुलायी की धूम। सहमे कदमों से मैं ऊपर गया। उन्हें प्रणाम किया, तुरन्त उन्होंने मेरी ठुड्डी उठाते हुए कहा, "आहा ! एक कन्हैया जैसा !"

"दीदीमा ! मैं तो काला ही हूँ।" शरमाते हुए कहा था। उन्होंने तुरन्त गाल दबाया, "दुख गया क्या ? पर बेटे मैंने बदन के रंग के लिए नहीं कहा था। इतना सुन्दर चाँद-सा मुखड़ा इसलिए कहा था। कन्हैया ! तुम्हारी यह राधा खूबट बुढ़िया ही है। पसन्द आएगी ? देखना भई, बाद में धोखा मत देना।"

मैं बुरी तरह शरमाता जा रहा था। ऊपर से तुम बगल में ही खड़ी थीं, इसलिए चाहते हुए भी रसिकता करने की हिम्मत नहीं पड़ी। तुमने ही जल्दी से कहा 'क्या कहती हैं मासीमाँ ? अभी भी आपका जो रूप है ! साक्षात् अन्नपूर्णा ! रंग भी दमक रहा है। मेरी मासीमाँ लगती ही नहीं हैं।"

तुम उनका मन रखती जा रही थीं, यह समझ में आ रहा था। तुमने अपना काम समझ लिया था। पर मेरा काम क्या था ? उस समय भी ठीक-ठीक समझ नहीं पा रहा था। इतना भर ही महसूस कर पाया था कि वे परम सुन्दरी हैं, बुद्धिमती भी—मेरी ग्लानि पोंछ देना चाहती हैं। सत्य यह था कि वे अन्नपूर्णा हैं और मैं अन्नपूर्णा का अन्नदास।

अचानक गौर किया, ड्योढ़ी के बाहर से कोई मुझे हाथ हिलाकर बुला रहा है। रंग एकदम गोरा-चिट्टा। पर वह लड़का है या लड़की यह चट् से समझना मुश्किल था।

दीदीमाँ ने उस ओर देखते हुए कहा, "मेरा पोता है।"

पीता ? अच्छी तरह उधर फिर से देखा। कोई लडका इतने लम्बे बाल रखता हो, ऐसा पहले नही देखा था। वह धीरे-धीरे कमरे की ओर चला आ रहा था। उसकी आखो मे सुरमा, गले के पास पाउडर के पर्त भी दीख रहे थे। कुर्ता भी एकदम महीन, समीज जैसा। और वह दुबला भी जरूरत से ज्यादा था, फीका सा। पास आकर उसने फिर से आँख दबायी। समझ गया कि वह उठने का इशारा कर रहा है। तब तुमने ही कहा, "जा न ! उसके साथ थोडा घूम आ।"

नीचे उतरते समय उसने मेरा नाम पूछ लिया। भौ सिकोडते हुए पूछा, "उम्र ?" सुन कर ठड्डी पर उँगली रखकर उसने गर्दन तिरछा कर कुछ सोचते हुए बोला, "मुझसे बडे हो या छोटे ?" किसी लडके को उस तरह नज़ाकत के साथ खडे होते, पहले नही देखा था। असल मे उसकी आवाज़ जितनी बार सुन रहा था, उतनी बार चौंक रहा था। रिनरिन मीठा स्वर। बाँसुरी की आवाज़ जैसी। उसी स्वर मे वह बोल रहा था, "मेरानाम भी बासी है। शायद मेरी आवाज़ इस तरह की होने के कारण उन लोगो ने यह नाम रखा है। अच्छा नाम ? मेरा अच्छा नाम नीला—नीलाचल है।" उसका कोमल स्वर शाम की फुरफुरी हवा मे काप रहा था। उसकी दोनो काली आँखो की पुतलियाँ व्यथित हुई थी। कम से कम मुझे कोई बात सूझ नही रही थी।

हम लोग एक पेड के नीचे बनी वेदी के ऊपर बैठ गए थे। बैठने से पहले उसने जेब से रूमाल निकाल कर जगह साफ कर लिया था। मुझे बात न करते देख, उसने कमर से लेकर सिर तक हिलाकर मुझे अद्भुत तरीके से धक्का दिया। "मुझे पता है, तुम क्या सोच रहे हो।" उसके हिल्लालित शरीर मे अपर्याप्त सुवास था। वह खीच-खीच कर बोल रहा था, "सोच रहे हो न, इस लडके मे कितना औरतपना है। यही न ?" उसने फिर से मुझे ढकेला।

मेरी नाक मे तेज खुशबू आ लगने के कारण, मैंने मुह घुमा लिया और फिर थोडा सरक कर बैठते हुए पूछा, "तुम तुम सेन्ट क्यो लगाते हो ?"

वह उनीदी-सी कातर आँखो से देखता हुआ बोला, "लगाता हूँ। पाउडर भी लगाता हूँ। आदत पड गयी है, वरना बदन घिनघिनाता है। खुद से ही घिन आने लगती है।" कहकर भाव-भगिमा के साथ हँसते हुए बोला, "घिन आ रही है ?"

और यह काजल ? क्यो लगाते हो ?"

"आँख ठडी रहती है। सब कुछ सुन्दर देख पाता हूँ। वरना ऐसी आदत पड गया है कि आँखे जलने लगती हैं। चारो ओर सब कुछ जलते हुए देखता हूँ। विश्वास करो, कुछ भी सह नहीं पाता हूँ। विश्वास करो।"

उसकी बातो से महसूस करता हूँ कि यह जो सुरीला कोमल स्वर और लवगलतिका प्रतिम है, उसके भीतर भी कहीं एक आग है। एक प्रतिवाद है।

उसी समय एक नौकर ने आकर सूचना दी कि चाय-नाश्ता तैयार है। बाँशी ने कहा, "ले आओ न ! यहीं ले आओ।"

सिर्फ एक तश्तरी आयी थी। उसने अवाक होकर देखा। सब कुछ समझते हुए, विशेषत उस नौकर की हिचकिचाहट को देखते हुए जल्दी से मैं बोल पड़ा, "मैं तो मैं तो शाम को खास कुछ " नौकर भी मौका पाकर बोला, "वे तो, वे तो झनझनाहट के साथ कांसे की तश्तरी वेदी के सान पर किसने पटक कर मारा। आवाज़ सुनी। वही, लड़की जैसा दीखने वाला लड़का भयंकर क्रोधित हो गया है। उसका सारा शरीर काँप रहा है।

नौकर डर गया था। बोला, "ठीक है, ये भी खाएँगे। आइए न !"

"नहीं-नहीं। चलो मैं भी चलता हूँ।"

दोनों एक साथ खाने की मेज़ पर बैठते हैं। तश्तरी, गिलास, सब फिर से आए। दोनों के लिए। मैं अब तक रसोईघर में ज़मीन पर आसन बिछाकर खाया करता था, उसका ज़िक्र बाँशी से नहीं किया। साँप की तरह जिसकी देह ठंडी थी, उस समय भी साँप की तरह फुफकार रहा था।

उस दिन से मेरे लिए भी खाने की मेज़ पर ही जगह लगने लगी।

और रात को तुमने कहा, "बाँशी ने कहा है कि तेरा भी बिस्तर उसके कमरे में ले जाया जाए। उस कमरे में सो पाएगा तो ! सोएगा ?"

सीधे सीधे जवाब न देकर बोला, "और तुम ?"

"मैं मासी माँ के कमरे में रहूँगी।"

दादा की बात पूछना फिजूल था। दादा अकेले रहते हैं ? इसमें नयापन क्या है ? बरसाती चाहा था, अयाचित रूप में बरसाती में ही प्रमोशन मिल गया। माँ ! जीवन इसी तरह अनेक ताच्छिल्य अपमान और अवहेलना ने झुलसाया है। कुछ दाग रह ही गए हैं। पर फिर बहुत-सी तुच्छताओं को मिटाते हुए भी आगे बढ़ा हूँ।

*　　　　*　　　　*

शीशे के सामने खड़ा वह उँगलियों के पोर से क्रीम निकाल कर चेहरे पर रगड़ रहा था। पाँव की आहट पाकर बोला, "आओ।"

मज़ाकिए लहजे में मैंने कहा, शायद अब इसके बाद तुम चोटी भी बाँधोगे ?'

मेरी हिम्मत बढ़ती जा रही थी। पर उसने बड़े कातर-भाव से मेरी ओर देखा। लम्बे-लम्बे केश-गुच्छों को मुट्ठी में भरते हुए कहा, "मज़ाक कर रहे हो ? करो। सभी करते हैं।" उसने एक और गहरी साँस छोड़ी। थोड़ा आगे आकर अपने मुलायम कोमल हाथों से मेरा हाथ पकड़ा, "मुझे देखने से किसका खयाल आता है ? सच सच बताना ! ठीक बृहन्नला लगता हूँ न ?

"कहना चाहा, "ऐसा कहाँ ऐसा क्यो कहते हो ?" पर मुझे बीच मे ही रोकते हुए बाँसी ने उसी सुरीले पर विषाद भरे स्वर मे कहा, "झूठमूठ का मुझे भुलावा देना मत चाहो। मुझे मालूम है। मैं तो बृहन्नला ही हूँ, अर्जुन नही। अर्जुन किसी दिन नही बन पाऊँगा।"

एक प्रकार की व्यर्थता-बोध वलय के बाद वलय बनाते हुए फैलती जा रही थी। थोडी देर बाद बनाते स्वर म वह बोला, "बत्ती बुझा दो। रात हो गयी है। आओ सो जाएँ।"

अधेरे मे भी उसके अस्तित्व को महसूस कर रहा था। थोडी देर बाद महसूस करता हूँ। बाँसी उठकर मेरे सिरहाने आकर बैठ गया है। 'सो गए क्या ?"

बोला, "नही।" वह क्या बोलेगा इसकी प्रतीक्षा म रहा।

"एक बात कहने के लिए उठ आया हूँ। एक मकान के एक ही कमरे मे हम लोगो को रहना है। हम दोनो के बीच एक समझौता हो जाना ही अच्छा है। सुनो, मैं जानबूझकर बृहन्नला नही बना हूँ। उन सबने मिलकर बनाया है।

"सब का मतलब ?"

"सब का मतलब सब। मा, बाबा, दीदी सब कोई। माँ और बाबा अब नही है, पर यह बुढिया है।" एक घृणा, अधकार मे भी उसके स्वर म फुफकार रही थी। वह क्या इस धरती पर किसी से प्रेम नही करता है ?

स्वय ही इस प्रश्न को समझते हुए बाँसी बोला, "किसी से भी नही। अपने बाहरी आवरण को मैंने ठडी मिट्टी-कीचड से लेप कर रख दिया है। अदर गुस्से म फट पड रहा है। मेरी छाती पर हाथ रखकर देखो।"

अदाज से हाथ बढाते हुए उसने मेरा एक हाथ पकडकर उठाने की कोशिश की। मैंने हाथ छुडा लिया। बोला, सीने पर हाथ-वाथ रखना यह सब लडकियो वाले नखरे हैं।"

"लडकियो वाले, लडकियो जैसा!" नाराज होकर उसने स्विच दबा दिया। "मुझे लडकिया जैसा बनाया कौन ? वे लोग ही तो।" बाँसी बोलता चला गया, "वह बहुत मजेदार कहानी है। मालूम है ? पहले एक बहन होकर गुजर चुकी थी। मेरी माँ पागल जैसी हो गयी। शोक मे यह बुढिया पत्थर बन गयी। फिर उसके तीन साल बाद आया मैं! उन लोगो को क्या हुआ पता है ? बुढिया ने शायद किसी तीर्थ पर जाकर सपना देखा था, माँ को फिर से लडकी हो होगी। जो चली गयी है वही फिर से लौट आएगी। मरा हुआ आदमी कभी वापस आता है ?"

सिर हिलाकर बोला, 'आता नहीं है, पर इसान सोचता है। सपना देखता है।' माँ, तुम्हारी एक पुरानी तस्वीर उभरती आ रही थी।

बाँसी बोल रहा था, "हुआ मैं, उन्हे फिर से चोट खाना पडा। उस दुख को भुलाने के लिए उन लोगो ने आनन हो क्या किया ? सुनकर आश्चर्य करोगे, मुझ

शुरू से ही लडकियों की तरह रखने लगे। फ्राक, चूडी, हार, बाला, यह सब तो था ही, यहा तक कि यह देखो नाक मे लौंग और कान मे झुमके के लिए छेद भी था। लडकियो वाले सारे हाव-भाव सब कुछ वह बुढ़िया बैठे-बैठे सिखाया करती थी।"

"तुम सीखते क्या थे ?"

"वाह र ! मैं क्या उतना कुछ उस समय समझ पाता था ? काफी दिनों तक मैंने अपनी हमउम्र किसी लडके तक को नही देखा था।"

"बकवास है।

"बकवास नही। मैं तो तुम्हारे सामने जीता-जागता बैठा हू।" थोडा ठहर कर वह फिर से बोलने लगा, "हालांकि बाद मे मुझे एक बहन भी हुई। तुमने अभी उसे देखा नही है। उसका घर का नाम किशमिश है। उन लोगो की लडकी तो हो गयी, पर मेरा फिर लडका होना नहीं हुआ।"

मैंने कहा, 'सिर्फ उन्हें ही क्यो कोस रहे हो। तुम क्या खुद को बदल नहीं सकते थे ?"

बासी के होंठो पर बुझी हुई मुस्कराहट फैल गयी, "नही बदल सका। स्वभाव, चमडे की तरह बदन से सट गया। क्या चाहने भर से अपने को बदला जा सकता है। टामबॉय किस्म की लडकियों के बारे म सुना होगा। चाहने पर क्या वे लोग ही फिर से अपने अन्दर लडकीपन ला पाती हैं ?"

मैंने कहा, "सब बकवास है। तुम जानबूझकर ऐसा बने हुए हो, तुम्हारी अपनी गलती है। इतने लम्बे-लम्बे बाल क्यो रखे हो ? इन्हें काटने म कौन-सी रुकावट है ?"

"रुकावट ? कुछ नही।" कहते हुए बाँसी ने अपने घने बालो के गुच्छो को मुट्ठी म पकड लिया, "कैंची ले आओ। मैं तुरन्त इन्हे काट दूंगा। पर।" दीर्घ श्वास छोडते हुए वह निढाल-सा हो गया। "पर उससे भी कुछ नहीं होने वाला। मैंने दोबारा सिर मुडवाया है न ! जब बाबा-माँ गुजरे थे। मेरे सिर में चकके चकते दाग हैं। सब निकल आए एकदम से। मुझे सिर्फ उन लोगो ने ही क्यो, भगवान ने भी तरह-तरह से मार कर रखा है।"

वह फफक-फफक कर रोए जा रहा था। उतने बडे लडके को इस तरह रोते हुए पहले नहीं देखा था।

बाँसी बोल रहा था, "कदम छाँट बाल रखकर भी देखा मैं और भी बदसूरत दीखने लगा था। शीशे म खुद का चेहरा देखते ही डर जाता। मेरी धँसी हुई आँखें, पिचके हुए गाल, लम्बे-लम्बे बालों में फिर भी कुछ हद तक ढक जाता है।" फिर थोडा हँसते हुए बोला, "कहा न, भगवान ने भी मार रखा है वरना मेरी आवाज लडकों जैसी क्यो नहीं हुई ? एकदम तुम्हारी तरह हां ?"

बाँसी रह-रहकर हिल जा रहा था। वह निर्निमेष नासी दृष्टि से ताके हुए

था। महसूस किया कि वह मुझसे ईर्ष्या कर रहा है। मेरी इस फटी हुई आवाज पर भी ईर्ष्या की जा सकती है, पहली बार पता चला।

बाँसी काँप रहा था। फूल की पखुड़ियों जैसी उसकी कोमल उँगलियों से उसने मेरे गाल पर हाथ फिराया। मैंने उसका हाथ हटा दिया। तब वह और ज्यादा काँपता हुआ, मेरे और नजदीक चला आया और फिर एकदम मेरी आँखों के ऊपर झुक गया। मैंने तड़ाक से हाथ उठाया। उसने चौंक कर पूछा, "क्या है ?" बोला, "मक्खी।" "मक्खी ? इतनी रात का इस बरसाती के हवादार कमरे मे मक्खी ?" उसने विश्वास नही किया। उदास आंखों से वह मानो कुछ ढूढता रहा।

मैंने कहा, 'छि ! इस तरह नही करते।"

अद्भुत आच्छन्न स्वर मे वह बोला, "किस तरह ?"

उसके बोलने का लहजा कैसा था, ठीक से समझ न पाने के कारण कहा, "इस तरह। लडके-लडका के साथ इस तरह नहीं करते। नही करना चाहिए।"

"लडका ?" फीके स्वर म बाँसी बोला, "मैं क्या लडका हूँ ? तो फिर वे लोग हमेशा लडकी का पार्ट क्यों देते हैं ? कहते हैं, मैं लडकी का पार्ट बहुत फाइन करता हूँ, हमारे मोहल्ले मे जितने भी नाटक हुए हैं, मुझे लडकियों का पार्ट मिला है। संयुक्ता के डायलॉग सुनोगे ? सुना दूँगा एक दिन। उस बार एक सीन को इतनी तन्मयता के साथ किया था कि, जो हीरो बना था, वह विंग्स के पीछे मुझे खींच कर ले गया और फिर मुझे जकड कर ।"

बाँसी हाँफ रहा था। बाँसी पसीने-पसीने हो रहा था। मैंने जल्दी से उसका मुह बन्द कर दिया।

रुंधे हुए स्वर म उसने कहा, "मुझे उन लोगों ने एक बार होस्टल म भेजा था। लडके कितने बदतमीज हो सकते हैं, तुम सोच भी नही सकते। व लोग मुझे चिढ़ाते, 'दिखाओ दिखाओ' कहकर चिकोटी काटते। इधर उधर गुदगुदाते। दो-तीन सप्ताह ही दो तीन महीने जितने हो गए। मैं रोज ही रोता। एक दिन वहाँ स भाग आया। बुढ़िया फिर से मुझे भेजने की बात सोच रही है, पर अब मैं हरगिज नही जाऊंगा, कभी नही !" होस्टल विभीषिका के छाप से उसका चेहरा विवर्ण हो उठा। मैंने उसे लेट जाने के लिए कहा।

लडकियो जसा वह लडका, जिसका नाम बांसी था, सोच रहा हूँ वह मेरे जीवन के उस अध्याय मे प्रक्षिप्त और गौण था या नही। पर अगर गौण ही होता तो उसके बारे मे इतने विस्तार म लिखता ही क्यो ?

बांसी, जिसने पहले दिन ही तकिए मे मुह गडाकर सिसकते हुए कहा था, "मुझे पता है, तुम लोग जिसे हिजडा कहते हो, मैं एक तरह से वही हूँ।"

बासी की व्याधि कठिन थी, पर उस दिन जो कुछ समझा उससे लगा कि उसका मन उससे भी कही ज्यादा उलझा हुआ है।

मां, तुम्हे आज सारी बाते ही खोल कर कही जा सकती हैं। बांसी के पास एक जिल्द वाली कापी थी। उसम ढेर सारी तस्वीरे चिपकायी हुई थी। किसकी तस्वीरे बताओ तो ? धत् ! तुम नही बता पाओगी। तुम जो सोच रही हो, वह सब नही। सारी तस्वीरें पहलवानो—व्यायामवीरो की थी, तस्वीरो के नीचे उनका परिचय दिया हुआ था।

उस दिन उसने वह कापी दिखलायी सोचा, थाडा इसे छेडू, "तुमने ये सारी तस्वीरें क्यो रखी हैं ?"

"उन लोगो के जैसा नही बन सकूगा, यही कहना चाह रहे हो न ? पता है।" बासी ने आहत स्वर मे कहा, "पर उससे क्या ? उनकी पूजा तो कर सकता हूँ ?'

"हीरो वरशिप ?"

"बोलना चाहते हो, बोलो। शायद इस आदत को भी औरताना कहोगे ?"

'नही, नहीं। असल म लडके तो छिपा कर लडकिया की ही तस्वीरें रखते हैं, खासकर विलायती फिल्म स्टारो की। अपने क्लास म कुछ लडको का इकट्ठा करते देखा है।"

भौंवो को ऊपर उठाते हुए बांसी बोला, 'लडकिया की तस्वीर इकट्ठा करके मैं क्या करूंगा ? कोई भी लडका । ' इस बार मानो उसने कलेजा फाडकर शिराए

निकाली, "कोई भी लडकी मुझे अपने पाँव के नाखून से भी छूना पसन्द नही करेगी। मेरे कोमल हाथ, रुई जैसे मुलायम गाल ।"

उसे हँसाने के लिए मैंने कहा, "गाल पर हँसते समय डिम्पल भी पडते हैं।" पर वाँसी हँसा नही। मेरी हथेली अपने गाल पर रगडता हुआ बोला, "अभी तक दाढी नही निकली है। यह आवाज़, यह गाल तुम्हे बताया तो, चारो ओर से भगवान ने मुझे तमाशा बनाकर रख दिया है।" अचानक, उत्तेजित हाहाकार से चूर-चूर हो जाने वाले स्वर मे उसने कहा, "सकोगे ? सकोगे ? मुझे तुम किसी लडकी का प्यार ला दे सकोगे ? किसी भी एक का ?" मेरी हथेली मानो झुलसती जा रही थी। किसी कोमल व्यक्ति की साँस भला इतनी गर्म हो सकती है ?

मंद स्वर मे मैं कहता हूँ, "मैं तुम्हे बदल दूँगा।"

वह अंगीकार अर्थहीन था, फिर भी मैंने कहा था। बदल देने को मैंने बहुत आसान काम समझ लिया था, क्या ?

वह मेरी ओर स्थिर दृष्टि से देखते हुए, मेरी बात सुन रहा था। अचानक व्याकुल होकर बोला, "दो, दो, दो ! क्या देने की बात कर रहे थे ?" क्या देने की बात कर रहा था ? उसे बदल देने की बात ? उस आर्त प्रार्थना को मैं भुला नहीं सकता हूँ। अब तक जो कुछ लिखा है, उसमे उस बृहन्नल बासी का एक और पक्ष नही दिखाया था।

एक दिन महसूस किया कि एक और कठिन बीमारी वह भोग रहा है। उसके उस ओर ज्योत्स्ना की कोमल आभा नही है। बल्कि एक झुलसन है।

उसके उस अंगारवर्ण पक्ष को देखकर मैं चौंक गया था। "लडका बना दो। बना दोगे तो तुम्हे सब कुछ दूँगा।" यह एक सलाप व एकाश मात्र था। दूसरा वाक्यांश तुरन्त किसी विस्फोट की तरह, "जिस दिन किसी लडके की तरह बना सका, हे ईश्वर, उस दिन ।"

"तो क्या ?"

"मैं एक लात जमाऊँगा।"

"किसे ?"

"सबको। पर सबसे पहले इस मकान को। इसकी दीवारो को थर-थर कंपाता हुआ इसके दरवाजो को तोडता-फोडता एकदम से निकल जाऊँगा।"

'कहाँ ?"

"जहा जी चाहेगा। पर यहाँ नही। तुम्हे पता नही है, मैं इस घर से कितने भयकर रूप से घृणा करता हूँ। कितना गुस्सा मन मे पाल रखा हूँ।"

"यह तो तुम लोगो का अपना मकान है।"

"अपना ? थू !" विकृत स्वर मे हँसा। "सब बकवास, धोखाधडी है। अपना कुछ भी नही है। मेरे बाबा, तुम्हें पता नही है, मेरे बाबा इस बूढ़ी की गोद लिए हुए बेटे थे।"

"मालूम है।"

"तो फिर अपना क्या हुआ ? उड़कर आकर जुड़कर बैठ जाना हुआ। मेरे बाबा के बाबा याने उनके असली पिता, बहुत गरीब थे। लालच में आकर पैसे वाले रिश्तेदार को अपना बेटा बेच दिया। वही पाप, प्रथम पुरुष का पाप। पाप बाबा ने भी किया—सुख में रम कर अपनी माँ को छोड़कर, दूसरे को माँ कहा। माँ बदलना, यह क्या कम पाप है ?"

कुछ समझ रहा था, कुछ नहीं समझ पा रहा था, उस नाजुक से लड़के की बातों के बहाव में मेरे तुतलाने की बारी थी। बुद्धू की तरह बोला, "पर तुमने तो कोई पाप नहीं किया है ?"

'सब के पाप मेरे पूरे शरीर पर विष्ठा की तरह लगा हुआ है," उसने अस्थिर स्वर में कहा, "पाप उन लोगों ने किया, प्रायश्चित मैं करूँगा। उससे पहले मुझे सचमुच का मर्द बनना होगा।"

*　　　　*　　　　*

इतनी देर बाद जाकर उसका चेहरा देख पाया हूँ—वह चेहरा फीका-सा, रंग पुता, बहुरूपिया का। पहली बार पता चला कि बाँसी के मन का एक कोना प्रबल साहसी है। उसका यह नकली साज सज्जा उसके असली मन का एक प्रतिवाद है। बीच-बीच में वही बाँसी मुझे सोच में डाल देता। अगर वह सिर्फ किसी लड़की जैसा नखरे वाला लड़का होता तो शायद इतनी परेशानी नहीं होती।

उस दिन शाम को कमरे में घुसते ही मैं चिल्ला पड़ा था, "बाँसी!" उस्तरा हाथ में लेकर वह उसमें सान दे रहा था। ठहर गया। उसकी आँखें हाथ में पकड़े हुए उस्तरे की तरह ही चमक रही थीं। शान्त स्वर में बाँसी बोला, "डरो नहीं। गले की नस-वस मैं नहीं काटूँगा। मैं सिर्फ परख रहा हूँ। इतने में ही डर गए? तुम तो मुझसे भी गए बीते हो।"

उसका स्वर स्वाभाविक था। उसके लिए जितना सहज होना सम्भव था उतना ही सहज था, पर साफ देख रहा हूँ, उसकी दृष्टि में एक बौरायापन है।

फिर भी उसी बौरायी नजर से मानो मुझे ढाँढस बँधाना चाहा। "डरो नहीं। खून-वून वाली कोई बात नहीं होगी। बहुत होगा तो गाल की खाल काट वाट दे सकता हूँ, उससे ज्यादा नहीं।"

"तुम हजामत बनाओगे ?"

आँख दबाकर उसने कहा, "परती जमीन पर खेती ? हा हा हा ?"

"तुम्हारी सारी बातों में नाटकीयता है।"

"नाटक ही तो करता हूँ। वही तो एक चीज है, जिसमें मजा मिलता है। लड़की बनकर स्टेज पर उतरता हूँ। कोई इतना-सा भी खोट नहीं निकाल पाता है।

सबको ठगता हूँ। क्लब मे एक नया नाटक खेला जाने वाला है—सामाजिक। जाओगे देखने ?"

बोला, "जा सकता हूँ।"

लगातार कुछ दिनो तक वह पार्ट मे ही रमा रहा। एक कापी लाकर दिन भर अपना पार्ट रटता रहता। "सुनो-सुनो यह डायलाग सुनो। देखो कैसा उठाया हूँ।" सचमुच उसके उच्चारण और हाव-भाव मे कही कोई कसर नही था। आँखें तिरछी करके देखने का अन्दाज तक लडकियो जैसा।

* * *

फिर भी उसके हाथ से एक दिन उस्तरा छीन ही लेना पडा। उस दिन वह काँप रहा था। घुडकते हुए मैंने कहा था, "छि ! क्या कर रहे हो ? आज रिहर्सल मे नही जाओगे ?"

"गया था, पर अब और नही जाऊँगा। जाने की जरूरत नही रह गयी है।"

उस दिन बाँसी चेहरे पर रंग नही पोते हुए था। हथेली से आँख ढकते हुए बोला, "और नही जाऊँगा। मुझे अब शायद नायिका का पाट नही देंगे। एक लडकी आ गयी है। पता नही कहाँ से वे ही लोग ले आए है।"

'मतलब ?"

"लडकी मतलब लडकी। समझे नही ? लडकियो से ही लडकियो का पार्ट कराने की हवा चली है। पब्लिक स्टेज मे पहले ही था, अब मोहल्ले के क्लबो मे भी चल पडा है। पता-वता देता रहा हूँ, इसलिए चट से मुझे हटा नही पाए। घुमा फिरा कर बोलते रहे। पर मैं समझ गया हूँ। वह वही लडकी आज आयी थी। दिन भर बैठकर मेरा पार्ट देखती रही। डॉयलाग सुनती रही। बीच मे एक बार किसी के इशारे पर उठ कर आयी, और एडी पर बल देकर कमर लचका कर किस तरह पार्ट बोलते हुए घूम जाना चाहिए, मुझे दिखलाया। मैं सब समझ रहा था। मेरे पाँव काँप रहे थे। रटा हुआ पार्ट था तो ! फिर भी गलती हो जा रही थी। जो लडका हीरो था वही जो एक बार मुझे विंग्स के पास ले जाकर उसने क्या किया पता है ? मुझे चिढ़ाया। मुझे ढकेल दिया। मैं समझ गया। उसे भी लोभ हो आया था। वह चाहता है उसके अपोजिट का रोल उस लडकी को मिल जाए। मैं भला समझता नहीं हूँ ?"

साफ सुथरा फर्श, रोशनदार कमरा, पर वहाँ एक साँप फुफकार रहा था।

"मैं सब कुछ समझता हूँ !" बाँसी कह रहा था, "सब समझता हूँ। वे लोग मुझे झूठमूठ की बातो से बहलाना चाहते हैं। मैं पहले ही समझ गया था। सेक्रेटरी, बूढ़ा, ट्रस्ट, उसके भी लार टपक रहे है, उसने मेरी पीठ पर हाथ फेरते हुए कितना

"मालूम है।"

"तो फिर अपना क्या हुआ ? उडकर आकर जुडकर बैठ जाना हुआ। मेरे बाबा के बाबा याने उनके असली पिता, बहुत गरीब थे। लालच मे आकर पैसे वाले रिश्तेदार को अपना बेटा बेच दिया। वही पाप, प्रथम पुरुष का पाप। पाप बाबा ने भी किया—सुख मे रम कर अपनी माँ को छोडकर, दूसरे को माँ कहा। माँ बदलना, यह क्या कम पाप है ?"

कुछ समझ रहा था, कुछ नही समझ पा रहा था, उस नाजुक से लडके की बातो के बहाव म मेरे तुतलाने की बारी थी। बुद्धू की तरह बोला, "पर तुमने तो कोई पाप नहीं किया है ?"

"सब के पाप मेरे पूरे शरीर पर विष्ठा की तरह लगा हुआ है," उसने अस्थिर स्वर म कहा, "पाप उन लागो ने किया, प्रायश्चित मैं करूँगा। उससे पहले मुझे सचमुच का मर्द बनना होगा।"

*　　　　*　　　　*

इतनी देर बाद जाकर उसका चेहरा देख पाया हूँ—वह चेहरा फोक रंग पुता, बहुरूपिया का। पहली बार पता चला कि बासी के मन का एक प्रबल साहसी है। उसका यह नकली साज सज्जा उसके असली मन का एक ... है। बीच-बीच मे वही बाँसी मुझे सोच मे डाल देता। अगर वह सिर्फ किसी ... जैसा नखरे वाला लडका होता तो शायद इतनी परेशानी नहीं होती।

उस दिन शाम को कमरे मे घुसते ही मैं चिल्ला पडा था, "बाँसी !" हाथ मे लेकर वह उसम सान दे रहा था। ठहर गया। उसकी आखे हाथ ... हुए उस्तरे की तरह ही चमक रही थी। शा त स्वर मे बाँसी बोला, "... गले की नस-वस मैं नही काटूगा। मैं सिर्फ परख रहा हूँ। इतने मे ही डर ... तो मुझसे भी गए बीते हो।"

उसका स्वर स्वाभाविक था। उसके लिए जितना सहज होना ... उतना ही सहज था, पर साफ देख रहा हू, उसकी दृष्टि मे एक बौरायापन ...

फिर भी उसी बौरायी नजर से मानो मुझे ढाढस बधाता ... नहीं। खून-खून वाली कोई बात नही होगी। बहुत होगा तो गाल की ... दे सकता हूँ, उससे ज्यादा नही।"

"तुम हजामत बनाओगे ?"

आँख दबाकर उसने कहा, "परती जमीन पर खेती ? हा हा ...

"तुम्हारी सारी बातो मे नाटकीयता है।"

"नाटक ही तो करता हूँ। वही तो एक चीज है, जिसम म... लडकी बनकर स्टेज पर उतरता हू। कोई इतना सा भी खोट नहीं ...

सबको ठगता हूँ। क्लब मे एक नया नाटक खेला जाने वाला है—सामाजिक। जाओगे देखने ?"

बोला, "जा सकता हूँ।"

लगातार कुछ दिनो तक वह पार्ट मे ही रमा रहा। एक कापी लाकर दिन भर अपना पाट रटता रहता। "सुनो-सुनो यह डायलाग सुनो। देखो कैसा उठाया है।" सचमुच उसके उच्चारण और हाव-भाव मे कही कोई कसर नही था। आँखें तिरछी करके देखने का अन्दाज़ तक लडकियो जैसा!

* * *

फिर भी उसके हाथ से एक दिन उस्तरा छीन ही लेना पडा। उस दिन वह काँप रहा था। घुडकते हुए मैंने कहा था, "छि! क्या कर रहे हो ? आज रिहसल मे नही जाओगे ?"

"गया था, पर अब और नही जाऊँगा। जाने की जरूरत नही रह गयी है।"

उस दिन बासी चेहरे पर रग नही पोते हुए था। हथेली से आख ढकते हुए बोला, "और नही जाऊँगा। मुझे अब शायद नायिका का पाट नही देगे। एक लडकी आ गयी है। पता नही कहाँ से वे ही लोग ले आए हैं।"

"मतलव ?"

"लडकी मतलब लडकी। समझे नही ? लडकिया से ही लडकियो का पार्ट कराने की हवा चली है। पब्लिक स्टेज म पहले ही था, अब मोहल्ले के क्लबो मे भी चल पडा है। चदा-वदा देता रहा हूँ, इसलिए चट के मुझे हटा नही पाए। घुमा-फिरा कर बोलते रहे। पर मैं समझ गया हूँ। वह वही लडकी आज आयी थी। दिन भर बैठकर मेरा पाट देखती रही। डॉयलाग सुनती रही। बीच म एक बार किसी के इशारे पर उठ कर आयी, और एडी पर बल देकर कमर लचका कर किस तरह पार्ट बोलते हुए घूम जाना चाहिए, मुझे दिखलाया। मैं सब समझ रहा था। मेरे पाव काप रहे थे। रटा हुआ पार्ट था तो! फिर भी गलती हा जा रही थी। जा लडका हीरा था वही जो एक बार मुझे विग्स के पास ले जाकर उसने क्या किया पता है ? मुझे चिढाया। मुझे ढकेल दिया। मैं समझ गया। उसे भी लोभ हो आया था। वह चाहता है उसके अपोजिट का रोल उस लडकी को मिल जाए। मैं भला समझता नहीं हूँ ?"

साफ सुथरा फर्श, रोशनदार कमरा, पर वहाँ एक साँप फुफ्कार रहा था।

"मैं सब कुछ समझता हूँ !" वाँसी कह रहा था, "सब समझता हूँ। वे लोग मुझे झूठमूठ की वातों से बहलाना चाहते हैं। मैं पहले ही समय गया था। सेक्रेटरी, बूढा, खूसट, उसके भी लार टपक रहे हैं, उसने मेरी पीठ पर हाथ फरते हुए कितना

"बिल्कुल। पर 'चढना' सुनने मे भद्दा लगता है। चढते नही, चढाते हैं—स्टेज पर। टैक्सी के लिए जो नियम है, एकदम वही। जो किराया देगा, वही चढ़ सकेगा।"

"तुम अपने बारे मे बताओ। वहाँ से खीच लायी हो, और तब से सिर्फ इधर-उधर की बातें।"

"लडकियाँ जल्दी बदन जाती हैं। पर तुम बैठो नहाकर आती हूँ। भागना नहीं। क्या लेगा, चाय या और कुछ ? मैं दस मिनट मे आती हूँ। बदन घिना रहा है। तब तक बल्कि माँ को भेज देती हूँ।"

"माँ ?" तुम्हारी माँ बूला ? लीला मासी ? वे भी क्या ?"

"यही रहती हैं।" निकलते हुए बूला गर्दन घुमा कर हँसती है, "माँ और बेटी, देख रहे हो न ! फिर से एक साथ मिल गयी हैं।'

लीला मासी को देखा। चेहरा बदल चुका था। अडे के आकार का चेहरा मासल होकर गोलाकृत हो गया था। किसने सब कुछ बदल दिया ? बूला को भी, लोला मासी को भी, शायद उम्र ही है जो एक को कुछ देती है, तो दूसरे से कुछ छीन लेती है। एक ही मालिक कुछ लागो को बहाल कर रहा है, तो वही दूसरो को खारिज ! लीला मासी को देखकर मैं समय के उस समय के उस पक्षपात का अच्छी तरह समझ पा रहा था।

अपने को हम लोग, हमेशा देखते नही हैं, या फिर लगातार देखते रहने से एक समझ नही पाते हैं। बहुत दिन बाद जब एक दूसरे को देखते हैं, तो चौंक जाते हैं। दिन-महीना-वर्ष—वप यानी एक समय सिर्फ पाना और एक समय सिर्फ खोते रहना। शेप हो जाना।

कुछ बना-बना कर कहा था। मैं गलत न समझूं। जमाना बदल रहा है। जमाने की हवा, जमाने की माँग—लड़कियां के रोल म लड़का को देखकर अब लोग नाक सिकोड़ते हैं, थू-थू करते हैं।

फीका चेहरा लिए बाँसी देखे जा रहा था। दृष्टि की शून्यता भी इतनी भयकर हो सकती है, उपस्थित दूसरे व्यक्ति को भी आक्रांत करती है—इससे पहले नहीं जाना था।

पता नहीं किस भरोसे से, उस दिन कहा था, "सब ठीक हो जाएगा।" रिहर्सल म वहाँ क्या घटेगा, किसी न क्या मुझे बता दिया था? कितनी घटनाएं सामने की ओर लम्बी-लम्बी छाया पहले से फैलाए रखती हैं?

यह बात नहीं है कि सीने की धड़कन एकदम से तेज हो गयी थी। अवाक हुआ था, या फिर उतना नहीं जितना होना चाहिए था। कलकत्ते ने बहुत पहले से ही मेरी सवेदना का मातरी कर चुका था।

बाँसी पहले से ही वहाँ था। मैं थोड़ी देर बाद वहाँ पहुँचा था। मुझे देखकर इशारे से बैठने के लिए कहा। पार्ट कोई महिला बोल रही थी। बाँसी ने उस ओर इशारा करके दिखाया।

मैंने देखा—किसे देखा?

माँ, अगर अनुमति दो, तो इस घटना के घंटे भर बाद सुने गए एक संलाप से शुरू करूँ।

* * *

"मैं टैक्सी बन गयी हूँ।" बूला बोल रही थी। वहाँ नहीं अपने कमरे मे बैठकर। ठीक बैठकर भी नहीं कह सकते। अधलेटी होकर।

अधलेटी-सी होकर बूला न कहा "तू अभी तक समझा नहीं? मैं टैक्सी बन गयी हूँ।"

टैक्सी म तो हम लोग अभी-अभी आए हैं। टैक्सी हो जाने का मतलब क्या हुआ? इस तरह की बातें माँ, तुम्हारे इस गोबर-गणेश बेटे के मन मे उमड़ घुमड़ रही थी। पर बूला समझ गयी, वैसे भी शुरू से ही दादी माँ रही है। फिर एक खास उम्र में तो लड़कियाँ अतर्यामी हो जाती हैं।

बोली, "नहीं समझा? याने तू भादू के भादू ही रहा तू! अच्छा बता तो घर की गाड़ी के मालिक कितने होते हैं?"

हकबकाया-सा बोला, "एक ही होता है।"

"और टैक्सी मे?"

"मालिक कितने होते हैं, मालूम नहीं, पर चढ़ते सभी हैं।"

"बिल्कुल। पर 'चढना' सुनने मे भद्दा लगता है। चढते नही, चढाते हैं—स्टेज पर। टैक्सी के लिए जो नियम है, एकदम वही। जो किराया देगा, वही चढ़ सकेगा।"

"तुम अपने बारे मे बताओ। वहाँ से खीच लायी हो, और तब से सिर्फ इधर-उधर की बातें!"

"लडकियाँ जल्दी बदल जाती है। पर तुम बैठा नहाकर आती हूँ। भागना नहीं। क्या लेगा, चाय या और कुछ ? मैं दस मिनट मे आती हूँ। बदन घिना रहा है। तब तक बल्कि मा को भेज देती हूँ।"

"माँ ?" तुम्हारी मा बूला ? लीला मासी ? वे भी क्या ?"

"यही रहती हैं।" निकलते हुए बूला गर्दन घुमा कर हँसती है, "मा और बेटी, देख रहे हो न ! फिर से एक साथ मिल गयी है।"

लीला मासी को देखा। चेहरा बदल चुका था। अडे के आकार का चेहरा मासल होकर गोलाकृत हो गया था। किसने सब कुछ बदल दिया ? बूला को भी, लीला मासी को भी, शायद उम्र ही है जो एक को कुछ देती है, तो दूसरे से कुछ छीन लेती है। एक ही मालिक कुछ लागो का बहाल कर रहा है, तो कही दूसरो को खारिज ! लीला मासी को देखकर भी समय के उस समय के उस पक्षपात का अच्छी तरह समझ पा रहा था।

अपने को हम लोग, हमेशा देखत नहीं हैं, या फिर लगातार देखते रहने से फक समझ नही पात हैं। बहुत दिन बाद जब एक दूसरे को देखत है, तो चौक जाते हैं। दिन-महीना-वर्ष—वष यान एक समय सिफ पाना और एक समय सिफ खात रहना। शेप हो जाना।

कुर्सी पर लीला मासी बैठी हुई हैं। सामने की ओर थोड़ा झुकी हुईं, दोनों हाथ गोद पर फैले हुए। कहाँ वह सुनवा चेहरा, बड़ी बड़ी आँखें, चारों ओर घूमती हुई। मैं उस लीला मासी को कहीं भी नहीं देख पा रहा था।

अचानक लीला मासी उठ खड़ी हुईं। तेज चलते पंखे की गति को स्वीचबोर्ड पर हाथ रखकर कम की, फिर बढ़ायी। देखते ही समझ गया वह अस्थिर थीं, अथवा चंचल, या फिर शायद मेरे अचानक आ जाने से कुण्ठित, या फिर अपने परिवर्तित रूप को मेरी आँख के शीशे में देख पा रही हैं, वरना व्यर्थ ही पंखे की स्पीड बढ़ाना-घटाना कोई मतलब नहीं रखता है।

"बूला से कहाँ मुलाकात हुई थी ?"

"बताया, "थियेटर में किसी थियेटर में। नाच के रिहर्सल में।"

"कौन-सा नाट्य है ?" मुझसे उन्होंने पूछा, पर जब नाम बताया तो उस पर उन्होंने ध्यान ही नहीं दिया। अन्यमनस्क हो गयीं। खुद ही थोड़ी देर बाद कहा, "हाँ, उसका तो आजकल काफी नाम है। जगह-जगह से बुलावा आता है।"

('टैक्सी हो गयी है,' क्या इसी बात को लीला मासी ने भी दूसरे ढंग से कहना चाहा है)

हमारे बीच से समय गुजरता जा रहा है। हम दोनों चुपचाप बैठे हुए हैं। बूला अभी तक आयी क्यों नहीं ? दस मिनट कहा था या पन्द्रह ?

कुछ बोलना चाहिए, पर क्या बोलूँ ? तय न कर पाकर एक बार कहता हूँ, "आपका वह संगीत का स्कूल अब नहीं है मासी माँ ?" थोड़ी हिचकिचाहट के साथ ही बात पूरी कर पाया।

"संगीत का स्कूल, संगीत का स्कूल।" वे सिर हिलाती जा रही हैं। बात का मतलब मानो ठीक से समझ नहीं पा रही हों, "काहे का स्कूल ? संगीत का ? था क्या ? ओह ! हाँ हाँ था। पर अब नहीं है वो ! उठ गया। नहीं-नहीं-नहीं।" अचानक तीव्र स्वर में वे बोल उठीं, "तुम गलती कर रहे हो। कभी भी नहीं था।"

"बूला जो कहती थी !"

"झूठ बोलती थी। मेरी लड़की कितनी भयंकर है, वह तुम भला कितना जानते हो!"

"पाँव मे मोच आ जाने से जिस तरह मनुष्य किसी तरह उठ खड़े होने की कोशिश करता है, मैं भी उस समय वही कर रहा हूँ, "तो फिर बूला जो कहती थी, प्ले-व्ले!"

"नहीं। वह सब भी कुछ नही।" व फिर से गम्भीर हो गयी। मतलब अपने में खो गयी। यह भी एक अजीब किस्म की बात है, जिसे तुम लोगो ने भी अपने समय मे गौर किया होगा? जो लोग किसी महफिल मे बैठकर एक साथ हँसी-मजाक कर रहे हैं, वे लोग पास-पास हैं पर ज्योंही कोई चुप हो गया, तुरंत दूर अपने मे खो गया। बात थमते ही परस्परता भी समाप्त हो जाती है। सब पराए-पराए से।

"बूला को आपका गुण मिला है। याने पार्ट वाट करने का।" मैंने लाचार होकर कहा।

"बूला मुझे पार कर गयी है।" उन्होंने संक्षिप्त कर दिया।

थोड़ी देर बाद धीरे से पूछा, "तो कैसे हो तुम लोग? माँ? बाबा? सब मजे मे हैं तो?" मानो अब आकर उनके ध्यान में आया हो।

"बाबा, बहुत अच्छे नही हैं मासी माँ।"

"तुम लोग उसी डेरे पर ही हो न! तुम्हारे बाबा उसी थिएटर मे ही हैं न?"

"आपको क्या कुछ मालूम नही?" कहते ही महसूस किया कि लीला मासी के जानने की बात भी नही है।

"नही, याने हम लोग मैं हम लोगो ने तो।" समझ गया कि वह कहना चाहती हैं कि बहुत पहले ही व वहाँ से चली गयी थीं। पर सीधे बोल नहीं पा रही थी कि वह प्रसंग उनके लिए अस्वस्तिकर था।

तब सब कुछ बताया उन्हे। बाबा की बीमारी, उनका अक्षम हो जाना, यही सब। सिर्फ माँ, बताया नही, उस बाग वाले मकान के बारे मे, जहाँ हम उस समय रह रहे थे। बता नही सका कि हम लोग आश्रित हैं।

लीला मासी ने सब कुछ सुना। ध्यान से सुना। मेरी बात खत्म होते ही बोली, "तुम्हारे बाबा नाटक-वाटक लिख रहे हैं आजकल?" उनके स्वर मे मजाक का पुट था कि नहीं यह देखने के लिए उनकी ओर देखा।

"नही था, तब बोला, मासी माँ, बाबा को इधर आपने नही देखा है न! वह एकदम बदल गये हैं। शायद सब कुछ छोड़ ही दिया है। अब शायद ही कभी कुछ लिखें।"

"छोड़ दिया?" ऐसा लगा लीला मासी थोड़ा हिल डुल कर बैठी। थोड़ा

उत्सुक हुई, "छोड ही दिया सब कुछ तो पकड कर क्या रखा ?" इतनी देर बाद उनके होठो पर थोडी हँसी दीखी, "कुछ नहीं । एक समय के बाद लोग सिर्फ अपनी-अपनी कुर्सी का हत्था ही मजबूती से पकड सकता है, और कुछ नहीं ।"

इतनी कठिन बात कहने के बाद भी लीला मासी बैठी रहीं । हल्के-हल्के हँस रही थी । उस हँसी को मैं पहचानता हूँ । परास्त हो जाने की हँसी, निःस्व । मैं पहचानता हूँ । बाबा के चेहरे पर दखा है ।

लीला मासी कुर्सी को थोडा और पास खींच लायी । उस हँसी के साथ एक तरह की लज्जा भी घुल मिल गयी थी । लीला मासी ने मध्यम स्वर म कहना शुरू किया है, "अपने बाबा से एक बात कहना, कहोगे तो ? वे अपने को सम्हाल लें । उन्होंने सोचा था कि मेरे चाहने भर से वह नाट्यकार बन सकते थे । उनके मन मे क्षोभ भी रह सकता है । यह ठीक है कि उनके नाटक को मैंने उस समय पस द नही किया था । पर बताओ, तुम तो दख गए कि, मेरी या उनकी इच्छा से कुछ आता-जाता नही है । हम सबकी इच्छा के ऊपर किसी और की इच्छा भी है । उन्होंने हम दोनो को ही खारिज कर दिया है । खारिज—अस्वीकृत—उपेक्षित । मरा भी अभिनय करना नही हो सका । बेटी पर आश्रित हो गयी हूँ । तुम तो देख ही रह हो ।'

"वह वह अपने मन मे किसी तरह का दुख न रखें ।" थोडा ठहर कर लीला मासी न दाबारा कहा ।

"बाबा को ता किसी बात का दुख नही है मासी माँ ।" न जाने क्या सोच-विमूढ़ की तरह बोला ।

*   *   *

लीला मासी ने एकटक दखते हुए मेरे कथन को सुना । "दुख नहीं है ? ' इतना कहने के बाद ही उन्होंने एक अजीब-सा प्रश्न पूछा था । "तुम्हारी जेब में क्या है ?" चौंकते हुए मैंने जल्दी से अपनी जेब पर हाथ रखा । थोडा सकुचाते हुए बोला, 'कहाँ वैसा कुछ तो ।" बात पूरी होने क पहले ही उन्होंने कहा, ' नही है ! यहीं से देख पा रही हूँ । पर तुम्हारी कमीज क अदर की जेब मे क्या है, वह नही बता सकूँगी । थोडा रुक कर, फश पर से कागज उडने जैसा स्वर मे लीला मासी बोली, "किसका कहाँ क्या छुपा रहता है, वह तुम नही जानते ।'

अन्दर के गलियारे म किसी के पाँव की आहट सुनायी पड़ी । लीला मासी के गले का स्वर और चेहरे का भाव अकस्मात बदल गया । बोली, ' तुम आज यहाँ कैसे आए हो, पता नहीं । शायद बुला हा पकड लायी हो तुम्हे । पर आगे स मत आना । बुला बुला दूसरे किस्म की लडकी है । अपनी लडकी है फिर भी कह रही हूँ । तुम किस परिवार के लडके हो यह मुझे मालूम है न ! तुम नही सकोगे । '

(टैक्सी हा गयी है ? वही एक वाक्य रेकाड हो गया है, जिसे मैंने मन ही मन मे एक वार और बजाया ।)

*   *   *

दो अंकों के बीच उस जमाने म कनसट बजाने का एक बहुत बढिया नियम था । बाँसुरी-बेहाला आदि के सहयोग से मनमुग्ध कर देने वाला वाद्य वृन्द ।

तुम्हे निवेदित इस पत्र मे शायद बहुत कुछ अपने अवचेतन भाव से ही मैंने भी क्या उस पद्धति को ग्रहण कर लिया था ? एक-एक घटनाओं को अवतारित करने के बीच खाली जगह को अपने मन के विचारों से भर देता हूँ ।

(जैसे इसी समय बुना कमरे मे आयी है । रहे—थोडी देर प्रतीक्षा ही कर ले क्या हर्ज है ।) उसे खडी रखकर लीला मासी की तस्वीर को इतने यत्न से क्यो बनाया अब तक !

इसका कारण माँ यह है कि इस रचना का जो मूल स्वर है उसे बार-बार वापस लौटा लाना चाहता हूँ । मूल स्वर क्या है ? जगत के पास एक फरियाद । एक जवान बन्दी । जिन्होने मुझे गलत समझा है, मेरे प्रति अन्याय किया है उन्हे धिक्कारू गा । उन्हे अभियुक्त बना जाऊँगा । पर देखो कितना आश्चय है, लिखते रहने के दौरान अचानक अनुभव करता हूँ, जो जितना भी मुझे गलत समझा हो, मैं भी तो बहुतों को गलत समझा होऊँगा ! तो फिर ? इस उपलब्धि के बाद लिखने का तेवर ही बदल गया । जान गया कि अन्तिम हिसाब-किताब चुकाने जैसी कोई बात नहीं होती ।

और चूकि माँ, इस अध्याय पर तुमने शुरू से आखिर तक अधिकार जमा लिया है, आच्छन्न कर रखा है, इसलिए समस्त निवेदन तर्पण हो गया । उसी तपण ने ही मुझे चकित करते हुए बता दिया कि जो कुछ मेरे लिए सत्य है वह तुम्हारे लिए भी हो सकता है ।

माँ, तुम-भी तो जब तक जीवित रही, बहुत दुख और भयकर यन्त्रणा, अविचार और उपेक्षा को ही सहा है । दैवी और मानुषी स्वभाव के क्रमागत रद्द-बदल को तुममे प्रत्यक्ष रूप से देखा है । अभी उदास, अभी तप्त दीर्घश्वास । तुम्हे बहुतो ने गलत समझा है, पर फिर सोचता हूँ तुमने भी तो बहुतो को गलत समझा होगा । यदि उनके लिए अपने मन में क्षोभ, अक्षमता घृणा लिए ही तुम्हारी मृत्यु हुई हो तो ? तब तो जाने के बाद भी तुम्हें मुक्ति नही मिल सकती है । इस जगत का कष्ट लाक भी तुम्हारा अनुसरण करेगा । यह तपण व्यर्थ हो जाएगा ।

इसलिए माँ, पहले भले ही अपनी अन्याय—सब कुछ की स्वीकारोक्ति के द्वारा तुम्हारे सामने घुल जाना चाहता था । पर फिर धीरे-धीरे इच्छा हुई कि सब को बुला लाऊँ—बाबा, सुधीर मामा, मामता । यहाँ तक कि लीला मासी को भी । उलट-पुलट कर प्रत्येक को देख रहा हूँ । देखो-देखो, तुम्हारी ही तरह ही सभी ही अच्छा बुरा मिला कर ही हैं । सम्पूर्ण साफ कोई नही है, होना सम्भव ही नहो, पर

सबके अन्दर ही एक व्यथित-संसार रचा-बसा हुआ है। अंधकार गुफा में जिनका वास है, वे भी कभी न कभी बाहर निकल आते हैं। दबे पाँव कम से कम एक या दो बार जीवन के शीप पर चढ़ते हैं।

उन्हें प्रश्न कर रहा हूँ। उनके स्वार्थ के खातिर, मेरे स्वार्थ के खातिर तुम्हारे स्वार्थ के खातिर। क्यों बोल रहा हूँ, तुम्हारे स्वार्थ के खातिर? वरना, तुम भी यद्यपि विराट के अन्दर स्थित हो, फिर भी क्षुद्रता में ही बन्द रह जाओगे। जिसे प्रेत की अतृप्ति कहते हैं। माँ, उस ज्वाला से मैं तुम्हें मुक्ति देना चाहता हूँ। बुझाना चाहता हूँ वह एक चिता जो मृत्यु के बाद भी जलती रहती है। यह तर्पण, यह कृत्य उसी के लिए।

*　　　　*　　　　*

"तुम इतनी देर से क्यों आयी बूला?"

"देरी कहाँ? वाह रे! बोल तो गयी थी कि बदन धो कर आ रही हूँ। नहीं कहा था?"

"पर बूला!"

"अब तक नहीं बताया तुमसे। मुझे बूला मत कहा करो तो मैं विचित्रा हूँ।"

"यह तुम्हारा नया नाम है बूला?"

"पर फेमस नाम है। नहीं जानते? सुना नहीं है?"

(टैक्सी का नाम क्या विचित्रा है?)

यह मत समझो कि उस समय भी लीला मासी वहीं थीं। वह पता नहीं कब वहाँ से उठकर जा चुकी थी।

"वाह, अब तो मुँह से खूब बोल फूट रहे हैं?" बूला ने मेरी तारीफ की या मजाक उड़ाया समझ नहीं पाया। पर हाँ उसने मेरी गाल जरूर दबायी।

"तुम्हें इस तरह देख पाने की कभी सोचा भी नहीं था।"

भौंवें उसकी तन गयी, "किस तरह?"

उसके प्रश्न को टालते हुए पूछा, "तुम्हें यह जीवन अच्छा लग रहा है?"

"तुम्हारी उम्र कम है, इसलिए ऐसा सोच रहा है। कौन-सा जीवन?"

"कष्ट देने के कष्ट का।" बहुत मुश्किल से मैं बोल पाया। "कष्ट की बात रहने दो।" उसने कहा, 'कष्ट देने की बात क्या कह रहे थे?"

मैंने फिर से बातों को घुमाते हुए कहा, "कह रहा था यह जीवन अच्छा लग रहा है?" तत्काल उसने भी एक ही बात को घुमाते हुए कहा, "तुम्हारी उम्र कम है, वरना समझ जाते। अच्छा, अपने-आप कुछ भी नहीं लगता है। अच्छा लगाना पड़ता है।"

"तुम्हारी माँ को देखा बूला। सीला मासी काफी बदल गयी हैं लेकिन!"

बूला मुस्करा पडी, फिर हँसने लगी। उसकी आँखें नाच रही थी, बोली, "और मैं ?"

"बदल तो सभी जाते हैं बूला! कोई भी एक जैसा थोडे ही रह जाता है! पर मैं ठीक समझ नही पा रहा हूँ। कैसा तो सब गडबडा जा रहा है।"

"याने तू इतिहास जानना चाहता है? इन बीच के साल जब हम लोगो की मुलाकात नही हो सकी, उसे तुम पढना चाहते हो? मैं बोलती जाऊँगी और उसे तुम कठस्थ कर लोगे? अच्छी बात है।" इतना कहकर बूला कुर्सी पर पाँव चढाकर पालथी मारकर बैठ गयी, "कैसी लग रही हूँ देखने मे?" अब उसका चेहरा थोडा गभीर हुआ। बातो का लहजा थोडा सम्हला हुआ। पहले भी उसकी इस क्षमता को देख चुका हूँ—अपने को जाल की तरह फैला कर अदृश्य हाथो से अचानक अपने को समेट लेना।

"कहने लायक कोई खास बात नही है। हम माँ-बेटी एक तरह से बह ही गए थे, पर फिर किनारे आ लगे हैं। हाँ, माँ को ढूढ लिया था। बहुत समय नही लगा था ढूढने मे। माँ ऊभचूभ खाने लगी थीं। तैरना नही जानती थी न! क्या करती? मैंने उन्हें खीच कर किनारे लगाया। समझा?"

मेरी ओर देखती हुई बूला ने अफसोस भरे से लहजे मे कहा, 'बहुत सरस ढग से नही बता पा रही हूँ, इसलिए अच्छा नही लग रहा है? पर यह तो हमारे सघर्ष की कहानी है। सघर्ष मे रस-वस कहाँ होता है? हालाँकि औरतो के सघष को तुम लोग सघर्ष मानते कहाँ हो। 'जीवन सग्राम' जैसा भारी भरकम शब्द तो केवल पुरुषो के लिए सुरक्षित रखा गया है न?"

"माँ को किनारे ले आयी हूँ," बूला फिर से बताने लगी थी। अपनी दृष्टि फश पर टिकाए कहती जा रही थी "मेरी माँ अब कभी पानी मे नही उतरेंगी।" वह थोडा रुकी, बाद मे बहुत आवेग के साथ बोल पडी, "और मैं मैं भी घाट पर आयी जरूर हूँ, पर अभी किनारे उठ नही पा रही हूँ। तुझे तुझे क्या कभी ऐसा नहीं हुआ है? याने पानी से निकलकर जमीन तो मिल गयी, पर कीचड चारो ओर गदगी म ऊपर उठने का रास्ता ही नहो मिल रहा हा?"

"तुम पहेली बुझाने की भाषा में बात क्यों कर रही हो? मैंने इस तरह कभी सोचा नहीं है।"

शान्त स्वर मे बूला न कहा, "कम से कम मुझे तो नही मिल रहा है। पानी के किनारे-किनारे चलते-चलते बेहाल होती जा रही हूँ। पानी म भी काई थी। उसकी गध मेरे बदन से लगी हुई है।" इतना कह कर उसने किया क्या कि कांच का वतन पटक कर मारन की मुद्रा मे हाथ उठाकर खिलखिला कर हस पडे।

मैं कुछ पल तक भौंचक्क-सा रहा, फिर धीरे-धीरे सम्हल गया। याद आ

गया कि मैं वहाँ किस कारण से गया था। बूला को राजी कराना ही होगा। जो खुद इतना दुखी है, वह दूसरे का भी दुख जरूर समझेगा।

कहा, "तुम हमारे मोहल्ले के उस क्लब का पार्ट छोड़ दो बूला।"

इतनी चतुर होने के बावजूद, बूला मेरी बात तुरंत समझ नहीं पायी। अवाक होकर कहा, "मतलब ?"

"मतलब क्या ? उस पार्ट को किए बिना क्या तुम्हारा काम नहीं चल रहा है ?"

बूला तब तक सम्हल चुकी थी। पाँव की उँगलियों को फर्श पर रगड़ती हुई बोली, "चलेगा क्यों नहीं ? इस तरह के न जाने कितने पार्ट मैंने पाँव से इस तरह ठेल दिया है।" किस तरह यह भी उसने पाँव के इशारे से समझा दिया। "पर छोड़ने के लिए कह क्यों रहे हो ?"

"है। कारण है।"

बूला समझदार थी। बोली, "समझ गयी। तू किसी की ओर से तरफ-दारी कर रहा है। पर कौन है रे ? बता न ! तेरा कोई है क्या ? जुगाड़ कर लिया है किसी का ?' बूला उठकर कंधे से सटकर बैठ गयी। यह सब लिखना हास्यकर लग रहा है, फिर भी लिख रहा हूँ, वरना जबानबन्दी पूरी नहीं होगी।

बूला बोल रही थी, "कौन है वह, बता न ! उसी को तू पार्ट देना चाहता है इसीलिए मुझसे कहने आया है ? तेरी हिम्मत तो कम नहीं ! एक लड़की के लिए किसी और लड़की से तू ।'

बात बढ़ते देख तुरंत उसे रोकते हुए कहा, 'बूला, कोई लड़का नहीं है।'

वैसी कोई लड़की नहीं है, यह कहने में पता नहीं कहाँ हिचकिचाहट हो रही थी। शायद उसी हिचकिचाहट से ही बूला समझ गयी। सहर्ष कहा "समझ गयी। वही नकिआया-सा लड़का ? अरे, वह तो लड़की ही है।

जितना गम्भीर हो सकता था, होता हुआ बोला, "बूला, उसे बहुत चोट पहुँचेगी। उसके पास और कुछ नहीं है, बस यही सब लिए अपने को भूले रहता है। इतना भर उससे छीन मत लो।"

बूला सीधा होकर बैठ गयी। बहुत जल्दी-जल्दी बात करने लगी। पहलेवाला अलसायापन गायब हो चुका था। "उसके पास कुछ नहीं है। और मेरे पास क्या सब कुछ है ? क्या है मेरे पास ? बताओ क्या है ? तुम्हें बताना ही होगा। छोड़ दूँ ! छोड़ दूँ न ? ठीक है, छोड़ दिया। पर उसके बाद तुम लोग मुझे क्या दोगे ? कुछ दाने या मुफ्त में बन्दोबस्त करने आए हो ?"

वह हाँफ रही थी कि हँस रही थी, समझ में नहीं आ रहा था। मैंने कहा, बल्कि कहना चाहिए, हकलाहट को काबू में रखते हुए, जितना कहा जा सकता है,

कहने की कोशिश की, "तुम दया करो बूला। पर वह याने बाँसी तुम्हें हरजाना दे सकेगा। उसके पास बहुत पैसा है।"

रुपये की बात सुनते ही, बूला जोर-जोर से हँसने लगी। आँखें सिकोडते हुए कहने लगी, "बहुत रुपया है ? कितना रे ? यह लडका तुम्हारा क्या लगता है ?"

बोला, "रिश्तेदार है।" हम लोग उनके आश्रित हैं, यह नही कह पाया।

बुद्धू की तरह फिर से दोहराया, "उनके पास बहुत पैसा है।"

"रुपया-रुपया, सिर्फ रुपया। यह रुपये की बात तू किसे सुना रहा है ? अचानक बूला मानो तिडक उठी। हाथ भी उठाया। पर नहीं हाथ और स्वर दोनो ही उतर गया। "तू दूत बनकर आया है ? जा, फिर तुझे नही मारूँगी। दूत तो अवध्य होता है। तू जिसका दूत बनकर आया है, उसे भेज एक दिन। उसी से फैसला कर लूगी। फैसला, याने रुपये पैसे का।"

* * *

नियति की तुलना मकडी के सिवा और किसी से की गयी है या नही, नही मालूम। पर बहुत ढूँढने पर भी मा! मुझे उससे बढिया और कोई उपमा नही मिली। मन और दृष्टि स्थिर करके केन्द्र बिन्दु में बैठी वह हमे लक्ष्य करती जा रही है। हम सब जकडे हुए कीट हैं। बन्दी। उस सूक्ष्म जाल के अप्रत्यक्ष चक्रान्त से हम कैसे पार पा सकते हैं।

मेरे साथ भी कोई खेल चल पडा था, यह मैं महसूस करने लगा था। पर उससे पहले बाँसी की बात पर लौट आए।

"देगी, देगी! पार्ट लौटा देगी ? सच कह रहे हो ?' उसका चेहरा सुबह के ताजे फूल-सा खिल उठा था। "अगर लौटा दे, तो मैं सब कुछ उसे दूँगी ?' बासी व्याकुल स्वर मे कह रहा था। पर तुरन्त चेहरे पर उदासी उतर आयी। "पर मैं उसे क्या दूगा ? क्या दे सकता हूँ मैं ? देने लायक मेरे पास क्या है ?"

फिर भी उसने दिया था। दे पाया था। मेरी एक नियति मेरे पास ला दी थी। मैंने उसे उसकी एक नियति दी थी। हम दोनो के बीच विनिमय हो गया था।

* * *

उसे जब मैंने पहली बार देखा था, पहचान नही पाया था। हमारे जीवन के अनेक प्रबल संवाद, शुरू मे भ्रान्ति का रूप लेकर आते हैं।

भूल करना और सहज हो गया था, क्योकि जिस दिन की बात लिख रहा हूँ उस दिन सोकर उठते ही बाँसी का देख नही पाया था। इसलिए खिडकी से बाहर देखते ही अवाक हो गया था। यह भी याद आ रहा है, उस दिन एक बहुत ही सुन्दर अनुभव से मन ओतप्रोत हो गया था।

वह दिन आशीर्वाद के दिन जैसा था, क्योंकि खिडकी से बाहर झाँकते

ही फूल खिले थे। रंग-बिरंगे फूल। तरह-तरह के। साथ ही बाबा को भी बाग में देखा। टहल रहे थे। पर उनकी बगल में वह कौन है ?

बाँसी से पूछा था, "तुम क्या साड़ी पहन कर थोड़ी देर पहले बाग में टहल रहे थे ?"

बाँसी हँस पड़ा था। अपने को लेकर मजाक करना वह सीख गया था। "साड़ी पहन कर मैं ? नहीं मैं नहीं था। लड़की बनने के लिए मुझे साड़ी पहनने की जरूरत नहीं। स्टेज के बाहर मैं साड़ी पहनता भी नहीं। तुमने शायद किशमिश को देखा होगा।"

"किशमिश ?"

"मेरी बहन। होस्टल में रहती है। तुम्हें मालूम नहीं ? ईस्टर की छुट्टी में कल रात ही आयी है।"

बात यहीं पर आकर थम सकती थी, पर थोड़ी देर पहले मैंने नियति की बात की थी न ? उसी मकड़ी के सूक्ष्म निर्देश पर बाँसी ने अचानक अपने स्वर को धीमे करते हुए क्यों कहा, "तुम अगर बूला को राजी करवा सको, याने वह पार्ट अगर मुझे छोड़ देने के लिए तैयार करवा सको, तो मैं भी तुम्हारा साथ किशमिश का परिचय करवा दूँगा।"

अभी भी बाँसी के उस हाव भाव को देख पा रहा हूँ। साँप की तरह ही उसका निरीह शरीर डोल रहा था। उसकी आँखों में साँप की तरह ही कोई इशारा डोल रहा था, या फिर नहीं डोल रहा था। मैंने क्या अपने ही किसी अवचेतन इच्छा को साँप की तरह डोल उठते देखा था ?

"मेरी बहन।" बहुत साधारण सा कथन, फिर भी न जाने क्या बाँसी ने उस तरह फुसफुसा कर कहा था। "पर मैं जिस तरह लड़का होते हुए भी लड़की ही हूँ, वह वैसी नहीं है लड़की के भेष में लड़का। मेरी बहन लड़की ही है।"

इसी तरह की बातें बाँसी ने की थी। क्यों की थी? बाँसी ने कहा था, "सिर्फ उसे एक ही कष्ट है। उसे बहुत कम दीखता है। शायद अंधी हो जाएगी।"

"अंधी?" जिसे देखा नहीं है, दूर से जिसे सिर्फ उसके भाई की तरह देखकर चौंका था। उसके प्रति शायद ही कोई संवेदना हो। शायद स्वत ही यन्त्रचालित भाव से प्रश्न निकल गया हो।

उसकी कोई गलती नहीं है," बाँसी ने धीरे-धीरे कहा, "मेरे बाबा का पाप है। वे भाग गए हैं, पर उनके पाप को हम भाई-बहन ढो रहे हैं।"

मैंने उसके उस कथन का मतलब नहीं जानना चाहा। पता था, बाँसी के मन में अपने पूर्व पुरुषों के प्रति अपार घृणा थी।

बाँसी की जरूरत नहीं पड़ी। वह खुद ही शाम के समय छत पर उठ आयी थी। माँ तुम भी साथ थी। याद है?

वह झुक झुक कर हरेक पौधे को छू छू कर देख रही थी। सिर्फ उसकी आँखों पर एक असुन्दर-सा घिसे हुए काँच का चश्मा था।

"पानी देती हैं मासी माँ? इन पौधों में रोज पानी देना पड़ता है? अपने-आप क्या ये जीवित नहीं रह सकते हैं?" फूलों की ओर देखती हुई वह कुछ बोल रही थी। बहुत-सी तितलियाँ वहाँ फूलों पर मंडरा रही थीं।

"पता है मासी माँ! आज मौसा जी ने एक बहुत मजेदार बात कही है। जब हम बगीचे में घूम रहे थे न, उसी समय। आँख पर मेरे यह काला चश्मा था न! मौसा जी ने क्या कहा था पता है? उन्होंने कहा, काला चश्मा पहन कर रोशनी में नहीं निकलना चाहिए। जबकि हम लोग रोशनी के कारण ही आँख पर पट्टा चढ़ाते हैं। पर उन्होंने कहा, "अगर उसे देखना चाहते हो तो काला चश्मा मत पहनना। यह देखो फूलों को! उसकी ओर सीधे देखते हैं। आँख खोल कर देखते हैं। फूलों को

कभी सनग्लास से आँख ढकते देखा है ?" बहुत अद्भुत बात है न मासी माँ ?" अच्छी तरह समझ में नहीं आयी, पर बहुत अच्छी लगी।"

"वे तो बतियाना बहुत अच्छी तरह जानते हैं।" तुमने उत्तेजनाहीन स्वर में कहा था।

*　　　　　　　　*　　　　　　　　*

बुला के घर बाँमी को पहुँचाकर जिस समय घर लौटा, उस समय शायद दो तल्ले की खिड़की से ही--उसने मुझे देखा था। मैंने उसे नहीं देखा था। खाता खोल कर लिखने बैठ गया था। उस समय लिखने बैठना ही मुक्ति थी, अप्रतिरोध्य किसी-किसी जैविक वेग की तरह।

छत पर भी वह आयी थी। कुछ उपस्थितियाँ मृगनाभि की तरह होती हैं। अप्रत्यक्ष फिर भी स्वतः ही आमोदित।

उसी समय अचानक अंधड़-सा उठा और उससे शायद वह डर गया। अथवा चश्मे का काँच धुंधला गया था, इसलिये डर गयी थी ?

पर वह आयी। वह ग्रस्त भाव से आयी। अपना चश्मा उतार कर आँचल से शीशा रगड़ती रही थी। "क्या लिख रहे हैं, दिखाइए तो ?"

इस बात को उसने कितनी देर बाद कहा था, आज मुझे याद नहीं है। सिर्फ दीर्घ समय के शब्द तरंगों को पार कर, "क्या लिख रहे हैं, देखूं।" यह वाक्य ही आवहमान गूंजता रहा है।

शायद कुछ देर बाद ही उसने कहा था। काले काँच का चश्मा उतारकर, उसने भारी पावर का चश्मा पहन लिया था, सहज होने के लिये ही क्या उसने पूछा था, "क्या लिख रहे हैं, दिखाइए तो ?"

उसे दिखाया। उस दिन जो कुछ लिखा था, काव्य या वह तो गद्य की कुछ पंक्तियाँ। वह मोटे काँच के पीछे छिपी आँखों से पढ़ने लगी।

"वृन्तल में रात्रियापन, मेरे भरपूर स्वप्नों का अयतम, अगर एक रात—एक रात भी यहाँ गुजारूँ, तो पत्र-पुष्प से समाच्छन्न न हो जाऊँ। पत्र पुष्प अथवा अनुभूति ? अनुभूति अथवा उपलब्धि ? "

"कुछ समझ में नहीं आया, इसका मतलब क्या हुआ ?"

बोला, "इसका कोई अर्थ नहीं है।"

"जा ! अर्थ तो कुछ न कुछ होगा ही।"

"हर समय नहीं। या फिर रहता है सिर्फ किसी एक के लिए। किसी किसी कमरे अथवा बक्स की चाभी जिस तरह सिर्फ किसी एक जन के पास ही रहता है। अकेले वही खोल सकता है।'

"आप खोल सकते हैं ?"

"सकता हूँ, पर बहुत ही नहीं। बीच-बीच में चाभी खो जाती है।"

दृष्टिहीन दृष्टि से वह देखती रही, उसके बाद फिर एक पन्ना पलटकर पढने लगी। पढने के बाद कहा, "समझा दीजिए।"

"समझाने की जरूरत क्या है ?"

असल मे माटी काँच के पीछे आँख देखकर मैं डर गया। इन सब बातो को टालत हुए मैंने कहा था, आप कल आयी हैं ?"

"कल ही, पर आप क्यो कह रहे हैं ? मैं तो छोटी हूँ।"

"काला चश्मा नही पहनेगी ?"

'पहनूगी क्या नही ! पर सब कुछ बदसूरत दीखता है।" इतना कहकर वह ड्रेसिंग टेबुल के पास आ गयी। क्रीम, तेल, पाउडर के डिब्बे उठाकर कहने लगी, "दादा लगाते हैं, आप भी लगाते हैं क्या ?"

'मैं ? कभी नही।"

"मैं भी नही लगाती हूँ।" उसने विषाद भरे स्वर मे कहा।

"तुम्हें जरूरत नही पडती है ?"

"पडने पर भी नही लगाती। मुझे देख नहीं रहे हैं ? एकदम सीधी-सादी, सूखे काठ-सी।" बहुत धीरे-धीरे वह बोली। उसके बाद अपनी दृष्टि मेरे ऊपर न्यस्त करती हुई बोली, "आपको पता है, मैं अंधी होती जा रही हूँ।

"पर प्रसाधन करने से उसका क्या सम्पर्क है ?"

"देखूगी नहीं।" उसने दुखी पर प्रतिज्ञा भरे स्वर मे कहा धरती चाहती नही है कि मैं उसे ज्यादा दिनो तक देखू। अन्तत सुन्दर रूप मे। फिर मैं उसे देखू क्यो ? अपने को दिखाऊँ क्यो ?"

"किशमिश !" मैंने कहा, 'किशमिश इतनी निष्ठुर अपने प्रति मत बनो।" उसन जोर स अपना सिर हिलाया।" "किशमिश ! किसने बताया कि मेरा नाम किशमिश है ? मैं तो कोई लफंगी लडकी नहीं हूँ। यह नाम मुझ पर फबता नही है। मेरा असली नाम क्या है, पता है ? मेरा असली नाम रजनीगंधा है।" इतना कह कर वह थोडा रुकी, फिर बोली, "बहुत भारी है न ?"

"सुगन्धित भी।"

"दिन म नही रहती है।"

'रहती है, "मैंने कहा, "अगर पानी डाला जाए। अगर भीगी-भीगी रहे, अगर "

'अगर पानी डाला जाए, अगर " मेरी बातों का एकांश छीनती हुई वह बोली, "अगर ?" उसके बाद प्रतीक्षा करती रही।

माँ, यहाँ उस वाक्य को लिखना कठिन है, पर काम और भी कठिन और दु साहसिक था, फिर भी लिख सकूगा—यह उम्र और समय ने तो फिल्टर का काम किया है। फिर इसलिए भी सकूगा, क्योकि तुम घटना के बारे म जानती हो। अचानक वहाँ आकर देख लिया था ?

उसकी आँखें गीली हो आयी थी, अचानक काँपते हाथो से पलकें पोंछती हुई वह भीत स्वर म बोल पडी थी "यह क्या !" हालाँकि मैं भी उस समय थरथर काप रहा था, फिर भी प्रबल प्रगाढ आवेग से उसे कहने लगा, "ऐसा क्या खास कुछ ! घृणा हो रही है, बुरा लग रहा है ?"

उसने अपनी आँखें हाथ से ढँक रखी थी। हाथ हटाते ही उसकी दृष्टि का धुंधलापन उजागर हो गया। उसकी आखो मे क्लान्ति थी। सकपकायी-सी और अधिक सिर झुकाते हुए उसने कहा, "घृणा नही ? घृणा नही।"

मैने और अधिक साहसी होकर उसकी पीठ पर हाथ रखा। उसकी आखो म विस्मय था। बोली, "पर क्यो ?"

"इन आखो की दृष्टि की अस्वच्छता को मिटा देना चाहता हूँ। इस धरती को तुम्हारे सामने और अधिक सुन्दर बना देने दो।" या फिर इसी प्रकार की बनावटी बातें उसे सुनाने लगा था, और शायद आगे और भी बहुत कुछ कह जाता, पर माँ शायद उसी समय तुम्हारी परछाई पडी, साथ ही कण्ठस्वर भी सुनायी पडा।

तुम कब आयी ? बाहर कब से इन्तजार कर रही थी ?

* * *

उसने कहा था, "यह क्या ?" "तुमने भी कहा, "यह क्या ? यह सब क्या है ?" पर उससे कही अधिक कठिन स्वर मे। तुम भी काप रही थी गुस्से मे। खीचते हुए मुझे नीचे ले जाने लगी।

"यह सब क्या है ?" नीचे के कमरे के एक कोने मे, जहाँ खिडकी नही है, मुझे एक कोने मे ढकेलते हुए तुम पूछती हो "यह सब क्या है ?"

"क्या है, कुछ भी नही।' रूखे स्वर म बोलता हूँ।

"कुछ नही ! यह सब कुछ नही है ?' उस नीम अँधेरे कमरे मे तुम्हारा चेहरा साफ दीख नही रहा था, फिर भी महसूस हो रहा था, तुम्हारा चेहरा गुस्से से तमतमाया हुआ था।

तुमने कहा, "तू सिर्फ बदमाश ही नही है, झूठा भी है ! कुछ नही ! अभी भी कह रहा है, कुछ नहीं ? जबकि मैंने अपनी आँखो मे जो कुछ देखा !"

"हाथ छोडो," अचानक मेरी आवाज मे तेजी आयी ! कहा, "हाथ छोडो।" सिर्फ कहा ही नही, झटके से हाथ छुडा भी लिया।

तुम एकदम स बिफर पडी। "बिल्कुल अपने बाबा का स्वभाव पाया है !"

"चुप रहो !" मैंने तुम्हे घुडकी लगाते हुए कहा, "बाबा को इसमे क्यो खीचती हो ?"

"वही फरेब भरी बातें ? पकडे गए हो, फिर भी झूठ बोले जा रहे हो—बिल्कुल उनकी तरह।'

'किसकी तरह, यह ठीक से कहा नही जा सकता है।" ठीक उसी समय

बडी सावधानी के साथ वह गुप्त छुरी निकालते हुए मानो मैंने दिखा दिया, "तुम्हारी तरह भी तो हो सकता हूँ !"

तुम चौंक गयीं। "किसकी तरह ? किसकी तरह बताया ?" "तुम्हारी तरह तुम्हारी तरह", बिजली कडक रही थी, अपने गले के स्वर से मैं खुद ही चौंका हुआ, वाक्य नही, मानो खून के फव्वारे मुह स निकल रहे थे। "तुम्हारी तरह। तुम्हे शायद मालूम नही, पर मुझे पता है। यह जानकर रखो, मैंने भी बहुत कुछ देखा है। बहुत कुछ।"

"क्या देखा है ? क्या जानता है ? तुम्हारा चेहरा विवर्ण, आतकग्रस्त और भीत। तुम्हारा पुत्र आततायी है। उसके हाथ मे छुरा देखकर मा तुम भयभीत हो।

"एक जन को रोज आते हुए देखा हूँ। क्या नही देखा है ? क्या आता था ? क्या मैं समझता नही था ? क्यो आता था, क्या मैं उसके आने का मतलब नही समझता था ? सब जानता था ? बाबा भी जरूर जानते होगे। इसलिए वहा ज्यादा जाते नही थे। मुझे सब पता है।"

एकदम से छुरा भोक दिया हूँ। और रक्त से सने एक शरीर को लडखडाते हुए गिर जाते हुए देख रहा हूँ। फिर भी मैं उल्लसित स्वर में बोले जा रहा हूँ, "इसीलिए कहता हूँ, मुझे छेडो मत, ढँक के रखो। ढके रहने दो, वरना केंचुवा खोदने की कोशिश मे साँप निकल आएगा। बाबा का मन विराट है इसलिए वह वापस लौट गए। हम लोगो को अपने पास ले आए "

"तू बोल रहा है तू ?" किसने कही वह बात ? एक आतनाद की तरह ? शायद एक मृत देह हा ने तो, जो अभी-अभी मेरे हाथो निहत हुआ है।

जीवन म न जाने कितने मृतको को देखा है। बाबा का, तुम्हे सुधीर मामा को, न जाने कितनी बार कितनो को मरते देखा है। मैं भी बार-बार मरा हूँ।

तुम्हें मारने के साथ साथ मैं भी मर चुका था। घुटने मोडकर बैठते हुए धीरे-स पुकारा, "माँ !" वह दह काँप उठी। एक चेहरा वस्त्रावृत्त। "अब और क्या ? मुझे मा कहकर मत पुकारना। जा, तरी माँ नहीं है।"

माँ नही हैं ? मृत-सुख का अभिशाप बहुत कठिन होता है। उस एक शब्द ने मेरी चेतना को लुप्त कर दिया। माँ नही हैं। नही थी ? थी। अब नहीं है। अब और नही रहगी। एक अस्तित्व मिट गया। मिथ्या हो गया सब कुछ। बचपन के सारे मनुहार और वे सारे दिन, क्योंकि माँ नाम की कोई नही रह गयी।

वह घटना शायद अकस्मात ही घट गयी थी। फिर भी मेरे अवचेतन मे जो प्रतिशोध स्पृहा थी, उसे भी मुक्ति दे दी। मुक्ति दी, मुक्त हुआ मैं स्वय भी। तुम्हें भी मुक्त किया। हा माँ। तुम्हें भी। उस मकान मे हम तीना जने चन्दास के सिवा और क्या थे ? मैंने उस स्थित से सबको मुक्त किया। बाबा गुमाश्ता या मुनीम और तुम ? लिखने मे सकोच नही, तुम दासी। सम्भ्रान्त होने पर भी दासी ही तो थी। मैंने सबको मुक्त किया।

श्री चरणेपु—श्री चरणेपु—श्री चरणेपु। आज सुबह से अब तब कई बार काट-छाट करके, एक ही शब्द सिर्फ लिख सका—'श्री चरणेपु' इस शब्द का अर्थ क्या होता है ? श्री चरणेपु का मतलब क्या क्षमा-प्रार्थना होता है ? नहीं, नहीं अब अपने अन्तिम समय म एक गढे हुए झूठ से स्वय को, तुम्हे और अपनी इस स्वीकारोक्ति को जिसे कुछ लोग सुन रहे हैं, उन सब को बहलाऊँगा नहीं।

मुझे आज रास्ता नहीं दीख रहा है। धुधला सब कुछ धुधलाया हुआ। जबकि यह धुध का मौसम नहीं है। अधड ! तो फिर क्या यह अधड है ? हम दोनो के बीच जो धूल भरी आधी उठी थी, वह क्या तब से बहती ही रही ?

माँ और बेटा। इस धरती पर जो सम्बध प्रथमतम है, उसे निहत करके छुरी को फिर से छुपा कर कुछ दिनों तक निर्विकार घूमता रहा। दूर से दूर तक होता चला गया था, इसलिए उस बार वाली पूजा मे ।

* * *

रजनीगधा ने कहा, "यह क्या, तुमने प्रणाम नही किया ?"

हम सब मिलकर मडप मे खडे थे। खूब घूमे थे, दीवाली की शाम को। एक मडप के पास पहुँचने पर जोर से ढाक बजने लगा था। बूला और बाँसी भी थी थोडी दूर पर। बूला ने भौंवों पर बल डालते हुए कान पर हाथ रखा। दूर से थोडा जीभ निकाल कर हम लोगों को बुला भी रही थी।

पास मे जाते ही, बूला ने कहा, "देखा ! मैं भी माँ काली बन सकती हूँ। मेरा जीभ निकालना क्या ठीक वैसा ही नही हुआ, बता ?"

"हुआ है," कहकर टालने की कोशिश की। बूला ने मेरी कमीज की आस्तीन पकड कर खींचा। बोली, "ठहर ! हुआ तो है, पर ठीक से हुआ भी नहीं है। महादेव कहाँ है ? नहीं है !"

बाँसी पास मे ही खडा था। वह करुण दृष्टि से देख रहा था। बूला ने हुक्म दिया वह फौरन उसके पाँव के नीचे शिव बनकर लेट जाए।

बूला बोली, "पुरुष ! असल मे पुरुष ही स्त्रियों को पैर के नीचे रखा है। इस काली प्रतिमा म उसी को उल्टा करके स्त्रियों को धोखा दिया जा रहा है।"

"धोखा नहीं," मैं धीरे-धीरे बोलने लगा। 'एक सुदर कल्पना है। एक

आश्चर्यजनक उपहार है। पुरुषों ने आज तक स्त्रियों को जितने भी उपहार दिए हैं, इससे श्रेष्ठ उपहार और कोई नहीं है। यह उपहार सम्पूर्ण समर्पण का है।" रजनी-गधा की आँखो की ओर देखते हुए कहा था।

उसके भी काफी देर बाद जब चला आ रहा था, रजनी ने कहा, "यह क्या तुमने प्रणाम नहीं किया?"

"प्रणाम मैं नही करता हूँ। किसी को भी नही।" बहुत तीखेपन के साथ कुछ-कुछ अपने को बहुत चालू दिखाने की गरज से कहा था।

रजनी अवाक हुई थी। आहत स्वर मे कहा, "मासीमा को भी नही?"

उस समय तो तुम्हारे-मेरे बीच वही दीवार खडी थी, इसलिए अनायास ही बोल बैठा, "वही बीच-बीच मे छूता हूँ। छूना पडता है इसलिए।"

"छि!" अपनी दोनों आँखों को और अधिक आयत करते हुए रजनीगधा ने कहा, "प्रणाम करना चाहिए। मन से प्राण से। इससे देखना अपने को ही अच्छा लगेगा।"

"उस मिट्टी की मूर्ति को? फु!" कहकर सब कुछ उडा देने के नशे मे उस दिन चला आया था।

*   *   *

समुद्र के किनारे जो सतत हवा बहती है, वह हवा भी वहाँ निश्चर है। लिखने बैठकर रोज उसकी सरसराहट सुनता हूँ। पर कभी-कभी नही भी सुन पाता हूँ। जिस तरह कभी-कभी हवा भी गिर जाती है। उस समय कुछ लिखा नही जाता है।

जैसे आज किसी भी तरह तय नही कर पा रहा हूँ, कौन-सी बात पहले लिखूं। बूला, बाँसी, रजनी और मैं हम चारो को लेकर जो गोट बिछाए थे वह, या सुधीर मामा जिस दिन आए थे, उस दिन की बात से शुरू करूँ?

सचमुच वे एक दिन आये थे। कहा था, आएँगे। अपनी बात रखी। बाँसी ऊपर के कमरे म आकर बताया, "तुम्हारे कोई रिश्तेदार नीचे आए हुए हैं। तुम्हें बुला रहे हैं।" गया। चौखट पर रखे जूते का साइज देखकर समझ गया कि कौन आया है। पर उसी समय घुसा नही। कारण? अब छुपाने से फायदा नही। उस घटना के बाद से तुम्हारे पास, सहज होकर चले जाना, सम्भव नही रह गया था।

तुम्हारे चेहरे का एकाश ढँका हुआ था। सुनाई पडा, "तुम यहाँ हो मालूम था। इतने दिन बाद हालचाल पूछन आए? फुसत मिली?"

"फुर्सत? नही मातू। फुर्सत मुझे अभी भी नही मिली है। बहुत बुरी तरह बध गया हूँ आज तुम्हें वह सब नही बताऊँगा। तुम सब कैसे हो? वह बताओ।"

"देख तो रहे हो।" तुमने बिना नजर उठाए ही कहा।

बातचीत जम नहीं रही थी। टूटा हुआ धागा जुड नहीं पा रहा था। सुधीर मामा ने कहा, "चलू।" अचानक ही, और तुमने सिर्फ सूखा-सा एक "अच्छा, आना फिर।"

"आऊँगा। मैं एक दिन और भी आया था। प्रणव बाबू से मुलाकात हुई थी। उन्होंने बताया नहीं ?"

"शायद भूल गए होंगे।"

बाहर आकर सुधीर मामा मुझे देख पाए। बुला भी लिया—"आ, थोड़ा आगे तक छोड़ आ।"

गेट के बाहर आकर अचानक मुड़कर मेरा एक हाथ कसकर पकड़ लिया। "एक बात पूछू ? झूठ मत बोलना। तूने क्या आनू को कोई दुख दिया है ?"

फिर झुकाए रहा। दुख ? वह पता नहीं है। दुख कहने से कितना भर समझा जा सकता है। मैंने तो तुम्हें निहत किया है।

सुधीर मामा ने कहा, "छि, माँ को दुख नहीं देना चाहिए।" जाते-जाते ही कहा, 'यह बात मेरे मन में क्यों आयी, यही सोच रहा है न ? आनू को देखकर लगा। उसके चेहरे और हावभाव से ऐसा लगा। फिर उसकी एक बात ने भी मुझे चौंकाया है। कहा, "सब तो हो गया सुधीर दा ! अब सिर्फ चले जाना चाहती हूँ।" ऐसा उसने क्यों कहा ?'

शुष्क स्वर में कहा, आप ही बताइए न क्यों ?"

"बताया ता। बहुत सम्भव तेरे लिए। बहुत चुप स्वभाव की बराबर रही है। खोलकर कुछ बताया नहीं।'

कड़वाहट के साथ कहा, "दूसरा कारण भी तो हो सकता है। यह क्यों नहीं सोचते ? हम लोग यहाँ पड़े हुए हैं। बाबा अपनी उस बीमारी के बाद ठीक हो नहीं नहीं हो पाए। असल में मेरे मन में उस समय एक रासायनिक प्रक्रिया घट रही थी। मेरा अपराध-बोध अपना रंग बदल कर क्रोध हिंसा में परिणत हो रहा था। इसलिए उस व्यक्ति को भी बरदाश्त नहीं कर पा रहा था।

"यह ठीक बात है कि कोई दूसरा कारण भी हो सकता है" गला खखारते हुए सुधीर मामा ने कहा, 'पर उन सब कारणों के चिह्न अलग तरह के होते हैं। मुझे पता है। फिर आनू को तो मैं पहचानता हूँ न ! बहो तब से "

"रहने दें। कब से पहचानते हैं वह सब सुनना नहीं चाहता हूँ। मुझे जानने की जरूरत नहीं।" भयंकर रूप से चीखते हुए बोल बैठा।

सुधीर मामा विवर्ण हो गए। मुग्ध रोशनी में भी झुककर मेरा चेहरा पढ़ने की कोशिश करते हैं। फिर भी मैं छाती ताने खड़ा हूँ और मानो अपना पाठ दोहरा रहा हूँ, 'भागिए, भागिए !'

हाथ की लाठी ने आगे आगे रास्ता दिखाया, सुधीर मामा उसके पीछे-पीछे जा रहे हैं। मैं धीरे-धीरे उस तालाब के नीचे उतरने लगता हूँ। हाथ धोऊँगा। घ

डालूँगा क्या ? निहत प्रीति स्मृति का रत्न है क्या ? मैं उस समय काँप रहा था।

*   *   *

रजनी ने कहा, "वह क्या मेरे लिए ?"

घर लौटते ही माँ, वह मुझे एक एकान्त जगह पर ले गयी थी। मा ! सकोच नहीं रह गया था, तुम्हें तो पता चल ही गया था।

रजनी बोली, "मासी माँ, यहाँ से चली जाना चाहती हैं।"

"ऐसा क्या ?"

मेरे निरासक्त स्वर ने उसे शायद आहत किया। "तुम्हारी माँ हैं, और तुम्हें ही मालूम नही।"

"माँ की सारी बातें, बेटा जाने ही, ऐसी कोई बात है भला ?"

"पर वह आपने लडके के बारे में सब कुछ मालूम है।" रजनी ने स्थिर स्वर में कहा। "इसीलिए तो पूछ रहा हूँ, वह क्या मेरे लिए ही जाना चाहती हैं ?"

"मालूम नहीं, "पर जाना चाहती हैं, यह बात तुम्हे किसने कही ?"

"दादा ने। दादा को बुला कर पूछा कि वह उन्हे गाँव के मकान मे छोड आ सकेगा या नही ? सोच कर देखो, उन्ह दादा पहुँचाने जाएगा ! जो खुद अकेले ट्रेन मे चढना नही जानता है, वह जाएगा पहुँचाने !"

"भले ही ट्रेन में चढना नहीं जानता हो, पर मौसी, बूला को तो खूब टैक्सी में घुमा रहा है।" हमारी बातचीत मे मजाक का पुट लगने लगा था।

"वह सब भी तुम्हारी ही करतूत है। तुमने ही भिडाया है। दादा का सर्वनाश किया है। अच्छा भला थियेटर लेकर था, पर अब मर्द बनने का धुन उसके माथे पर सवार हो गया है। रुपया मिलते ही बूला ने पार्ट छोड दिया है, पर दादा ने भी पार्ट दोबारा बूला को वापस कर देने का विचार किया है। उसे अगर पूरा मिल जाए, पार्ट की जरूरत नही।"

"पा तो गया है।"

"उसे पाना नहीं कहते हैं। बूला सिर्फ उसे लेकर खेल रही है।"

"जैसे तुम मुझे लेकर खेल रहे थे ?"

रजनी हँसी नही, "या फिर तुम मुझे लेकर। यह भी तो हो सकता है ? तुम-तुम भी शायद बूला का ही ।"

मैंने उसके मुह पर हाथ रख दिया। उसने हाथ हटा दिया, पर धक्का देकर नही, बहुत धीरे से अँधेरा जमने लगा था।

रजनी ने कहा, "बताओ तो तुम्हे इस कोने मे क्यों ले आती हूँ ?"

लजाये हुए स्वर मे उसने कहा, 'न, न तुम जो कुछ सोच रहे हो, वह बात नही है। तुम्हारे अन्दर बाध-बाध बोलकर कुछ नही है। इस अनुभूति के साथ ही तुम लेखक बनोगे ? सुनो, मैं इस कोने म इसलिए आती हूँ, क्योंकि यहाँ एक समान हो जाते हैं।'

रजनी बोलती रही, "मेरी दृष्टि क्षीण है। जहाँ रोशनी होती है, वहा भी ठीक से देख नही पाती हूँ, जबकि दूसरे सब देख पाते हैं। यहाँ रोशनी नहीं है, इसलिए सब समान है। मैं तो देख नही ही पाती हूँ। तुम भी नही।"

वह रुकी थी। थोडा और पास सरक आयी। "देखो मासी माँ सब कुछ जानती हैं। मैं बल्कि होस्टल ही लौट जाऊँ। तुम उन्हें कष्ट मत देना।"

मैं कर्कश खनखनाए हुए स्वर मे बोल उठा था, "दुख ? किसी को दुख नही दूगा। मैं अकेले ही सारा दु ख झेलूगा, ऐसा कोई शर्तनामा लिखा कर मैं नही आया हूँ न ?" (कहते ही सिहर उठा। अपने कण्ठस्वर की निष्ठुरता मे इस मकडी के जाले से घिरे अँधेरे कोने मे।)

'तुम ठीक नहीं बोल रहे हो," वह आहिस्ता-आहिस्ता बोलती है। "हर कोई अपने ही दु ख को बड़ा करके देखता है। दूसरे का नहीं देख पाता है।"

मैं कुछ कहने की कोशिश करता हूँ, पर अचानक सिहरते हुए दबे स्वर मे रजनी कहती है, "सुन रहे हो।"

मृदु पर स्पष्ट एक कण्ठस्वर सचमुच तैरता आ रहा था। वह क्या कोई स्वगत उच्चारण था, अथवा कोई आर्त प्रार्थना ?

"शाम हो गयी है। अब मुझे हंसिनी की तरह बुला लो। दिन भर तैरती रही, अब और नही सक रही हूँ। मुझे किनारे लगा दो।"

कौन ? किसे बोल रहा था ? रजनी और नजदीक आ गयी। फिसफिसाते हुए कहा, 'सुन पा रहे हो ? मासीमाँ ?"

पाया था। तुम कहाँ जाना चाहती हो मा ! तैरती-तैरती थक्लान्त हो गयी हो ! किस किनारे लगना चाहती हो ? मुझे डर लग रहा था। जिसे मृत समझ रहा हूँ, उसे जीवित देखने पर जैसा भय समाता है, वैसा ही जिस दिन तुमने कठोर स्वर में तिरस्कार किया था, उस दिन तो नहीं डरा था, फिर उस समय क्यों डर गया ? बातें रोने की तरह और रोना भी मन्त्र की तरह लग रहा था, इसलिए ! उस रोमांचित कोने मे उस क्षण मेरी भी आँखें धुधला गयी थी। रजनीगधा और मैं सचमुच समान हो गए हैं।

उन्हीं दिनों बाबा की बीमारी और अधिक बढ गयी। ढेर सारे जडी-बूटी और पुराने दिन के डिब्बे उन्होंने इकट्ठा कर रखा था। उन्ही के बीच ही बैठे रहते थे। क्या कुछ लिखा करते, पर किसी को देखने नही देते थे। नया नाटक-वाटक ? बाबा, जल्दी से सब कुछ छुपाते हुए कहते, "नही, नाटक! वह सब अब मैं नही लिखूँगा। वह सब दूसरो के लिए था। और यह सब ? मेरे अपने लिए। अब से जो कुछ लिखूगा, सब सिर्फ लकीरें होगी, पर सब मेरे अपने लिए।"

स्वदेशी उद्योग के पुनरुजीवन के सम्बन्ध मे एक प्रबन्ध भी लिखना शुरू किया था, उसे भी छिपा कर रखते। देखने नही देते। पर मुझे पता चल गया था, वह सब एक धोखा था। जडी-बूटी, टीन के डिब्बे असल मे सब एक दीवार था। जिसके पीछे बाबा धीरे-धीरे अपने को छुपाते जा रहे थे।

मैंने उनके लिखे हुए को पढ लिया था। मा! तुम कहीं जाना चाहती थी, पर नही जा सकी थी। पर बाबा चले गए, बहुत दूर। कहाँ पहुँच गए थे, उसका आभास उनके लेखों में था। उसके कुछ अश तुम्हें पढकर सुनाता हूँ—

"आनू एक गलती कर रही है। मेरे प्रति, अपने प्रति, सब के प्रति। उसकी धारणा है कि मैं शायद अभी भी सुधीर बाबू के प्रति मन में विद्वेष लिए बैठा हूँ। इसलिए उस दिन जब सुधीर बाबू आए, मुझसे मिलने नही दिया। उसे पता नहीं है, ईर्ष्या विद्वेष की जो नम जमीन थी, वहाँ का आवास मैंने कब का छोड दिया है। हूँ कहाँ, वही तो समझ नही पाता हूँ। कभी-कभी सोचता हूँ अपने इस नए वास-गृह का नाम 'आनन्द' रखू। हाँ, आनन्द भी एक रहने वाली जगह है। पर बहुत बाद मे यह जान पाया।

"यही एक बहुत बडी असुविधा है—जानते-समझते, जगह तलाशते-ढूढते बहुत देर हो जाता है। अधेड उम्र में थियेटर के सम्पर्क मे बस जिस समय आया ही था, उस समय सव्यसाची बाबू ने एक दिन कहा था, "सुरापान करने का दोष क्या है, पता है रे ? लगातार कई पेग न चढाने पर मिजाज जमता नहीं है। जमीन तैयार नहीं हाती है। यही मुश्किल है।" उनकी उस कथन को आज इस ढलती उम्र

मे दूसरे एगल से देख रहा हूँ। देख रहा हूँ, बहुत से वर्ष बिना पार किए, यथार्थ मे कोई उपलब्धि नही मिलती है—न आनन्द की, न किसी बृहत्तर सत्य की। मेरी तो लगभग पूरी उम्र ही बीत गयी।"

"बीत जाने दो। थोडा-बहुत आभास पा सका हूँ, यही काफी है। आलू को नही मिला है, उनके सुधीर दादा को भी नही। भले आदमी उस दिन मेरे सामने आये ही नही, पर पहले दिन जब आए थे, उस दिन मुझमे परिवर्तन देख, बहुत विचलित-से हुए थे। उस दिन बातों-बातों म अचानक पूछ बैठे थे कि उनके प्रति मेरा मनोभाव क्या पहले जैसा ही विरूप है अथवा बदल चुका है! मैं हँस पडा था। उस हँसी का अर्थ वे समझ नही पाए थे। मैंने कहा था, 'अरण्य का भी एक महान स्वप्नराज्य होता है। मालूम है? मायावी परिवेश म मातृ हत्या के लिए कृतसकल्प नक्षत्र राय के हाथ से भी चाकू छूट कर गिर जाता है।" वे फिर भी समझ नहीं पाए। बोले, "यह बाग क्या एक जगल है?" हँसते हुए मैंने कहा, "बाग नही। अरण्य हमारी उम्र है, जो हमारे स्वभाव को घनापन देती है। परिवेश की तरह उम्र का भी एक आवेश होता है। हाथ से चाकू वहाँ भी छूट कर गिर जाता है।" सुधीर बाबू ने सकपकाते हुए कहा, "याने आप म अभी क्षमा-धर्म ही प्रबल है!" मैंने कहा, 'क्षमा? सुधीर बाबू! कौन किसे क्षमा करता है? वह सब गर्वोक्ति के सिवा और कुछ नही है। जिसे क्षमा की जाती है, उसका कौन-सा उपकार होता है मालूम नहीं। पर जो क्षमा करता है, उसे राहत मिलती है, शान्ति मिलती है स्वय को। जो क्षमा करता है, स्वार्थ उसी का अधिक होता है।"

बाबा का वह प्रशात मुख मडल अभी भी बीच-बीच मे नींद मे देख पाता हूँ।

वे धीरे-धीरे क्लान्त, अवसन्न से होते जा रहे थे। बीमारी उनकी बढ़ती जा रही थी।

* * *

तुम्हारे-हमारे बीच की दीवार दो बार थरथराई थी। तुम्हें याद है? मेरी दो चीख। दोनो बार की ही भाषा एक थी, तीव्र तीक्ष्ण! "माँ"! भले ही दीवार टूटे या न टूटे, उस पुकार ने आने जाने का एक रास्ता जरूर खोल दिया था।

मझोले साइज की वह पत्रिका मेरी मुट्ठी में, आँखें विस्फारित। आश्चर्यचकित सा मैं दौड़ा आ रहा हूँ। बाहर का फाटक ठेल कर, बगीचा पार करता हुआ आ रहा हूँ। कौन मुझे देख रहा है, कौन नही, किसी ओर ध्यान नहीं। मैं दौड़ रहा हूँ। मेरे हाथ में उस समय विराट सम्पत्ति है। किसे पहले दिखाऊँगा पहले! किसे रजनी को? शायद वही कुछ होता पर ठीक सीढी के सामने तुम खडी थी।

जो होना था, वही हुआ। जो कुछ घटना चाहिये था, वही घटा। कहाँ है वह दीवार, देख नही पाया। जितने दबे हुए आवेग थे, जितनी उत्तेजना थी

सबको उजाड करते हुए बोल पडा, "मा !" दीवार हिल गयी। "यह देखो। बताओ तो क्या है ?"

"क्या है ?"

"देखो न। यह रचना।"

"किसकी ?"

"नाम तो ऊपर ही छपा है। पढ नहीं पा रही हो ?"

नाम चमक रहा था। काली स्याही मे नही, मानो सुनहरे अक्षरा मे।

"तेरी है ?" एक ही साथ विस्मय अविश्वास, उल्लास आदि बहुत कुछ तुम्हारे चेहरे पर तिर गया। "तेरी है ?" तुम और कुछ नही बाल रही हो। बोल नही पा रही हो, सिर्फ एक ही बात को घुमा फिरा कर बोले जा रही हो। "तेरी तेरी तेरी है ?"

"मेरी ही है। भेजी थी।"

"उन लोगो ने छाप दी ?"

"पढो न मा ! थोडा सा पढा। कविता ही है। थोडी-सी पक्तियाँ ही हैं।"

झकझक छपे पन्ने। उस समय बारिश मे भीगी जमीन, सोधी-मीठी महक फैला रही थी। पढो न मा, पढो न !" पढेंगी क्या ? पढा जा सकता है। आँखें अगर भर आए ? उमडते हुए अगर बारिश उतरे ? पढा नही गया, पर दीवार घुलने लगी। मिट्टी की दीवार पानी से जरूर घुलेगी।

* * *

"मुझे नही सुनाओगे ?" रजनी बरसाती मे खडी थी। "देखू तो ! कविता का क्या नाम रखा है !"

गाढे स्वर मे मैंने कहा था, "रात्रि।"

"ओह !" उसने कहा, मेरे नाम का मतलब भी वही है।"

"वह तो एक हिस्से का अर्थ है। सम्पूर्ण नाम मे तुम फूल हो—रात का फूल। पर दिन में भी रहती हो।"

पन्ना को अपने पास लाकर उसन उन्हे एक बार सूंघा, फिर मुझे लौटाते हुए कहा "तुम पढ़ो।"

"तुम ही पढ़ो न !"

"सकूगी ? अगर गलत पढ गयी तो ?"

फिर भी उसने पढा। धीरे-धीरे मुद्रित प्रत्येक वण को माना अपन होंठो का स्पर्श देकर पढ़ रही थी। रात को तुमने प्राणदायिनी कहा है ? कहा है ! समय गया क्यों ? सिर्फ तुक मिलाने के लिए कुछ समन में नही आ रहा है।"

"मुझे समझ मे आन पर लिखता ही क्यों ? समझ नहीं पाया, इसी से तो लिखा हूँ।"

उसने फिर कहा, "मुझे डर लग रहा है।"

"डर मुझे भी लगता है।" मैंने उसे थाम लिया। एक पाँव गलत बढाने और थोडी भी चूक होने पर दरवाजे से उसका सिर टकरा जाता।

* * *

उस दिन रात को तुम भी कितनी बडी गलती करने जा रही थी, बताओ तो ?

एक अरसे बाद तुमने अपने हाथ से परोस कर मुझे खिलाया। बाँसी ऊपर चला गया। तुम तुरन्त सीढी के सामने आकर खडी हो गयी।

"आ, इधर आ न जरा। दो चार बातें करें। नहीं करेगा क्या ?" इसका माँ ! तुम्हारे स्वर म अभिमान और अनिश्चयता का रुठापन क्यों है ? उस तरह विनती भरे स्वर मे क्यो बात कर रही हो ? मुझे तो तुम खींच कर भी ले जा सकती थी ?

मेरे माथे पर तुमने एक हाथ रखा। बहुत सन्तर्पण के साथ और बहुत विवाद। उस स्पर्श मे भी शायद निश्चमता नहा थी। अधिकार का अहकार ? वह तो बिल्कुल ही नहीं। "अब तो नाराज नहीं है न रे ?" तुम्हारी आवाज काँप रही थी। "नाराजगी ?" मैं हँस पडा। "किसके ऊपर ?" हालाकि तुम्हारे प्रश्न के ठीक ठाक तात्पर्य का मैं समझ रहा था।

"नाराज होने का कुछ नहीं है माँ," मैंने दोबारा कहा। उस दिन तुमसे जो कुछ कह नही सका, उम आज कह रहा हूँ। सुनो। बहुतेरी अनुभव और लगातार प्रत्याख्यान पाने के बाद आज इस बात को जान पाया हूँ कि नाराजगी रहने पर कुछ लिखा भी नही जा सकता है। क्रोध, लाल स्याही है। बहुत तीखा, आखें किरकिरान लगती हैं। इस स्याही से सिर्फ निशान लगाए जा सकते हैं। कितने लोगो पर कितने तरह का गुस्सा लिए इस रचना को शुरू किया था। पर धीरे धीरे सारा उत्ताप, सारी उष्मा सब बुझती जा रही है। यह तो तुम देख ही रही हो। लिखन का सारा तेवर ही बदल गया है माँ ! मैं शेष रचना को अपने प्रेम से भर देना चाहता हूँ।

"वह पत्रिका कहाँ है ?" अचानक तुमने फिसफिसाहट मे पूछा था।

"यह रही।" पत्रिका उस समय मेरी जेब म ही थी।

"दे, मुझे दे।"

कारण समझाते हुए प्रफुल्ल स्वर मे पूछा, "बाबा को दिखाओगी ?"

होठो पर उँगली धरते हुए तुमने कहा, "अरे ! धीरे। वे सुन लेंगे।"

"बाबा को नहीं दिखाओगी ? क्यों ? तो-तो क्या मैं खुद दिखाऊँ ? जाऊँ दिखा आऊँ ?"

तुमने आहिस्ता से कहा, "नहीं। छिपा कर रखना होगा।"

"छिपा कर ! क्यो मा ?"

"तू कुछ नही समझता है। उनकी तबीयत ठीक नही रहती है। इस समय उन्हें किसी तरह का आघात देना ठीक नही। उसे छिपा कर रखना होगा।"

ठीक उसी समय, 'क्या छिपा कर रखना होगा ? क्या-क्या ?" कहते हैं न जहाँ का डर होता है, वही शाम हो जाती है। बाबा का स्वर सुन पा रहा हूँ। बहुत दिनो बाद हम दोनो का स्वर एक साथ सुन कौतूहली बाबा, अपने टीन की डिब्बियो का खेल जगत छोडकर, जडी-बूटी की दुनिया से निकल कर किसी तरह उठकर हम लोगो के पास आ गए हैं। माँ, देख नही पा रही हो ? सुन नही रही हो ? बाबा बार-बार पूछ रहे हैं, "क्या छुपाना है ? क्या है ? क्या है ?"

तुमने बताया नही। बता नही रही हो। न बताते देख मैं खुद ही जल्दी से बोल पड़ा। "बाबा ! यह देखो न।"

पन्ना उनकी आँखो के सामने कर दिया। तुम थोडा हटकर खडी हो गयी। बाबा, शुरू मे पढ नही पा रहे थे। फतुए की जेब से अपना धागा बधा चश्मा निकाल लिया। उसके बाद ही माँ उनके चेहरे पर विस्फारण घटा। जैसा शाम का तुम्हारे साथ घटा था। अलौकिक आलोक से एक चेहरा प्लावित होने लगा। मोटे होठ थर-थर काँप रहे हैं। कनपटी के पास की नसें नीली और स्फीत। बुदबुदाते हुए वे पढ रहे हैं। उसके बाद ही "तू-तू-तूने लिखा है," कहकर सोल्लास चीत्कार करते हुए। हाँ माँ तुमने तो सुना ही होगा। किसी बारूद की तरह एकदम से फटते हुए कागज को मचोड कर उसका गोला बनाकर, उसे शून्य मे फेंक दिया।

तुम्हारी आँखो मे उस समय तिरस्कार भाव था। जिसका मौन अर्थ था, 'क्यो भला देने गया ? क्या हुआ देखा न ? मैंने पहले ही नही कहा था ?'

थोडा ठहरो माँ। बाद मे क्या घटने जा रहा है, देखो। वह देखो, बाबा ने झुककर मसले हुए गोले को उठा लिया है। पन्नो का हल्के-हल्के हाथो से फैला रहे हैं। सिर झुकाए पूरे लिखे हुए को पढ रहे हैं। अब वे शान्त हैं। थोडी भी उत्तेजना उनमे नही रह गयी है। अब वे पूरी तरह निस्तेज हैं। उनके समस्त मुख मडल पर सिर्फ संवृत आनन्द की महिमा फैली हुई है।

"मृत नक्षत्र। मृत नक्षत्र।" पढना खत्म होने पर वे मेरी ओर देखते हुए कहते हैं। 'भाषा बहुत सुन्दर है, पर तू यह सब समझता है ? पर मान ले, एक दो नक्षत्र ही नही, ईश्वर ही अगर स्वयं मृत हो ? वह कहानी पढा है ? अखबार मे गाडी ठीक ही चल रही है। तीव्र वेग से। पर ड्राइवर वज्राघात मे निहित हो चुका है। वह अदृश्य रूप से मरकर पडा हुआ है। फिर भी गाडी दौड रही है। इस विश्व का मामला भी वैसा ही कुछ हो सकता है। नही हो सकता ? एकदम सर्वनाश ! बताओ तो ! ईश्वर मृत है या फिर मृत न होने पर भी पागल, या फिर अर्वाचीन है। किसी के जिम्मे, भार सौंपकर अवसर लिए बैठा है। कभी सोचकर देखा है ?"

"मुझे समझ मे आने पर लिखता ही क्यो ? समझ नहीं पाया, इसी से तो लिखा हूँ।"

उसने फिर कहा, "मुझे डर लग रहा है।"

"डर मुझे भी लगता है।" मैंने उसे थाम लिया। एक पाँव गलत बढाने और थोडी सी चूक होने पर दरवाजे से उसका सिर टकरा जाता।

*   *   *

उस दिन रात को तुम भी कितनी बडी गलती करने जा रही थी, बताओ तो ?

एक अरसे बाद तुमने अपने हाथ से परोस कर मुझे खिलाया। बाँसी ऊपर चला गया। तुम तुरन्त सीढी के सामने आकर खडी हो गयी।

"आ, इधर आ न जरा। दो चार बातें करें। नही करेगा क्या ?" इतना मा ! तुम्हारे स्वर मे अभिमान और अनिश्चयता का रूठापन क्या है ? उस तरह विनती भरे स्वर म क्या बात कर रही हो ? मुझे तो तुम खीच कर भी ले जा सकती थी ?

मेरे माथे पर तुमने एक हाथ रखा। बहुत स तपण के साथ और बहुत दिनो बाद। उस स्पश मे भी शायद निश्चयता नही थी। अधिकार का अहकार ? वह तो बिल्कुल ही नही। "अब तो नाराज नही है न रे ?' तुम्हारी आवाज काँप रही थी। "नाराजगी ?" मैं हस पडा। "किसके ऊपर ?" हालांकि तुम्हारे प्रश्न के ठीक ठीक तात्पर्य को मैं समझ रहा था।

'नाराज होने का कुछ नहीं है माँ," मैंने दोबारा कहा। उस दिन तुमसे जो कुछ कह नहीं सका, उस आज कह रहा हूँ। सुनो। बहुतेरी अनुभव और लगातार प्रत्याख्यान पाने के बाद आज इस बात को जान पाया हूँ कि नाराजगी रहने पर कुछ लिखा भी नही जा सकता है। क्रोध, लाल स्याही है। बहुत तीखा, आँखें किरकिराने लगती हैं। इस स्याही स सिर्फ निशान लगाए जा सकते हैं। कितने लोगो पर कितने तरह का गुस्सा लिए इस रचना को शुरू किया था। पर धीरे धीरे सारा उत्ताप, सारी उष्मा सब जुडाती जा रही है। यह तो तुम देख ही रही हो। लिखने का सारा *तेवर ही बदल गया है माँ ! मैं शेष रचना को अपने प्रेम से भर देना चाहता हूँ।*

'वह पत्रिका कहाँ है ?" अचानक तुमने फिसफिसाहट मे पूछा था।

यह रही। पत्रिका उस समय मेरी जेब मे ही थी।

"दे, मुझे दे।'

कारण समझाते हुए उत्फुल्ल स्वर मे पूछा, "बाबा को"

होंठो पर उँगली धरते हुए तुमने कहा, 'अरे ! धीरे !'

"बाबा को नही दिखाओगी ? क्यों ? तो-तो क्या मैं दिखा आऊ ?"

तुमने आहिस्ता से कहा, "नहीं। छिपा कर रखना

"छिपा कर ! क्यों माँ ?"

"तू कुछ नहीं समझता है। उनकी तबीयत ठीक नहीं रहती है। इस समय उन्हें किसी तरह का आघात देना ठीक नहीं। उसे छिपा कर रखना होगा।"

ठीक उसी समय, 'क्या छिपा कर रखना होगा ? क्या-क्या ?" कहते हैं न जहाँ का डर होता है, वहीं शाम हो जाती है। बाबा का स्वर सुन पा रहा हूँ। बहुत दिनो बाद हम दोनो का स्वर एक साथ सुन कौतूहली बाबा, अपने टीन की डिब्बियो का खेल जगत छोड़कर, जड़ी बूटी की दुनिया से निकल कर किसी तरह उठकर हम लोगो के पास आ गए हैं। माँ, देख नहीं पा रही हो ? सुन नहीं रही हो ? बाबा बार-बार पूछ रहे हैं, "क्या छुपाना है ? क्या है ? क्या है ?"

तुमने बताया नहीं। बता नहीं रही हो। न बताते देख मैं खुद ही जल्दी से बोल पड़ा। "बाबा ! यह देखो न।"

पन्ना उनकी आँखो के सामने कर दिया। तुम थोड़ा हटकर खड़ी हो गयी। बाबा, शुरू में पढ नहीं पा रहे थे। फतुए की जेब से अपना धागा बँधा चश्मा निकाल लिया। उसके बाद ही माँ उनके चेहरे पर विस्फोरण घटा। जैसा शाम का तुम्हारे साथ घटा था। अलौकिक आलोक से एक चेहरा प्लावित होने लगा। मोटे होठ थर-थर काँप रहे हैं। कनपटी के पास की नसे नीली और स्फीत। बुदबुदाते हुए वे पढ रहे हैं। उसके बाद ही 'तू-तू-तूने लिखा है," कहकर सोल्लास चीत्कार करते हुए। हा मा तुमने तो सुना ही होगा। किसी बारूद की तरह एकदम से फटते हुए कागज को मचोड़ कर उसका गोला बनाकर, उसे शू य मे फेंक दिया।

तुम्हारी आँखो मे उस समय तिरस्कार भाव था। जिसका मौन अर्थ था, 'क्यो भला देने गया ? क्या हुआ देखा न ? मैंने पहले ही नहीं कहा था ?'

थोड़ा ठहरो माँ। बाद मे क्या घटने जा रहा है, देखो। वह देखो, बाबा ने झुककर मसले हुए गोले को उठा लिया है। पन्नो को हल्के-हल्के हाथो से फैला रहे हैं। सिर झुकाए पूरे लिखे हुए को पढ रहे हैं। अब वे शा त हैं। थोड़ी भी उत्तेजना उनमे नहीं रह गयी है। अब वे पूरी तरह निस्तेज हैं। उनके समस्त मुख मडल पर सिर्फ सवृत आनन्द की महिमा फैली हुई है।

"मृत नक्षत्र। मृत नक्षत्र।" पढना खत्म होने पर व मेरी ओर देखते हुए कहते हैं। 'भाषा बहुत सु दर है, पर तू यह सब समझता है ? पर मान ले, एक दो की नहीं, ईश्वर ही अगर स्वय मृत हो ? वह कहानी पढा है ? अधकार मे गाड़ी रही है। तीव्र वेग से। पर ड्राइवर वज्राघात मे निहित हो चुका है। से मरकर पड़ा हुआ है। फिर भी गाड़ी दौड़ रही है। इस विश्व हो सकता है। नहीं हो सकता ? एकदम सर्वनाश। फिर मृत न होने पर भी पागल, या फिर अर्वाचीन अवसर लिए बैठा है। कभी सोचकर देखा है ?"

"मुझे समझ मे आने पर लिखता ही क्यो ? समझ नहीं पाया, इसी से तो लिखा हूँ।"

उसने फिर कहा, "मुझे डर लग रहा है।"

"डर मुझे भी लगता है।" मैंने उसे थाम लिया। एक पाँव गलत बढ़ाने और थोड़ी सी चूक होने पर दरवाजे से उसका सिर टकरा जाता।

*　　　　*　　　　*

उस दिन रात को तुम भी कितनी बड़ी गलती करने जा रही थी, बताओ तो ?

एक अरसे बाद तुमने अपने हाथ से परोस कर मुझे खिलाया। बाँसी ऊपर चला गया। तुम तुरंत सीढ़ी के सामने आकर खड़ी हो गयी।

"आ, इधर आ न जरा। दो चार बातें करें। नही करेगा क्या ?" इसका मा ! तुम्हारे स्वर मे अभिमान और अनिश्चयता का रूठापन क्यो है ? उस तरह विनती भरे स्वर में क्या बात कर रही हो ? मुझे तो तुम खींच कर भी ले जा सकती था ?

मेरे माथे पर तुमने एक हाथ रखा। बहुत सतपण के साथ और बहुत दिनो बाद। उस स्पश मे भी शायद निश्चयता नही थी। अधिकार का अहकार ? वह तो बिल्कुल ही नही। "अब तो नाराज नही है न रे ?" तुम्हारी आवाज काँप रही थी। "नाराजगी ?" मैं हस पड़ा। "किसके ऊपर ?" हालाकि तुम्हारे प्रश्न के ठीक-ठीक तात्पर्य को मैं समझ रहा था।

"नाराज़ होने का कुछ नहीं है माँ," मैंने दोबारा कहा। उस दिन तुमसे जो कुछ कह नही सका, उसे आज कह रहा हूँ। सुनो। बहुत-से अनुभव और लगातार प्रत्याख्यान पाने के बाद आज इस बात को जान पाया हूँ कि नाराजगी रहने पर कुछ लिखा भी नही जा सकता है। क्रोध, लाल स्याही है। बहुत तीखा, आँखें किरकिराने लगती हैं। इस स्याही से सिर्फ निशान लगाए जा सकते हैं। कितने लोगो पर कितने तरह का गुस्सा लिए इस रचना को शुरू किया था। पर धीरे धीरे सारा उत्ताप, सारी ऊष्मा सब जुड़ाती जा रही है। यह तो तुम देख ही रही हो। लिखने का सारा तेवर ही बदल गया है माँ ! मैं शेष रचना को अपने प्रेम से भर देना चाहता हूँ।

"वह पत्रिका कहाँ है ?" अचानक तुमने फिसफिसाहट मे पूछा था।

"यह रही।" पत्रिका उस समय मेरी जेब मे ही थी।

"दे, मुझे दे।"

कारण समझाते हुए उत्फुल्ल स्वर में पूछा, "बाबा को दिखाओगी ?"

होठो पर उँगली धरते हुए तुमने कहा, "अरे ! धीरे। वे सुन लेंगे।"

"बाबा को नही दिखाओगी ? क्यो ? तो-तो क्या मैं खुद दिखाऊं ? जाऊँ दिखा आऊँ ?"

तुमने आहिस्ता से कहा, "नहीं। छिपा कर रखना होगा।"

"छिपा कर ! क्यों माँ ?"

"तू कुछ नहीं समझता है। उनकी तबीयत ठीक नहीं रहती है। इस समय उन्हें किसी तरह का आघात देना ठीक नहीं। उसे छिपा कर रखना होगा।"

ठीक उसी समय, 'क्या छिपा कर रखना होगा ? क्या-क्या ?" कहते हैं न जहाँ का डर होता है, वहीं शाम हो जाती है। बाबा का स्वर सुन पा रहा हूँ। बहुत दिनों बाद हम दोनों का स्वर एक साथ सुन कौतूहली बाबा, अपने टीन की डिब्बियों का खेल जगत छोड़कर, जड़ी-बूटी की दुनिया से निकल कर किसी तरह उठकर हम लोगों के पास आ गए हैं। माँ, देख नहीं पा रही हो ? सुन नहीं रही हो ? बाबा बार-बार पूछ रहे हैं, "क्या छुपाना है ? क्या है ? क्या है ?"

तुमने बताया नहीं। बता नहीं रही हो। न बताते देख मैं खुद ही जल्दी से बोल पड़ा। "बाबा ! यह देखो न।"

पन्ना उनकी आँखों के सामने कर दिया। तुम थोड़ा हटकर खड़ी हो गयी। बाबा, शुरू में पढ़ नहीं पा रहे थे। फतुए की जेब से अपना धागा बँधा चश्मा निकाल लिया। उसके बाद ही माँ उनके चेहरे पर विस्फोरण घटा। जैसा शाम का तुम्हारे साथ घटा था। अलौकिक आलोक से एक चेहरा प्लावित होने लगा। मोटे होंठ थर-थर काँप रहे हैं। कनपटी के पास की नसें नीली और स्फीत। बुदबुदाते हुए वे पढ़ रहे हैं। उसके बाद ही 'तू-तू तूने लिखा है," कहकर सोल्लास चीत्कार करते हुए। हाँ माँ तुमने तो सुना ही होगा। किसी बारूद की तरह एकदम से फटते हुए कागज को मचाड़ कर उसका गोला बनाकर, उसे शून्य में फेंक दिया।

तुम्हारी आँखों में उस समय तिरस्कार भाव था। जिसका मौन अर्थ था, 'क्यों भला देने गया ? क्या हुआ देखा न ? मैंने पहले ही नहीं कहा था ?'

थोड़ा ठहरो माँ। बाद में क्या घटने जा रहा है, देखो। वह देखो, बाबा ने झुककर मसले हुए गोले को उठा लिया है। पन्नों को हल्के-हल्के हाथों से फैला रहे हैं। सिर झुकाए पूरे लिखे हुए को पढ़ रहे हैं। अब वे शान्त हैं। थोड़ी भी उत्तेजना उनमें नहीं रह गयी है। अब वे पूरी तरह निस्तेज हैं। उनके समस्त मुख मंडल पर सिर्फ सवृत आनन्द की महिमा फैली हुई है।

"मृत नक्षत्र। मृत नक्षत्र।" पढ़ना खत्म होने पर वे मेरी ओर देखते हुए कहते हैं। 'भाषा बहुत सुन्दर है, पर तू यह सब समझता है ? पर मान ले, एक दो नक्षत्र ही नहीं, ईश्वर ही अगर स्वयं मृत हो ? वह कहानी पढ़ा है ? अंधकार में गाड़ी ठीक ही चल रही है। तीव्र वेग से। पर ड्राइवर वज्राघात में निहित हो चुका है। वह अदृश्य रूप से मरकर पड़ा हुआ है। फिर भी गाड़ी दौड़ रही है। इस विश्व का मामला भी वैसा ही कुछ हो सकता है। नहीं हो सकता ? एकदम सर्वनाश ! बताओ तो ! ईश्वर मृत है या फिर मृत न होने पर भी पागल, या फिर अर्वाचीन है। किसी के जिम्मे, भार सौंपकर अवसर लिए बैठा है। कभी सोचकर देखा है ?"

मैंने सिर्फ गर्दन हिलायी। "पर तुम इसे छिपाना क्यों चाह रहे थे, बताओ तो ?"

तुमने उत्तर नहीं दिया था।

इस बार उदास। बाबा धीरे-धीरे बात रहे हैं, "समझ गया। तुमने सोचा होगा मुझे दुख पहुँचेगा।

तुम जल्दी से बोल पड़ी थी, "तुम्हारी ऐसी तबीयत।"

बाबा और अधिक आहिस्ता-आहिस्ता बोल रहे हैं, "तबीयत की बात नहीं थी। सच सच बताओ तुमने सोचा होगा, मेरे मन में चोट पहुँचेगी। है कि नहीं ?"

चूँकि तुम चुप थी, इसलिए अपने ही वाक्य का बाबा धागे की तरह फिर से उठा लिया। 'जीवन भर मैंने कितना लिखा, पर उनमें से एक भी छप नहीं सका। किसी ने पढ़ा नहीं, पर मेरा बेटा ? कलम पकड़ते न पकड़ते ही उसकी रचना छप गयी। लोगों को पसन्द आयी। तुमने सोचा, मुझे चोट लगेगी ? क्या है न ?"

थोड़ा ठहर कर बाबा और भी गाढ़े पर स्वच्छ स्वर में बोलते जा रहे हैं, "छि आतू, छि। मुझे तुमने बहुत छोटा समझ लिया। तुम खुद माँ हो, पर पितृत्व का नहीं समझती हो। बेटे का सब जाने, पहचाने, इसका आनन्द अपनी रचना के प्रकाशन से एक तिल भी कम नहीं है, बल्कि अधिक है। कम से कम इस उम्र में मैं महसूस कर पा रहा हूँ। यह गौरव कहीं अधिक है। छि जानबूझ कर किसी को छोटा नहीं करना चाहिए।"

बाबा मेरे पास आ गए। उन्होंने मेरे माथे पर हाथ फेरे। वह स्पर्श अकम्पित स्थिर है। पर बोले जा रहे हैं, 'मुझे अब कोई चिन्ता नहीं है। अब मैं मर सकूँगा, क्योंकि अब तो जान गया हूँ मैं जीवित रहूँगा। जान गया, जाऊँगा नहीं, जाऊँगा भी तो रह जाऊँगा।"

आशीर्वाद—मुझे ? आश्वासन मुझे ? आँख बन्द करने पर आज भी कानों में कुछ ध्वनित होने लगता है।

* * *

ठीक उसके दूसरे दिन सुबह के समय, मेरा दूसरी बार चीत्कार—"माँ!' तुम भाग कर आयी थी। चौखट पर हम दोनों आसपास। कमरे के अन्दर, चारों ओर टीन के खाली डिब्बे और जड़ी-बूटियाँ। उनका ही बनाया हुआ सपनों का संसार। फैले हुए उन्हीं संग्रहों के बीच—

लेटे हुए बाबा सो रहे हैं।

एकदम शिशु की तरह, एक सरल सुख में परम तृप्ति के साथ सो रहे हैं। सुबह की धूप न जाने कितनी तरह से उनके शरीर पर से खेलते हुए उन्हें उठा देने की कोशिश करती है। कुछ उत्सुक चिड़ी, घूम-घूम कर उनका चेहरा देख रही थी। वे निस्पन्द थे। बगल में रखे, जड़ी-बूटियों के पत्तों से एक निरीह कीट उनकी बाहों से

रेंगता हुआ, उनकी छाती पर रेंगने लगा था। पर वे सहिष्णु, हिले नही, क्योंकि वे किसी प्राप्ति मे परितृप्त अविचल जल तल मे मग्न, शान्त थे। चिरायत वे निद्रित हो चुके थे।

मा, इस बार चीत्कार कर उठने की बारी तुम्हारी थी। अचानक किसी व्याकुल लहर की तरह तुम कमरे मे बिखर कर चूर-चूर हो गयी।

मानो कुछ देर पहले ही मदिर मे किसी के लिए प्रार्थना की गयी। उपासना समाप्त हो चुकी है, फिर भी हम सब स्तब्ध बैठे हुए हैं। नीरवता को ही वाङ्मय होने दिया जाए। शब्द तो केवल जल मे पतवार की तरह आघात करता रहता है। नीरवता, प्रसारित शुभ्र पतवार की तरह खीच कर ले जाती है। वही सही। वह रहे सुधीर मामा। आए हैं आना निश्चित था। पर चुप हैं। चुप इस मकान के दास-दासी भी हैं, जो हम लोगो से घृणा करते हैं। पर इस क्षण नही कर रहे हैं। तुम दोपहर को अपनी मासी माँ के कमरे मे कोई काम करने जा रही थी, उन लोगो ने तुम्हे रोक दिया। वे लोग आज तुम्हारा सारा काम कर देंगे। मृत्यु की एक-एक घटना इस तरह सबको बदलता है। बहुतो को स्पर्श करती है, शायद कुछ समय के लिए ही, फिर भी ईर्ष्यातुर मनुष्य को किंचित महत्व भाव कोई मृत्यु ही दे सकती है। देखो, वह जो अविनाश है, वह भी कैसा उदास-सा शून्य में देखता हुआ बैठा है बीडी फूकना बन्द है। पता है, महत्व के प्रकोष्ठ से वे लोग जल्दी ही निकल आएगे, फिर से जस के तस बन जाएँगे। फिर भी इस समय जो सच है, उसे झुठलाया नही जा सकता।

सुधीर मामा मुह झुकाए बैठे हुए हैं। आते ही तुम्हारी ओर सिर्फ एक बार ही देखा था, उसके बाद फिर नही। फर्श पर लकीर खींचे जा रहे हैं, शायद अपनी स्मृति में पर्यटन कर रहे हैं। किसी अपराध बोध से क्या आक्रान्त हो रहे हैं ?' सिर्फ छीन लेना, अथवा चोरी करना ही पाप नही है, मन ही मन में उसकी कामना करना भी पाप है।'' इस कथन को मन ही मन मे बार-बार उच्चारित कर रहे हैं। श्राद्ध का मन्त्र उनके लिए सिर्फ यही एक ही है ?

पर मैं ? मैं कौन-सा मन्त्र पढूगा ? श्मशान-अनल मे दग्ध, बान्धवो द्वारा परित्यक्त का, किस स्नान-पान से सुखी करूँगा ?

बल्कि रहने दे। कुछ देर मौन ही रहूँ। न जाने कब से इस रचना की नाव पर बह चला हूँ। घाट दर घाट छू आया। अब क्लान्त हो गया हूँ माँ। इस अध्याय का अब तो सिर्फ एक ही घाट बाकी रह गया है। वहाँ भी जाऊँगा, जब उतरा ही हूँ तो वहाँ भी जाऊँगा ही। वक्ष भर जल म खडे होकर शेष अजली अर्पित करूँगा। जिसे होना था अशत अभियोगपत्र, वह हो गया सम्पूर्ण प्रायश्चित। खैर।

माँ, अभी-अभी रेडियो मे घोषणा हुई, "समाचार समाप्त हुआ।" लिखना रोककर रेडियो खोला था, पर तुरन्त ही बन्द करना पड़ा, क्योंकि उस घोषणा को सुनते ही मुझे चौंक जाना पड़ा था। "एट दैट इज द एण्ड ऑफ दी न्यूज"—वे लोग कितनी सहजता से बोल देते हैं, मुझसे बोला नही जाता है, क्योंकि मुझे पता है, सवाद, सवाद का शेष उपसहार! क्या मृत्यु मे समाप्त होता है ?

"जब भी अकेले होता हूँ, तुम्हे पाता हूँ।" इस पक्ति को न जाने कितने दिन बाद लिखा ? याद नही। लिखता रहा, काटता रहा। फिर चुपचाप बैठा रहा।

न जाने किस समय रजनी नगे पाँव आ गयी थी। पता नही चला। झुक कर न जाने किस समय धीरे धीरे पढने लगी। मैं चौंक उठा।

"तुम्हारी नयी रचना है ?" उसने पूछा। इसका उत्तर देना निरर्थक था। नया रचना ? क्या पता ?

"तभी तुम हारत हो," उसने अस्फुट स्वर म पूछा, "तुम कौन है ?"

तुरन्त बोल बैठा, "तुम।"

"मैं ?" सुन्दर-सी खुशी भरी हँसी उसके चेहरे पर फैल गयी।

माँ, मैंने उससे झूठ कहा था। यह 'तुम' वह नहीं थीं। कोई नहीं था, बहुत से लोग थे। "तुम" एक सयुक्त शब्द है। अलग-अलग समय मे अलग-अलग तुम।

"क्या सोच रहे हो," मेरे सिर पर हाथ रखते हुए रजनी ने पूछा। मुझे चुप रहते देख, उसने खुद ही कहा, "मुझे पता है, क्या सोच रहे हो ? मसोमोशाय के बारे मे। है न!"

चौंक उठा। जब भी अकेले होता हूँ—उसमें बाबा भी क्या एक जन "तुम" है ? जिसे कभी प्रत्याख्यान किया था ? कम से कम प्रसन्न मन से ग्रहण तो नही ही कर पाया था। किस तरह प्रायश्चित होगा बताओ ? बताओ ? इन कई महीनों की हर बेचैन रातो को उन्हें बुलाकर, पूछता रहता हूँ। बाबा कुछ कहते नहीं हैं, सिर्फ हँसते हैं, किसी विदेशी नाटक के नायक की तरह!

"छि इतना नहीं सोचते।" रजनी ने करुणा की प्रतिमा बनाते हुए कहा।

"तुम नही समझोगी।" मैंने कहा।

"समझूँगी नही ?" अचानक वह प्रदीप्त हो उठी। "शोक मुझे नही मिला है ? मेरे भी माँ और बाबा दोनो ही खैर जाने दो उन बातो को। पता है बचपन मे एक पतगा पाला था मैंने ? बगीचे से बाबा ने ला दिया था। एक बारीक धागे से कलमदान से बाँध कर उसे बाबा के लिखने की मेज पर रख दिया था। वह उडने की बहुत कोशिश करता, उड नही पाता। बाबा और मैं बैठे तमाशा देखते। पर एक बार बाबा बाहर गये। रात को बहुत तेज हवा उठी। सुबह वह पतगा गायब मिला। सोचा हवा ने उडा दिया होगा। बहुत रोई। पर बाद मे लगा, टूटा हुआ धागा रहना चाहिए। वह कहाँ है ? शक हुआ। माँ को बताया। माँ ने स्वीकार किया, "हा मैंने ही उडा दिया है, कितना नीच विचार है ? पतगे को कष्ट मिल रहा था। सूखता जा रहा था, इसलिए।" मैं खूब रोई। एक बहुत बडे कागज पर बाबा को पत्र लिखा, जिस पतगे को तुम मेरे लिये लाये थे, पता है बाबा, वह अब नही है, माँ ने उसे उडा दिया है। कैसा पत्र रहा ?"

"बहुत सुदर, सरल।" मैंने कहा।

"इससे अधिक मन की बात मैं प्रकाशित नहीं कर पाती हूँ। रजनी कहती रही, "तुम बहुत सहजता से अपने मन की बातो को लिख लेते हो।'

"कोशिश करता हूँ।"

"पतगा उड गया है। माँ ने उडा दिया है, अपने दुख को प्रकट करने के लिये इससे अधिक और कुछ नही लिख सकी तुम लोग कितनी बडी-बडी बातें जानते हो।'

'उन सबकी जरूरत नही पडती है। थोडी-सी बातो मे बडे दुख को भी समझाया जा सकता है। जैसा सगीत मे होता है।"

वह चौंक उठी। "सगीत मे होता है ? अच्छा मान लो, जिसे संगीत से प्रेम हो, वह अगर अचानक सुनना बद कर दे !"

"दृष्टात है," मैंने कहा। "पुस्तक मे पढा है। एक विदेशी सगीतकार खुद ही "

वह हँस पडी "दृष्टात तुम्हारे सामने ही है। कान नही, मेरी आँखें जा रही हैं। पता है, बचपन से ही सब कुछ देखना मुझे इतना पसद था। बाग मे, गगा के किनारे या फिर इस छत पर बैठकर देखते हुए समय बिता देती थी। कितने रग बनाना और मिटाना। कुल सात रगो के बारे मे कहा गया है न ? पर अग्रेजी किताबो मे मैंने और भी कई रगो के बारे मे पढ़ा है। तस्वीरो का एल्बम भी मेरे पास था। पर अब उन तस्वीरों को अच्छी तरह देख नही पाती हूँ। उन किताबो को बीच-बीच मे अपने नजदीक लाकर उनकी महक लिया करती हूँ।"

बोलते हुए वह काँप रही थी। 'और आकाश ? बहुत दूर चला जा रहा है। अच्छा, हम लोगो की आँखे ठीक चिडिया की तरह होती हैं न ? दूर-दूर तक उड

जाती है। कितने रंग, कितने दृश्य उठा लाती है ? याने लाती थी। मेरी दोनों आँखें धागे मे बँधे पतंगे की तरह केन्‍ होती जा रही हैं। न उड पा रही है, न कुछ अपने होंठ से उठाकर ला पा रही है।" थोडा ठहर कर, रजनी कहती है "वह पतंगा फिर लौटा नही।"

मैंने उससे कहा, "आता तो है, थोडी देर पहले ही तो आया है, वह भी आता है, तुम्हे पता नहीं ?"

दिल रखने वाली इन बातो से उसे तसल्ली हुई कि नही पता नहीं, क्योकि उस समय भी वह सिर हिलाये जा रही थी। कह रही थी, "दोनो आँखें चले जाने से जानते हो किस बात का सबसे अधिक दुख होगा ? तुम्हें भी देख नही पाऊँगी।" बहुत सरल स्वर मे वह बोल रही थी, "हालाँकि रोज तुम्हे देखने की इच्छा होती है, उस समय भी होगी।'

('तुम्हें रोज देखने की इच्छा होती है", कब किसने कहा था ? आज तुम्हारे सामने जो जुबानबंदी दे रहा हूँ उसमे यह वाक्य कहाँ से घुस पडा ? "रोज देखने की इच्छा होती है"—यह श्रुत वाक्य बार-बार कानों मे गूंज रहा है। मैं भी चिल्लाकर कहना चाहता हूँ, "आज मेरी भी इच्छा होती है।" पर इच्छा, इच्छा ही है। कोई नही लौटेगा। जो जाते हैं, वे लौटते नही हैं, पर इतनी आसक्ति सीने मे दबाए मैं भी किस तरह मुक्त हो सकूँगा ?

माँ। खिडकी दरवाजे सब खोल दो। हा हा स्वर मे मेरा अतीत उडता हुआ आए। मुझे उडाकर किसी शैल शिखर पर बैठा दे। रजनी को जिस बात का डर था, वही डर मुझे भी है। आँखो के सामने से सारे रंग रूप मिटते जा रहे हैं। मैं क्या अंधा हो जाऊँगा ? अथवा पंगु, पक्षाघातग्रस्त ? इसी बात का डर मन मे समाया हुआ है।)

* * *

"तुम क्या अभी भी नीचे के कमरे मे अकेली ही सोती हो आनू ?' सुधीर मामा ने कहा था, "अकेले मत रहा करो। खासकर रात को। न हो तो किसी को बुला लो।"

"मुझे किसी की जरूरत नहीं हैं।" मेरी ओर कनखी से देखत हुए तुमने कहा था।

"नही, मेरा मतलब है अगर डर-वर लगे " सुधीर मामा की बात खत्म होने के पहले ही तुम बोल पडी हो "नही सुधीर दा, किसी तरह का डर-वर मुझे नही लगता है, मुझे जो लोग छोड गए हैं, वे दोबारा मेरे पास नही आएँगे।"

लज्जित स्वर मे सुधीर मामा ने कहा था "नहीं। मैंने प्रणव बाबू की बात सोचकर नही कहा था। वे पुण्यात्मा व्यक्ति थे। मुक्त हो गये हैं। सच अंतिम दिनो मे उनम अद्भुत परिवर्तन आया था। मैं तो अवाक हो गया था।"

"तुममे परिवर्तन नहीं आया है ?"

"कहाँ हुआ परिवर्तन ? सिर्फ रगड ही रहा हूँ, पर हल्का नही हा सका।"

"बहुत रात हो गयी है, अब घर जाओ सुधीर दा। पास में ही कहीं तुम्हारा डेरा है न ?"

"हाँ, वही एक डेरे जैसा ही।"

"एक दिन जाकर देख आऊगी।"

"जाओगी ? तुम जाओगी ? सच्च आनू ! कहने का साहस नही होता है। जाने पर पता चलता, अभी भी कितने भयकर रूप से जकडा हुआ हूँ।"

"रहने दो देख कर क्या करूँगी। सुधीर दा ! बादल घिर रहे हैं, शायद बारिश हो !"

(बात को तुमने दूसरी ओर मोड दिया ?)

"हाँ अब जाऊँ।" सुधीर मामा ने कहा। पर उसी समय उठे नही।

वे आ रहे थे। आना शुरू कर दिया था। बाबा की मृत्यु के बाद से ही। वही स्वाभाविक भी था। गाँव के रिश्त से तुम्हारी मासी माँ से भी उनका थोडा-बहुत परिचय था।

आ रहे थे, क्योकि इसी समय अपने प्रियजनो के पास आते रहने का दस्तूर है। हालाँकि ज्यादातर चुपचाप बैठकर ही समय निकलता है। बीच-बीच मे थोडी-बहुत बातें तुम दोनों के बीच होतीं। बीमारी, गठिया, दमा की बातें।

मुझे सुनने मे बडा मजा आता। बीच के कुछ वर्ष तुमसे कोई भेंट नही। इतने दिन बाद अब बातचीत की शुरुआत ! बीमारी और डाक्टर, सालसा मालिश। घूम फिर कर वही सब बातें माना बाकी बातें चुक गयी हैं। सुनकर मुझे अवाक लगता। पर अब समझ मे आ गया है। शेष उम्र म, पुराने जीवन मे लौट जाना। चर्बी चबाने जैसा। बीमारी ही एकमात्र सूत्र रह जाती है। जुडी हुई स्मृतियाँ ! बीमारी पर बातचीत करने का अपना एक अलग सुख !

"ऐसा भी हो सकता है सुधीर दा कि मैं धीरे-धीरे जिस तरह शक्तिहीन होती जा रही हूँ, तुम आए पर मैं निकल नही सकी। तुम्हें बराडे से ही लौट जाना पडा। मैं जान भी नही पाऊँगी कि तुम आए थ ! नही, नहीं जान पाऊँगी-पाऊँगी। तुम्हारी लाठी की ठकठक आवाज ! उसी से जान पाऊगी।"

"ऐसा भी तो हो सकता है आनू कि मैं ही एक दिन नहीं आ सका। शरीर इतना टूट जाए कि फिर कभी आना हो हा न सके। हो सकता है मैं ही न रहूँ। मैं नही हूँ, तुम जान ही न पाओ।"

तुमने प्रतिवाद नही किया। दीघ श्वास छोडते हुए धीरे-धीरे कहा, "हो सकता है, सब कुछ हो सकता है। अच्छा सुधीर दा, तुम अब उस स्टेशन पर

जाकर नहीं बैठते हो, जहाँ से तरह-तरह की गाड़ियाँ विभिन्न दिशाओं को चली जाती हैं ?"

"जाता हूँ आनू। कभी-कभी। वहीं से तो तुम लोगों के पास चला आता हूँ।"

"मुझे भी एक बार दिखाना। बहुत मन करता है देखने का।"

"ठीक है। थोड़ा बहुत बाहर निकलना ही चाहिये। उससे तुम्हारा मन भी शान्त रहेगा।"

*　　　　*　　　　*

"यह क्या कर रहा है ?" ऊपर से मुझे तकिया-चादर लेकर नीचे उतरते देख तुमने कहा।

'आज से मैं तुम्हारे साथ ही सोया करूँगा माँ।"

दो बिस्तर पास-पास। दोनों जने ही एक दूसरे की साँस सुन पा रहे हैं। थोड़ी देर बाद तुम कहती हो, "सुधीर दा जो कुछ कह रहे थे, सुन लिया था क्या ? तू भी पगला है। देख, डरने की कोई बात नहीं है। वह नहीं आएँगे। और अगर आएँ भी तो सिर्फ तुम्हारे लिए आएंगे। मेरे लिए नहीं।"

"तुम्हें वह बहुत चाहते थे।' तुम धीरे-धीरे बोले जा रही थी। "तू बड़ा बनेगा, इस विश्वास के साथ ही वे गए हैं, उनके विश्वास को तू नष्ट मत करना। आदमी बनोगे इस बात की प्रतिज्ञा करो। मेरे भी बहुत दिन नहीं बच गए हैं मैं भी जाऊँगी। तुम्हें जो कुछ कह रही हूँ तुम्हारे भले के लिए ही कह रही हूँ।"

उसी समय दूर कहीं जोर-जोर घंटा बजने लगा। बाद में वह घंटा ध्वनि किसी समय थम गयी थी, क्योंकि कुछ भी बराबर बजती नहीं रहती है। मुझे आज भी पता नहीं चल सका कि किसी-किसी शीतल प्रहार में कहीं दूर पर, आज भी घंटी क्या बजने लगती है और बजती भी है तो अचानक थम क्यों जाती है ?

जानूँगा क्या ? कितना जान सकता हूँ ? जानने से न जानना अधिक बड़ा है। अधिक परिव्याप्त। माँ सब कुछ जान लेने की कोशिश में तुम्हें रोते देखा है। सब कुछ जानने की कोशिश में मैं भी रोया हूँ। हमारे मन के किसी कोने में हमेशा ही एक अश्रुपूर्ण कलश रहता है, इसलिए जब-तब वह छलक पड़ता है। अपना अपना कलश उँड़ेल कर तुम सब मुक्त हो चुके हो। मैं अभी तक मुक्त नहीं हो सका हूँ। पीड़ा और अश्रु से ही यह पूरी रचना लिखी गयी है।

चूँकि वह घंटा ध्वनि थम चुकी थी, इसलिए मैं अपराध के ढलुवे रास्ते पर उतरता जा रहा था। तुम बहुत कुछ अनुमान लगाती। पर मैं तब तक काफी सयाना और चौकन्ना हो चुका था। पकड़ नहीं पाती थी। सिर्फ इतना भर समझ रही थी कि कुछ एक तुम्हारे अगोचर में घट रहा है।

क्या था बुला में ? जिसके सम्मोहन में खिंचा मैं एक दुःख के गढ़े में धंसता चला जा रहा था ? रजनी में क्या नहीं था ? उसकी शुभ्रता, शुद्धता क्या स्वादहीनता

पाँव के नाखून मेरी कलाई में चुभोए जा रही थी। बूला इस तरह के खेल खेलना जानती थी।

*　　　　*　　　　*

रजनी ने ज्यों ही सुना, त्योंही अपनी डबडबायी हुई आँखों को उठाते हुए पूछा, 'मैं नही जाऊँगी ? मुझे नही ले जाओगे ?" मुझे कुछ कहने का अधिकार नही था, पर बासी से कहते ही वह तैयार हो गया। प्यार के विश्वास ने बासी को बहुत उदार बना दिया था।

नाव बँधे घाट पर, रजनी को देखकर, बूला भी हँसी, पर असल मे उसने मुस्कराने की कोशिश ही की थी। यद्यपि बूला के चेहरे पर कोई परछाई नही थी, फिर भी वह गम्भीर ही बनी रही।

उस बँगले मे पहुँचने पर मैंने माहौल को हलका बनाने की कोशिश मे कहा, "अगर तुम दोनों को ही मैं दो फूल दूँ, तो तुम लोग क्या करोगे ?"

रजनी धीरे-धीरे बोलती है, "मैं बालों मे लगाऊँगी और क्या ?"

और बूला बोल पडी, "मैं मसल दूगी," कहकर सचमुच ही उसने एक फूल तोडकर उसकी सारी पखुरियो को मसल डाला। उसके बाद पता नहीं, कहाँ से माली को बुलवा कर, बँगले के खिडकी-दरवाजे फटाफट खुलवा लिया।

पर रजनी बदल गयी थी। उस फूलो के बाग मे जाकर वह बहुत ही प्रफुल हो गयी थी, चप्पल उसने पहले ही उतार दिया था। नगे पाँव घास पर घूमती रही।

'सच ! बहुत अच्छा लग रहा है।" उजास, बडी बडी आँखों को उठाते हुए वह बोली। थोडी उचकती हुई एक झुक आए पेड के डाल से पत्ता तोडा। नाक के पास उसे लेकर सूघते हुए कहा, "आह ! क्या खुशबू है !' कृतज्ञता उसके चश्मे के मोटे काँच को भेदती हुई बाहर निकल आ रही थी। "कहाँ ! कुछ भी तो धुधला नही दीख रहा है। ठीक ही देख पा रही हूँ। अपने ढग से। गन्ध, स्पर्श इन सबके द्वारा भी बहुत कुछ पाया जा सकता है।"

"पाया जा सकता है क्या ?" थोडा रहस्य करता हुआ बोला।

"तुम लोग नही समझोगे," कहकर वह फिर महक लेने लगी। ठीक उसी समय पीछे के बराण्डे से बूला ने मुझे बुलाया। पहले इशारे से बाद मे हाथ हिलाकर। वह जब हाथ हिलाकर बुलाती है, उसकी हथेली फन उठाए किसी छोटे सर्प की तरह हो जाती है।

एक ग्रीनग्रास उस हाथ के इशारे पर धीरे-धीरे आगे बढ गया।

"क्या लाया है ? क्यो लाया है उसे ? बूला ने कहा। साँप के पास भापा रहने पर जिस स्वर मे बात करता, उसी स्वर मे। "वह क्या तेरी रक्षा कवच है ? तेरी रक्षा करेगी ?"

मुझे बात न करते देख, सोचा शायद मैं बात नही करूगा। वह मुझ पर फुफकारती रही, "तुझे उसमें ऐसा क्या मिल गया ? वह गोरा है इसलिए ?'

तब मैंने भी धीरे-से पूछा, "और तुम ? तुम्हें ही बूला उस लड़के मे क्या मिला ? उस गूलर मे है क्या ?"

तालू मे जीभ से टकार ध्वनि निकालते हुए बूला ने कहा, "टाका !" कहकर ही उसने किसी निष्ठुर विरात रमणी की तरह हिंस्र होती हुई मेरे गाल पर टकोर मारा। "तेरे पास जो चीज नही है, वही रुपया ! है नही, इसलिए उनके यहाँ पड़ा हुआ है। मुझे सब पता है। ठहर ! तूमने उसे गूलर कहा है। तेरे दोस्त को अभी सब कुछ बता दूंगी।"

बूला ने आँखें तिरछी की था। रह-रहकर मुझे लेकर मजा करने के लिए। जिस तरह बिल्ली चूहे के साथ खिलवाड़ करती है बोलती रही, "अगर बता दू ! अगर बता दू !"

ये दो शब्द बर्रे की तरह चक्कर खा रहा है। मैं डर गया था।

बायाँ पाँव बढ़ाकर बूला ने मेरे पाँव मे ठोकर मारा। "बेईमान ! बदमाश ! जिसकी थाली मे खा रहा है, उसे ही गूलर बता रहा है ? तू खुद क्या है ? उस लड़की के पीछे कगले की तरह घूम रहा है। पूजा कर रहा है। फूल बूल दे रहा है। इसका मतलब यह कि तू भूल नही पाता है कि तू उसका नौकर की तरह है। सुन, लड़कियाँ फूल-बूल नही चाहती हैं। जो देता है, उस पर करुणा भर कर सकती है। यह लड़की, वह किशमिश, मैं तुझे बता दे रही हूँ। बिलाशक तेरे कगलेपन पर तुझसे घृणा भी करती होगी। वह तुझसे प्यार तभी करेगी अगर-अगर तू जबरदस्ती उसका सब कुछ छीन ले ! किसी डाकू की तरह उस पर अगर झपट पड़े। है तेरे म उतनी हिम्मत ?'

बूला हाँफ रही थी। बूला, दाँत से एक तिनका कुतरती जा रही थी।

किशमिश इधर की ओर ही आ रही थी। उसे आते दख बूला की आँखो से चिंगारी छूटने लगी। दबे स्वर म कहा, 'आ, उसके साथ एक तमाशा करें।"

किशमिश उस समय भी कुछ दूरी पर थी, जिस समय बूला ने अकस्मात वह सब कर बैठी। क्या कर रहा है, यह समझने के पहले ही उसने मुझे अपनी छाती के बीच जकड लिया था। उसके होठ, उसकी जीभ, उसके दाँत, व सब कहाँ थे ? क्या कर रहे थे, भले ही स्वीकारोक्ति ही क्यो न हो। मैं यहाँ कैसे लिखू ! बूला ने वह सब किया नही-नही यह झूठ है। किया मैंने भी। मैं भी शरीक हुआ, सुख लिया, लिपटा रहा। उस पाप के ऊपर अबाध्य शरीर का लुब्ध हो उठने की बात को दबा जाना और भी बड़ा महापाप होगा।

पर रजनी अन्तत इधर आयी ही नही। थोड़ी दूर आकर ठहर गयी थी। शायद हरिआवल की आवाज सुनी हो। खड़ा रहकर धीरे-धीरे दूसरी ओर मुड गयी।

वीभत्स स्वर मे बूला ने कहा, "वाह वाह ! क्या तमाशा रहा ! रानी ने कुछ नहीं देखा। एक अन्धी लड़की की आँख के सामने उसके प्रेमी के साथ, जो मन मे आए किया जा सकता है न ? इसी को कह रही थी, तमाशा !"

मेरे दोनो हाथ, मेरे गाल पर थे। रगड-रगड कर जहरीले दाँतो के निशान मिटा देने पर तुला था मैं।

* * *

इसके बाद भी दोपहर सहज गति से कटी। हालाँकि उमस जा नही रही थी। हम लोग पत्तल बिछाकर, खाने बैठे। खाना बहुत अच्छा पका था। गोश्त की खुश्बू खूब मजे की आ रही थी। हालाँकि मैं बीच-बीच मे रजनी की ओर कनखी से देखे जा रहा था पर रजनी अपने मे ही डूबी हुई। धीर-स्थिर ढग से बात कर रही थी, हँस रही थी। मुझे राहत महसूस हो रही है। हत्यारा कोई सबूत न रख जाने पर जिस तरह निश्चिन्त होने पर आश्वस्त होता है, उसी तरह।

खाने के दौरान ही बाँसी ने कहा, "मेरे जन्मदिन पर बूला, तू मुझे कुछ देगी नही ?"

बूला ने कहा, "दूँगी, दूँगी। साथ लायी हूँ। खाना-वाना हो जाए उसके बाद।" क्या लायी है, यह बूला ने नही बताया।

खाना खत्म हुआ। उस समय तक दिन बहुत ज्यादा नही ढला था। सूरज एकदम सिर के ऊपर दमक रहा था। बूला ने आँख पर काला चश्मा चढ़ाते हुए कहा, 'यह सूरज किसकी तरह है बताओ तो ? पुरुषो की तरह शैतान। पहले खूब मीठा-मीठा सा नरम रहता है। फिर धीरे धीरे भयकर हो उठता है। प्रेमिक से धीरे धीरे अत्याचारी पति बन जाता है।"

मृदु स्वर मे, पर उसे सुनाते हुए बोला, "पर बूला ! लडकियाँ भी कुछ कम भयकर नहीं हाती हैं।"

बूला न कहा, "होगी क्या नही, होती हैं। पर जा पत्नी बन पाती है, वे लोग कम ही होती हैं। होती वे हैं जो कभी भी कुछ नही हो सकेंगी। न पत्नी, न माँ। जो कभी किसी की बेटी जरूर रही होगी, पर बाद मे वह भी नही रह जाती हैं। वे लोग हिंस्र होती हैं, भयकर होती हैं। तुमने जो कुछ कहा वह सब। वन पहने पर वे लोग सब कुछ ध्वस्त कर जाती हैं।'

बूला मुझे उस समय कैक्टस के पौधे जैसी लग रही था।

"अब अब क्या करना है ?' बूला ने ही थोडी देर बाद पूछा। कमर पर हाथ रखकर विजयिनी की तरह। खडी होकर।

'अब ? अब गाना।" शायद बासी ने ही म्रियमाण स्वर मे कहा हागा। ' बूला मैं हारमोनियम के बिना गाता नही हूँ।"

तो फिर ताश ! लाए नही हैं। उसी समय बूला अचानक तलवार की तरह हाथ फैलाते हुए बोल पडी, "सिगरेट है ? सिगरेट ?"

रजना अवाक दृष्टि स देखती रही। मैंने और बाँसी ने एक साथ पूछा, "तुम पियोगी ? ' बाँसी ने काँपते हुए हाथ से एक सिगरेट बढ़ा दिया। बूला ने बड अभ्यस्त ढग से उसे पकडा, पर एक दो कश भरने के बाद उस फेंकते हुए कहा, "थू !"

थोड़ी देर बाद ही, 'चौकीदार ! चौकीदार !'' चिल्लाकर उसने बुलाया। उसके हाथ में एक रुपया थमाते हुए बेझिझक फरमाइश की, ''चुरुट।''

उससे पहले उन दिनों चौरंगी के इलाके में सिनेमा-विनेमा में ही सिर्फ दो-चार मेमों को सिगरेट पीते देखा था। चुरुट? कभी नहीं। सोचा भी नहीं जा सकता। बहुत आसानी से समझा जा सकता है कि आज बूला संहाररूपिणी बनी है। सभी तरह के संस्कार को ध्वस्त कर देना चाहती है। जिसकी सुबह की शुरुआत फूस मसल देने से हुई है, उसका उपसंहार भी तो उपयुक्त होना चाहिए ही!

बहुत भद्दे ढंग से बूला ने चुरुट को अपने होंठों के बीच दबा रखा था, उसकी बगल में हम दो लड़के सफेद, पतली-पतली सिगरेट पीते हुए। अजीब सा लगा। कुछ ज़िद सवार हो गया। उठकर खड़ा हो गया और फिर खरखराई हुई आवाज में बोला, ''दो बूला, मुझे भी चुरुट दो।''

''तू! पीयेगा!'' और फिर मेरी नाक को निशाना बनाकर फेंकती हुई बोली, ''ले।'

एक अघोषित लड़ाई में हम दोनों ही उतरे हैं। अलिखित कोई प्रतियोगिता। कश पर कश एक-दो-तीन। मगज में धुआँ जमता जा रहा है। धुआँ मेरी छाती में जमकर पत्थर हो जाएगा क्या?

थोड़ी दूर पर किसी कारखाने की चिमनी से ढेर-ढेर सारा धुआँ निकल रहा था। इशारे से बूला से कहा, 'हमलोग क्या उससे होड़ लगाए हुए हैं?''

बूला जोर से बोल पड़ी, 'धत! हमलोग अभी ज्वालामुखी बने हुए हैं। क्या उगल रहे हैं बताओ तो? लावा, गरम रेत, गंधक यही सब—आरती के लिए जिन चीज़ों की जरूरत पड़ती है।''

क्षणांश के लिए उधर देखते हुए बोला, ''ऐसा भी तो हो सकता है बूला कि उसके दिल में जितना कष्ट है, कालिख वगैरह सब कुछ निकाल दे रही है!''

''मैं यह सब नहीं मानती हूँ।'' ढेर सारा धुआँ उगलते हुए बूला ने कहा, ''मैं अब शाम की इस मरी हुई रोशनी को एकदम ढँक दूंगी। चारों ओर धुआँ ही धुआँ हो जाएगा।'' क्रूर कुटिल। कोई प्रतिशोध लेने के लिए ही शायद उसने भयंकर भाव से कहा। मेरा सिर और ज्यादा चकराने लगा था। बूला हँस पड़ी थी। उसे कहते हुए सुना, 'वह लड़का एकदम लट्टू है! तू तो बिल्कुल लट्टू हुए जा रहा है! धुत्! हार गया!'' कहकर, दौड़कर बँगले के पिछवाड़े के बरामदे में घुसी गयी।

उस समय तक मेरे मगज से सारा धुआँ निकल चुका था। मैं स्वच्छ हवा ले रहा हूँ। *बगल में जो आकर खड़ा हुआ, उसे पकड़ कर उठने की कोशिश की।* ''रजनी, मेरा सिर कैसा तो चक्कर।'' झेंपता हुआ मैं अपने आप कैफियत देने लगा था।

''पता है तुमने चुरुट पिया है।''

''बूला ने दिया था।''

"देते ही पीना चाहिए क्या ?"

"उसने ऑफर किया था। सोचा था पी नहीं सकूंगा। मैं लड़का हूं न !"

उसने हंस कर कहा, "ऑफर मिलते ही उसे लेना ही पड़ता है क्या ? सचमुच के मर्द लौटाना भी जानते हैं। वही उनकी ताकत होती है। मन की ताकत।"

"मुझसे नहीं होता है। जिद-सी चढ़ जाती है। 'न' कहने से अगर मेरा मजाक उड़ाया जाए। इसलिए जो जैसा कहता है, करता हूँ। बिना समझे ही लुढ़क जाता हूँ।"

मन और ममत्व के साथ मुझे सुनते हुए उसने कहा, "यह दुर्बलता है। असल में एक रोग ही है।"

उसका एक हाथ अपने हाथ में लेते हुए कहा, "तुम ठीक कर दो।" उसने कहा, "कर दूंगी।" धुंधले प्रकाश में वह किसी आशीर्वादिका की तरह लगी थी। वह शायद और नजदीक आ रही थी। उसकी सांस की समीपता को महसूस करते ही मैं भयभीत होकर अचानक मुंह घुमाकर बोल उठा, "रजनी ! मेरा मुंह कड़वा गया है।"

उसने पृथ्वी की पवित्रतम मुस्कान के साथ कहा, "चुरुट पिया है, इसलिए ? अब मत पीना।"

स्वीकारोक्ति का आवेग मेरे सिर चढ़ आया था। जल्दी से कहा, "सिर्फ क्या चुरुट ? उससे भी पहले दोपहर को मेरा मुंह भी जूठा हो चुका है। रजनी ! तुम्हें मालूम नहीं है।"

उसने कहा, "पता है। बल्कि तुम्हें ही पता नहीं था।"

"पर तुम, तुम तो दूर थी। फिर तुम्हें !" पूरी किस तरह करूं, समझ नहीं पा रहा था, इसलिए अनावश्यक शब्दों का ढेर बढ़ता ही जा रहा था।

"मेरी आंखों की रोशनी कम है। इसलिए कह रहे हो न ! पर मेरी रोशनी अभी पूरी तरह गयी नहीं है। जाने पर भी ठीक देख लेती। तुम्हें पता नहीं है। चारों ओर क्या घट रहा है इसे अंधे अपनी अनुभूति से देख लेते हैं। तुम्हें मालूम है ?"

मन्द स्वर में रजनी बोल रही थी। छोटे-छोटे वाक्यों में। मां, मेरा पाप मुझ पर प्रहार कर रहा था। एक अर्धअंध लड़की को प्रताड़ित करने का प्रयास, एक बहुत बड़े बाघ की तरह मेरे सिर पर बैठा रहा। अद्भुत स्वर में बोल बैठा, बूला मैं नहीं 'बूला हो !' मेरा लहजा बिल्कुल किसी कापुरुष की तरह।

हाथ बढ़ाकर उसने मेरे मुंह पर हाथ रख दिया, 'छि ! अपने दोष का भागी किसी दूसरे को नहीं बनाना चाहिए। दो[illegible] खुद [illegible] था, तुम कमजोर हो। दूसरे की बात टाल नहीं स[illegible]"

लाचार सा मैं फिर भी बोलने क[illegible]

खराब लड़की है। वह सब को !"

हल्की सी डांट, [illegible]

इस बात से उसे गलत नही समझना चाहिए। क्यो कर रहा है, यह भी देखना चाहिए। सबके पास कुछ न कुछ दु ख है। कहने के लिए भी जरूर कुछ होगा। दु ख-कष्ट किसी-किसी को बाहरी तौर पर बुरा बना देता है और कोई उस दु ख को लाघ कर और भी बडा बन जाता है।"

दोनो हाथ जोडकर उस समय उसके दोनो पाँव छूने की आकाक्षा हुई। उम्र मे अपने से छोटे के पैर नही छुए जा सकते। बताओ तो मा, यह कैसा अ यायपूण नियम है ?

* * *

साडी की सरसराहट के साथ क्रमश एक आकृति, समझ रहा था बूला की नजदीक चली आ रही थी। सामने आकर कमर पर हाथ रखते हुए बोली, "क्या बात ? जाना-वाना नहीं है क्या ? या यही ।" कहते-कहते अचानक ही रुक कर थोडा झुककर मानो हवा मे कुछ सूघकर फिर कहा, "क्या बात है ! वहाँ फेन्च-फन्च ! यहाँ भी फन्च फन्च ? तुम सब रुदवकडे लडको को हुआ क्या है ? ' बूला न हाथ बढ़ा कर कहा, "ले उठ ! पिया तो चुरुट है। इस पर इतनी नाटकीयता कोई नहीं करता है। इसके बाद, जब पीपे का पापा निगलेगा ! समय तो आ रहा है तब क्या करेगा ? आज तो शुरुआत थी, जिसे कहना चाहिए दीक्षा, मैं तेरी दीक्षायत्री बनी।"

अचानक मैं उससे पूछता हूँ, "बूला बाँसी रो क्यो रहा है ?"

'रोते रहने की उसकी आदत है इसलिए।"

तब मैंने साफ शब्दो मे पूछा, "बाँसी को तुमने क्या किया है ?

सिर हिलाते हुए बूला ने अपने बिखरे बाल और फैला दिए 'उस मैंने जन्म दिन का उपहार दिया है। अभी थोडी देर पहले दिया है।"

"उपहार पाकर रोना ?"

"क्या दिया है, सुनना चाहते हो ? नकली दाढी और मूछ ! ही ही ।" बूला भद्दे ढग से हँसने लगी। "ज्यादा फेचफेच करेगा तो तुझे भी दूगी। फिकर मत करो साना, फिक्र मत करो ! तुम सब को मद बनाकर छोडूगी।' बूला सस्वर बोल उठी।

"तुम कितनी बुरी हो बूला ? बहुत निष्ठुर।" उसे चोट पहुँचाने के लिए कहता हूँ, पर उस चोट को आत्मसात करते हुए बूला कह रही है, "और तुम सब ? बाकी सब मेरे चारो ओर जो कुछ है सब दया से भरपूर है ? आहा रे ?'

लौटते समय उस दिन का समस्त सुर कट गया। रास्ते मे विशेष बातचीत नही हुई। काफी रात को बाँसी मुझे छत पर ले गया। उसकी आँखो मे तब पानी नहीं था, पर चेहरा बरसात हो जाने के बाद मुलायम मिट्टी-सी।

बाँसी थोडा मुस्कराया, ' बूला न कहा है मैं रोया था ? नकली दाढी मूछ के

लिए ? धुत्त नहीं उस लिए नहीं । वह तो अपमान था, पर उसे मजाक भी समझा जा सकता है। फिर थियेटर में कितना कुछ तो नकली पहनना पड़ता है । पर मैं रोया नहीं था । आँखें गीली हुई थी । शुरू से ही वहाँ उसका चलना-फिरना अजीब सा लगा था । पहले एक बार वह वहा गयी थी । मालूम था, पर सब कुछ इतना परिचित ! प्रत्येक कमरा, दीवार, खिड़की, दरवाजे-पलग सब कुछ । मुझे थोड़ा खटका हुआ । अच्छा भला बाहर-बाहर घूम रहा था । शाम को वह मुझे एक चोर कोठरी में ले गयी । अच्छा लग रहा था, फिर भी कहीं तकलीफ हो रही थी । वह सब कुछ जतला देना चाहती थी । वह वहाँ कई बार कई लोगों के साथ आ चुकी है ।" बोलते-बोलते बाँसी की आवाज रुँध गयी ।

मैंने कहा, "तुम्हे तो पता है, बूला थोड़ी और तरह की लड़की है ।'

उसने कहा, "मालूम है । जानना और बात है और देखना अलग बात । तकलीफ होती है ।"

आज अगर होता तो बाँसी को और समझा कर बोल पाता "जीने के नाम पर जो खेल है, दूसरे खेलों की तरह उसके भी कुछ नियम हैं । तुम्हे शायद उस नियम के बारे में जानकारी नहीं है । एक नियम तो यही है कि बहुत ज्यादा महसूसो नहीं । बाँसी ! उतना कष्ट मत पाओ ।"

मा, मुहाने के ओर नजदीक चला आया हूँ । यह कैसा मुहाना है ? बहुत टेढ़े-मेढे रास्ते से गुजरी हुई जिस नदी का नाम हहवाल है, उसका !

पीछे मुड़कर देखता हूँ तो फैली-बिखरी बहुत-सी धारायें दीखती हैं । उनमे स एक क्या तुम्हारा मेरा सम्पर्क है ? और एक तुम हो ? तुम क्या इतनी दूर आयी थी ? लगता तो नहीं है । बहुत पहले ही किसी समतल पर खो गया है । भीड़ भरी बाजार म । जीवन के आदितम सम्बन्ध का स्रोत वहाँ अब और दीखता नहीं है ।

या फिर उसे पहचानना मुश्किल होता है । और भी कई तरह क सम्बन्धो की, अभ्यास और पाप की उपनदियाँ उसमे आकर मिल गयी हैं । उसके कौन से हिस्से से एक अँजुरी, जल उठाकर बोल सकूगा, ' इतना भर जल मेरी मा है ?" परिशुद्ध सम्पर्क सिर्फ उजान में या फिर एकदम उत्स मे लौटकर ही मिल पाता है ।

माँ, शायद इसलिए ही कुछ दिनो से तुम आ नहीं रही हो । यह कैसा दण्ड है ? कैसा तिरस्कार ? इस अन्तिम प्रणाम को भी अकिंचित्करता से भर दिया हैं । क्या इसलिए ?

पर नहीं, अब मैं नहीं मानने वाला । इस बीमारी से उठने क बाद भय लोप हो चुका है । कलम को मुट्ठी मे पकड़े, तुम्हारी तस्वीर की ओर देख रहा हूँ । अब घुमालो न अपना चेहरा ! देखू कितना घुमाती हो !

* * *

अब भी जब बहुत तेज बुखार होता है, तुम्हारी याद सबसे ज्यादा आती है । तुम्हारा और उस समय के सबकी । उस बार की गरमी में मेरा बुखार, मुझे तुम्हारे

बहुत निकट ले गया। उस तरह का बुखार अब नहीं होता है। इस जमाने की सारी बीमारी ही जटिल, कठिन होती है।

पैदल हावड़ा से लौट रहा था। रजनीगया किशमिश जा रही थी। खिड़की के किनारे बैठकर उसने क्या कहा था, याद नहीं है। उसने क्या अपने दादा बाँसी को सब कुछ बता दिया था? "छुट्टी होने पर फिर आऊंगी।" रजनी ने यह किससे कहा था, बाँसी से? या फिर बाँसी को गवाह रख कर मुझे। "उस समय तक शायद और भी कम देखने लगूँ। रजनी क्या कम देखेगी? क्या, क्या? जो कुछ देखना ठीक नहीं है, वही और कम देखेगी?"

आखिर मे झुकते हुए रजनी ने कहा, "वही चीज दादा? उसे ठीक से रखना, ज्यादा हिलाना-डुलाना नहीं। तुम ठीक से रहना।"

बाँसी कहीं से एक पिस्तौल ले आया था। कुछ दिनों से उसी के साथ समय बिताता। हँस कर कहता, "प्राणघातिका, पर विश्वस्त।"

उस दिन बाहर आकर मैं गाड़ी मे नहीं चढा। बासी से कहा, 'तुम जाओ। मैं थोड़ी देर बाद जाऊँगा।"

मैं पैदल चलता रहा। चलता ही रहा।

* * *

तुम डर गयी, चिल्ला पड़ी। "यह क्या? तेरी आखे लाल क्यो हैं? बुखार तो नहीं हुआ है न?"

मैं लड़खड़ा रहा हूँ। तुमने थाम लिया है। खीच लिया है बहुत ही नजदीक, बहुत ही नजदीक। न जाने कितने दिनों बाद, तो ताप मेरे शरीर और तुम्हारे स्नेह का ताप आपस मे घुल मिल गया। मुझे ले जाकर कमरे मे लिटा दिया। नीचे के कमरे मे अपने बिस्तर पर। न जाने कितने दिनों बाद बताओ तो?

माथे पर पानी की पट्टी। माँ! न जाने कितने अर्से बाद तुम्हे अपने पास पा रहा हूँ। मेरी उम्र भी क्या कम हो गयी? कह नहीं सकता। अस्वस्थ, दुर्बल शरीर सिर्फ लुब्ध होना जानता है, स्पर्श के लिए। दुर्बल स्नायु, कुछ भी नहीं छोड़ना चाहता है। जब तक जगा रहता हूँ तुम्हें अपने पास पकड़े रखना चाहता हूँ। यहाँ तक कि नींद मे भी तुम्हारे आचल का एक हिस्सा मेरी मुट्ठी मे कसा हुआ।

और जब कमरे मे बाल्टी लाकर सिर मे पानी उँडेल रही हो! जल, निर्मल-निर्मल, अपने सहस्रधार से मेरी उम्र, बीते हुए वर्ष और मन पर जम आए समस्त कलुषता को धो गया!

तुम क्या डर गयी थी? मेरी बीमारी के लिए? मन्नत माना था क्या?

दिन की आखिरी नाव भी जब घाट छोड़कर जा चुकी है, उस समय कौन-सी दृष्टि होती है ? वह दृष्टि क्या तुम्हारे चेहरे पर दखी थी ? शायद हाँ या शायद नहीं। इस समय याद नही है।

बुखार मे जीभ त्वचा, सब सूखे-सूखे से। थोडे से स्पर्श के लिए मन तृषित रहता। रह-रह कर पानी मागता। पानी, थोडा और पानी ? वह क्या सिफ एक वर्णहीन पेय भर है ? शायद नही। मुझे इधर-उधर ताकते देख तुम पास आ जातीं, "क्यो रे ? क्या दूं ? कुछ चाहिए ?" क्या चाहता हूँ, तुम्हे समझा नही सकता था। देखता रहता। कोइ नही है। कुछ नही है। सब पुराना और चुक सा गया है।

माथे पर एक हाथ। ठडा, मुलायम। चौक उठा। बोला, "कौन ?" हर बार तुमने जवाब नही दिया है। सिफ उँगलियाँ फेरी हैं। अलस दृष्टि से तुम्हारी ओर देखकर कहता, "ओह ! तुम ! मेरे उस स्वर मे जो निराशा व्यक्त होती, उसे क्या तुम पकड पाती थी ? वरना पूछती क्यो, "तूने क्या सोचा था ?

'कौन भला ? कोई नहीं। कहकर आँख मूद लेता। महसूस करता हूँ, एक हाथ मेरी कलाई पर आ टिका है। हाथ हटाते हुए खिझे हुए स्वर म कहता हूँ, 'क्या देख रही हो ?

लज्जित सी, पकडे जाने के लहजे मे बोल रही हो, 'देख रही थी, कैसा हो ?"

"तुम्हे नब्ज देखना आता है ?" मेरा स्वर कडुवाया हुआ-सा।

"थोडा बहुत।'

पर मैंने तुम्हारे झूठ को पकड लिया है। मुझे पता है, मैं कैसा हूँ तुम यह नहीं देखती थी, तुम यह देखती कि मैं तुम्हारा कितना हू। तुम्हारा !

नहीं माँ, नही। तुम सुन लो ! इस धरती के हर युग की हर माँ सुन लें, मैं तुम्हारा नहीं था। दुनिया का कोई लडका या लडकी नही रहती है। कौन सी ऐसी नाव है जो हमेशा घाट से बधी रहती है ? नाव को बहना ही है, चाहे बीच दरिया म कितना ही तूफान क्यो न आए ? भले ही डूब जाए, फिर भी नाव को बहते जाना ही है।

मैं भी बहा हूँ। बिस्तर पर जिस समय लेटा हुआ हूँ, उस समय भी सपने में बहता रहा हूँ।

यह स्वप्न बहुत अद्भुत चीज है माँ! मनुष्य के सिवा और कौन सपने देखता है, मालूम नहीं। पर मनुष्य देखता जरूर है, पर उसे पकड़ कर रख नहीं पाता है। प्रत्येक स्वप्न आक्षरिक अर्थों में एक-एक मानस सरोवर होता है। पर अंजुरी में कितना भर जल समेट पाते हैं? उँगलियों के बीच से सारा पानी रीत जाता है। फिर भी जो कुछ रह जाता है, वही स्मृति के होंठों पर लगा रह जाता है। हम उसी लगे हुए स्वाद को महसूसते हुए जीना चाहते हैं। पर चाहने से ही क्या वह मिल जाता है? भरा हुआ स्वप्न, भरे हुए स्नेह-प्रेम की तरह होता है। अनंत कामना करने पर भी अटूट होकर लौटता नहीं है।

पर सपनों की बात रहने दो। अपनी बात कहूँ। उन्हीं बीमारी के दिनों में एक कैसा तो भद्दा-सा कांड कर बैठा था। याद है?

बार्ली का कटोरा पहले ही फेंक चुका था। उसके बाद ही तुम्हारे हाथ से थर्मामीटर छीन लिया। और फिर तुरंत पुट-से उसे तोड़ दिया। एक ही साथ अवाक और डर जाते हुए तुमने पूछा, "क्या किया, क्या किया तूने?"

"ठीक किया हूँ।" मैं फुफकार रहा था।

"बुखार शायद बढ़ा है," तुमने शांत स्वर में कहा, "जाऊँ दवा ले आऊँ।"

चीखते हुए बोला था, "दवा? दवा अब और नहीं लूँगा। तुम सोच रही हो, तुम्हारी चालाकी को मैं समझ नहीं रहा हूँ।"

"चालाकी?" सहमे हुए स्वर में तुम कह रही हो "कैसी चालाकी?"

"मेरा बुखार पाल रखने की।" विकारग्रस्त स्वर में बोलता गया हूँ, "जब तक सम्भव हो कष्ट देने के लिए।"

इस बार तुमने स्थिर स्वर में पूछा, "उससे मुझे फायदा?"

"फायदा?" तुम ही बेहतर जानती हो। मैं हाथ से निकल न जाऊँ, तुम्हारे आँचल से ही बँधा रहूँ इसलिए?"

मजे की बात, न तुम नाराज हुई न तुम्हारा स्वर काँपा। निश्चल, निष्कम्प तुमने कहा, "तू यह कह रहा है? कहाँ, किसी को भी तो उसके बावजूद रख नहीं सकी हूँ।"

मैं शायद डर गया था। उसी डर को अपने से दूर करने के लिए तुरंत बोल पड़ा, "नहीं ही सकी हो, न दादा को न बाबा को। पर उसका बदला मुझसे क्या लेना चाह रही हो? छि माँ, छि?"

"पगला! इस तरह क्या किसी को रखा जा सकता है?" आखिरी बार मेरे माथे पर अपना ठंडी हथेली फेर कर तुम उठ जा रही थी। पर वह स्पर्श, वह हिम-शीतल क्षमा ने मानो मेरे शरीर पर गरम लेप लगा गया। तुम्हारा हाथ पकड़ कर

खींचते हुए कहा था, "जाओगे नहीं। बाकी का भी सुनती जाओ। मुझे पकड़कर रख नहीं सकती हो। मैं भी जाऊँगा।"

'पता है। चला तो गया ही है। मुझे क्या मालूम नहीं है? सब पता है। मैं क्या समझती नहीं हूँ!"

'और भी दूर चला जाऊँगा। मेरी बीमारी अगर ठीक हो जाए, तब देखना मैं और भी फैल जाऊँगा, बिखर जाऊँगा। वह एक दूसरी दुनिया होगी। अलग तरह की जिन्दगी। वहाँ तुम्हें मेरा छोर भी नहीं मिल पाएगा।"

'ठीक है नहीं मिलेगा, तो न मिले। तू अब सो जा।" कहकर तुम उठ गयी थीं।

पर आधे घण्टे बाद वापस आ गयीं। वही शान्त, शीतल उच्चारण "आँखें सूजी हुई क्यों हैं रे? क्यों, बुखार तो फिर नहीं बढ़ा है? फिर?"

मैं चुप रहा। तब तुमने ही पूछा, "रो रहा था?"

बुद्धू बुद्धू! तुम स्त्रियाँ भी कितनी बेवकूफ होती हो! तुम खुद अब तक आड़ में रो रही थीं। लड़के आसानी से नहीं रोते। इसलिए सोचा, शायद मैं भी रो रहा था। माँ! तुम कुछ नहीं समझती हो। कुछ भी नहीं।

पर प्रकट में बोला था, "कहाँ नहीं तो?"

"तो फिर चेहरा भारी क्यों है? यह मन खराब नहीं करते। बहस तो आपस में होती ही रहती है।"

"क्या कहा था, तुम्हें याद है?'

"जो मन में आया कहा है। तुम लोग सब कुछ कह सकते हो।"

उस दिन ज्यादा कुछ बोल नहीं पाया, इसलिए बिस्तर में एक ओर रखी हुई एक पत्रिका अपने मुँह के सामने कर लिया। मेरी ओर भी दो-चार रचनाएँ छपी थी। कुछ पर तुमने एक नजर उधर देख लिया। "तेरी लिखी हुई है?"

"तुम नहीं समझोगी!"

"कब की है?"

"तुम जाओ।"

"नया कुछ नहीं लिखा है?"

"तुम क्या समझती हो इन सबका! तुम जाओ।"

पर तुम गयी नहीं। ढीठ सी पलंग के किनारे बैठी रही। आहिस्ता से पूछा था "उस समय दूसरे जगत, दूसरे जीवन के बारे में क्या तो कह रहा था? वह क्या इसी रचना में है?"

'तुम नहीं समझोगी?'

'पता है।' एक छोटी-सी साँस भरते हुए तुमने कहा था, "तुमने उस दिन झूठ कहा था। पहली रचना जिस दिन छपी थी, पूछने पर कि किसके ऊपर लिखा है, कह दिया था, तुम पर। पर इन सबमें कहीं भी मैं नहीं थी। चौंक कर

मुझे पता है इसलिए। पर तू पगला है। इतना जानकर रख, मैं भले ही न होऊँ। पर हूँ भी। न रहकर भी रहूँगी। तेरे सब कुछ मे मैं रहूँगी।"

मा! एक जन्म मे, जन्म के मूल को अस्वीकार नही किया जा सकता। उस दिन क्या तुम यही कहना चाह रही थीं? तो फिर सुन रखा। तुम भी सम्पूर्ण रूप अभ्रान्त नही थीं। उस दिन सचमुच तुम नही थी। बताया न! आँखें नहीं रहती हैं। रहती नही हैं पर लौट आती हैं। जैसे तुम आयी हो। वही, कब से आशीर्वाद स्नेह कृपा और करुणाधारा इस रचना पर वर्षित होती जा रही है।

*　　　　*　　　　*

बुखार चढता है, उतर जाता है। मेरा भी उतर गया। मैं फिर से बासी के कमरे म जाने लगा। मुझे देख कर, बाँसी ने पाउडर का पफ चेहरे पर से हटा लिया। पूछा, "कहाँ जाओगे बाँसी? बहुत फिटफाट हो रहे हो?"

उसने कहा, "कहीं तो नही। यूही कुछ करने को नही है। समय तो काटनी ही है, इसलिए अकेले ही ।"

बाँसी की निःसंगता न मुझे द्रवीभूत किया था। फुसफुसाते हुए कहा था, "बाँसी! चल न चलते हैं!" उसने कहा, "कहा?" मन बहलाने के लिए पूछा, "वहाँ, अब जाते नहीं हो?" बाँसी समझ गया बोला, "जाता हूँ। पर जाकर कोई फायदा नही है। बूला के यहाँ जाने की बात कर रहे हो तो? पर अब उस घाट पर नाव चलाती हैं, ईश्वरी पाटनी।"

"याने लीला मासी? वे तो हैं ही, थी ही।"

"अब अकेली नही हैं। एक नया जुट गया है—अरिन्दम।"

"अरिन्दम?" मन ही मन में इस नाम को दो तीन बार दोहराया और तुरन्त याद आ गया, "अरिन्दम? मैं पहचानता हूँ। नए तो नही हैं, पुराने हैं, लीला मासी के साथ ।"

बाँसी बोल उठा, "वे ही। आदि और अकृत्रिम अरिन्दम। उत्तराधिकार सूत्र उन्हे पाया है।"

समझ नहीं पा रहा था। बूना ने कहा, "उत्तराधिकार समझते हो सूत्र से एक पीढ़ी की चीज दूसरी पीढ़ी को मिलती है। उसी ज़मीन-जायदाद सब मुझे मिली है। उसी नियम पर बूला

प्रभिव को? पर अरिन्दम तो! याने ।"

भाई, बूलाएँ उम्र नहीं देखती हैं कुछ और देखती हैं।

...त हुए बाँसी हिम्र हो उठी, "हालांकि मैंने भी

...ता जाऊँगा। अपना पाट मैं सही ढग से पकड़े

*　　　　*

खींचते हुए कहा था, "जाओगी नहीं। बाकी का भी सुनती जाओ। मुझे पकड़कर रख नहीं सकती हो। मैं भी जाऊँगा।"

'पता है। चला तो गया ही है। मुझे क्या मालूम नहीं है? सब पता है। मैं क्या समझती नहीं हूँ।"

' और भी दूर चला जाऊँगा। मेरी बीमारी अगर ठीक हो जाए, तब देखना मैं और भी फैल जाऊँगा, बिखर जाऊँगा। वह एक दूसरी दुनिया होगी। अलग तरह की जिन्दगी। वहाँ तुम्हें मेरा छोर भी नहीं मिल पाएगा।"

"ठीक है नहीं मिलेगा, तो न मिले। तू अब सो जा।" कहकर तुम उठ गयी थीं।

पर आधे घण्टे बाद वापस आ गयी। वही शान्त, शीतल उच्चारण "आँखें सूजी हुई क्यों है रे? क्यों, बुखार तो फिर नहीं बढ़ा है? फिर?"

मैं चुप रहा। तब तुमने ही पूछा, "रो रहा था?"

बुद्धू-बुद्धू! तुम स्त्रियाँ भी कितनी बेवकूफ होती हो! तुम खुद अब तक आड़ में रो रही थीं। लड़के आसानी से नहीं रोते। इसलिए सोचा, शायद मैं भी रो रहा था। माँ! तुम कुछ नहीं समझती हो। कुछ भी नहीं।

पर प्रकट में बोला था, "नहीं, नहीं तो?"

"तो फिर चेहरा भारी क्यों है? धत् मन खराब नहीं करते। बहस तो आपस में होती ही रहती है।"

"क्या कहा था, तुम्हें याद है?"

"जो मन में आया कहा है। तुम लोग सब कुछ कह सकते हो।'

उस दिन ज्यादा कुछ बोल नहीं पाया, इसलिए बिस्तर में एक ओर रखी हुई एक पत्रिका अपने मुँह के सामने कर लिया। मेरी और भी दो-चार रचनाएँ छपी थीं। तु^ कर तुमने एक नजर उधर देख लिया। "तेरी लिखी हुई है?'

"तुम नहीं समझोगी।"

"कब की है?'

'तुम जाओ।"

"नया कुछ नहीं लिखा है?"

"तुम क्या समझती हो इन सबको! तुम जाओ।"

पर तुम गयी नहीं। ढीठ सी पलंग के किनारे बैठी रही। आहिस्ता से पूछा था "उस समय तुमने जगत, दूसरे जीवन के बारे में क्या तो कह रहा था? वह क्या इसी रचना में है?"

"तुम नहीं समझोगी?"

' पता है। एक छोटी-सी साँस भरते हुए तुमने कहा था, "तुमने उस दिन झूठ कहा था। पहली रचना जिस दिन छपी थी, पूछने पर कि किसके ऊपर लिखा है, कह दिया था, तुम पर। पर इन सबमें कहीं भी मैं नहीं थी। चौंक क्यों रहा है?

"जलन ?" कहकर बूला वहाँ से मुझे दोबारा चटाई की महफिल मे ले आयी।

इधर-उधर की फालतू बातें होने लगी थी। मैं थोडा कुनमुनाया और फिर पूछ बैठा, "बूला! लीला मासी कहाँ हैं ?"

"माँ ? नीचे के कमरे मे। उसे कीमे का समोसा बनाने बैठा आयी हूँ। कीमे का समोसा और घुगनी। तुम लोग खाकर जाओगे तो ?"

रुकने की इच्छा नहीं थी, पर चले जाने लायक मन मे जोर भी नही था। अरिन्दम उठे। जेब से चाभी का छल्ला निकाल कर घुमाते हुए कहा, "क्यो ? चलना है ?"

"कहाँ ?"

"एक सौदा कर आएँ। बस जाना और आना है। गाडी मे दो मिनट लगेंगे आओगे ?"

इन्कार करने की क्षमता नही थी। इसलिए उनके पीछे पीछे चल पडा।

उस दिन गाडी मे अरिन्दम से किस तरह की बातचीत हुई थी ? "आपसे बहुत दिनो बाद मुलाकात हुई। आप बहुत दुबले हो गए हैं।" इसी तरह की।

"कितने अरसे बाद बताओ तो ?" गाडी स्टार्ट करते हुए अरिन्दम ने कहा, "पहले जब देखा था, उस समय मैं कैसा था ? तेजी घोडे की तरह यही न ? पर अब देखो, अब कैसा हो गया हूँ। गाल की हड्डियाँ बैठ गयी हैं। बाल झर गये हैं। खिजाब लगाता हूँ। पता है, सब पता है।"

"कई वर्ष हो गये न ?"

"बहुत कहाँ ? फिर भी देखो यह हाल है। शरीर टूटी गाडी की तरह हो गया है। अपने से स्टार्ट नही होता है अब। ठेल-ठूल कर चलाना पडता है।"

'और बूला वगैरह ? वे लोग भी तो बदल गये हैं।'

अरिन्दम ने संक्षेप मे कहा, "गए हैं।" काँपते हुए हाथो से उसने सिगरेट सुलगायी। मैंने कहा, "आप यहा अक्सर ही आते हैं न ?"

"आता हूँ।" कहकर अरिन्दम ने पूछा, "और तुम ?"

"बीच मे बीमार हो गया था। इस बार काफी दिनों बाद आया हूँ। और भी जैसे सब कुछ बदल गया है। बूला जैसे और भी कैसी '

कनखी से मेरी ओर देखते हुए अरिन्दम ने कहा, "यंग मैन! खुलकर खोल क्यो नहीं पा रहे हो ? बूला, वेश्या की तरह हो गयी है, यही कहना चाहते हो न ?"

मैं चुप रहा।

गाडी मुख्य सडक पर आ चुकी थी। अरिन्दम, प्रौढ पका हुआ अरिन्दम ने अचानक एक हिचकोले को सम्हालते हुए कहा, "पर तुम ठीक नहीं कह रहे हो। वेश्या तो बल्कि मैं हो गया हूँ।"

मैं नि शब्द।

वही छत, जिस छत पर बूला ने कहा था फूल नहीं खिलते हैं। वहाँ गरमी के दिनों में कैक्टस और बरसात में कैना खिलते हैं।

एक सुन्दर-सी चटाई बिछा कर बूला बैठी थी। हम लोगों को देख कर बूला ने अपने आँचल के नीचे कुछ छुपा लिया। अरिन्दम हिनहिनाता हुआ-सा बोल उठा, "अरे आओ आओ।" मानो सब कुछ हम लोगों के लिए ही सजा कर रखा गया हो।

आँख के इशारे से अरिन्दम ने कहा, "उन लोगों के लिए एकाध मँगवाऊँ?"

खीझे हुए स्वर में पूछा, "बूला, आज यहाँ क्या है?"

अरिन्दम ने उदार स्वर मे कहा, "कुछ नही कुछ नही। यही बस थोड़ा-सा सेलीब्रेट करना है।"

फिर भी छोड़ा नहीं। बूला को एक तरफ ले जाकर पूछा, "किस बात का सैलिब्रेशन? आज क्या है?"

"आज?" गाल पर एक उँगली रखकर गर्दन थोड़ा झुकाते हुए बूला ने कुछ सोचने का अभिनय करते हुए हँस पड़ी और, "अगर कहूँ आज मेरी सगाई है तो?'

"बूला मजाक छोड़ो।"

"मजाक करना छोड़ दूँ? कह रहा है? फिर रह क्या जाएगा? यहाँ फिर तुम लोग क्यों आए हो? गीता पाठ सुनने? गीता-वीता मैं नही जानती हूँ पर अगर कहं तो एकाध गीत सुना सकती हूँ।" कहकर सचमुच ही एक भद्दे किस्म का गाना गुनगुनाने लगी थी। उसे चुप कराते हुए कहा, "आज सचमुच तुम्हारी सगाई तो नही है?

उसने कहा, "होने में हर्ज ही क्या है? जब आ ही गया है, तो क्यों न हो ही जाए। क्यों मेरी सगाई होगी क्यों नहीं? मेरी जैसी लड़की की क्या कभी शादी नहीं हो सकती है क्या? या तुम लोग चाहते ही नहीं हो कि हो। क्यों?"

बूला कि आँखें नाच रही थीं। उन आँखों मे थोड़ा भी सकोच नहीं रह गया था। बूला के हल्के से मुझे ढकेलते ही, मैं बेवकूफ की तरह बोल उठा, "ठीक है, पर बूला, दूल्हा कौन है?"

एक आँख बन्द करके और एक को थोड़ा तिरछी करते हुए बूला ने मानों मुझे आजमाया। कहा, "अगर कहूँ, तू है?'

"छत्!"

होंठो पर दाँत गड़ाते हुए बूला ने कहा, "तो फिर वह बासी हो सकता था। पर मुश्किल यह है कि फिर समझ मे नही आयेगा कि कौन दूल्हा है और कौन दूल्हन।[illegible]

फट् से बोल बैठा, "बूला, तुम्हारा दूल्हा वह बूढ़ा, वह अरिन्दम तो नहीं न?"

"जलन ?" कहकर बूला वहाँ से मुझे दोबारा चटाई की महफिल में ले आयी।

इधर-उधर की फालतू बातें होने लगी थी। मैं थोडा कुनमुनाया और फिर पूछ बैठा, "बूला ! लीला मासी कहाँ हैं ?"

"माँ ? नीचे के कमरे में। उसे कीमे का समोसा बनाने बैठा आयी हूँ। कीमे का समोसा और घुगनी। तुम लोग खाकर जाओगे तो ?"

रुकने की इच्छ नहीं थी, पर चले जाने लायक मन मे जोर भी नही था। अरिन्दम उठे। जेब से चाभी का छल्ला निकाल कर घुमाते हुए कहा, "क्यों ? चलना है ?"

"कहाँ ?"

"एक सौदा कर आएँ। बस जाना और आना है। गाडी मे दो मिनट लगेंगे आओगे ?"

इन्कार करने की क्षमता नही थी। इसलिए उनके पीछे पीछे चल पडा।

उस दिन गाडी मे अरिन्दम से किस तरह की बातचीत हुई थी ? "आपसे बहुत दिनो बाद मुलाकात हुई। आप बहुत दुबले हो गए हैं।" इसी तरह की।

"कितने बरस बाद बताओ तो ?" गाडी स्टार्ट करते हुए अरिन्दम ने कहा, "पहले जब देखा था, उस समय मैं कैसा था ? तेजी घोडे की तरह यही न ? पर अब देखो, अब कैसा हो गया हूँ। गाल की हड्डियाँ बैठ गयी हैं। बाल झर गये हैं। खिजाब लगाता हूँ। पता है, सब पता है।"

"कई वर्ष हो गये न ?"

"बहुत कहाँ ? फिर भी देखो यह हाल है। शरीर टूटी गाडी की तरह हो गया है। अपने से स्टार्ट नही होता है अब। ठेल-ठूल कर चलाना पडता है।"

'और बूला वगैरह ? वे लोग भी तो बदल गये हैं।"

अरिन्दम ने सक्षेप मे कहा, "गए हैं।" कॉंपते हुए हाथो से उसने सिगरेट सुलगायी। मैंने कहा, "आप यहाँ अक्सर ही आते हैं न ?"

"आता हूँ।" कहकर अरिन्दम ने पूछा, "और तुम ?"

"बीच मे बीमार हो गया था। इस बार काफी दिना बाद आया हूँ। और भी जैसे सब कुछ बदल गया है। बूला जैसे और भी कैसी "

कनखी से मेरी ओर देखते हुए अरिन्दम ने कहा, "यग मैन ! खुलकर खाँस क्यों नहीं पा रहे हो ? बूला, वेश्या की तरह हो गयी है, यही कहना चाहते हो न ?"

मैं चुप रहा।

गाडी मुख्य सडक पर आ चुकी थी। अरि दम, प्रौढ पका हुआ अरिन्दम ने अचानक एक हिचकोले को सम्हालते हुए कहा, "पर तुम ठीक नहीं कह रहे हो। वेश्या तो बल्कि मैं हो गया हूँ।"

मैं नि शब्द।

अरिन्दम हँस पड़े। वह हँसी एक छुपी हुई व्यथा मे पीला हो गयी।

"हाँ, पुरुष भी एक उम्र मे आकर वेश्या हो जाते हैं, जब उनका कोई मित्र नहीं रह जाता है। हाँ, पुरुष भी औरतो की तरह विपुष्पित हो जाते हैं। बस उस समय उनका काम लोगो को बुला-बुलाकर अपने पास बैठाना है। साथ पाने के लिए। खिलाते हैं, पिलाते हैं, ठीक बदचलन औरतो की तरह ही। मेरा भी अभी वही क्रम चल रहा है। मैं भी वही पुरुष वेश्या हूँ।"

थोड़ा ठहर कर अरिंदम फिर से बोलने लगे, "इसलिये, शराब पीता हूँ। अनुचित है, फिर भी। उपाय नहीं है, शरीर को कष्ट देकर मन को थोड़ा चंगा रखना। बस इतना भर ही ड्रिंकिंग की फिलासफी है।"

"पर यहाँ अंतिम बात नहीं है। यह अंतिम दर्शन भी नहीं हो सकता है। इसके बाद भी कुछ रह जाता है। जीवन का दूसरा भी अर्थ हो सकता है। है या नहीं, उसी को खोजे जा रहा हूँ।"

इतना कहकर, खचाक् की आवाज के साथ, अरिंदम ने एक दूकान के सामने गाड़ी रोक दी। नियॉन लाइट में दूकान का नाम पढ़कर मैं तब तक काँपने लगा था।

तिर-तिर करते हुए पछी उड जाते हैं। सरसराती हुई गिलहरी पेड पर चढ जाती है। कितनी बार देखा है। आज भी देखता हूँ, जब भी मौका मिलता है। क्या देखता हूँ? उनका सुख स्वच्छ द? वे लोग कितन अद्भुत हैं? अपने-अपने शरीर पर निभर! यही तो देखता हूँ न! मनुष्य के पास जो कुछ नही है, वह जो कुछ नही कर पाता है। चूँकि मनुष्य अभिकर्ष के अभिशाप से जकडा हुआ है इसलिए देह के पास दस्तखत करके जागतिक समस्त नियमो का पालन करता जा रहा है।

तो फिर मनुष्य की मुक्ति कहाँ है? अतीत मे! वहाँ उसका स्वच्छन्द विचरण होता है—उस पक्षी और गिलहरी की तरह इच्छानुसार, कुछ भी चुग सकता है। शरीर जो कुछ नहीं कर पाता है मन उसे वसूलता है। जिस तरह मैं भी इस मन को अपनी मर्जी मुताबिक खीच कर एक के बाद एक तस्वीर देखे जा रहा हूँ, दिखा रहा हूँ। यह रचना भी क्या उसी अतीत का एक हिस्सा है? उस अतीत का एक सात्विक प्रतीक तुम हो, पर भागीदार, दावेदार और भी कितने जन, बूला वगैरह हैं।

आज वहाँ हाथ फेर रहा हूँ, जहाँ कभी बूला ने डसा था। वहाँ अब विष का डर नहीं है। नही, इसलिए नहीं है, क्योंकि रहता कुछ भी नहीं है। आन द, वेदना सब कुछ एक दिन मिट जाते हैं। सब रग मिट जाते हैं। पर मा! यह सब तो अबकी बातें हैं, उस समय का मैं तो कब का तुम्हें बूला लोगो के छत पर बैठा आया है। चलो, फिर वही लौट चलें।

एक सुडौल बोतल हिलाते हुए बूला ने कहा था, "बताओ तो क्या है? तरल अनल—एक कविता मे पढा है। थोडा चखोगे?" प्लेट मे कलेजी तल कर रखी हुई थी। एक टुकडा उठाते हुए बूला ने कहा था, 'कैसा तो लगता है। अगर कही ये कलेजियाँ हिलने-डुलने लगें।"

मेरे होठो से लार निकल कर कुर्ते पर बह आया था। मैं भी तली हुई कलेजियो को एक के बाद एक मुह में डालने लग गया था। गिलास मेरे मुह से लग चुका था।

कब तक? कब तक? न जाने कब तक यह सब चलता रहा। अरिन्दम की

आँखें ढँप चुकी थीं। बूला मेरे कान के पास मुँह लाती हुई बोली, "ध्यानासन में बैठा योगी, कुछ नहीं सुन पाता है। थोडी देर यहाँ रह भी नहीं जायगा।"

और सचमुच थोडी देर बाद अरिन्दम वहाँ से लडखडाते हुए चले गये।

'बूला ?" फिसफिसाते हुए कहा, "वे कहाँ गये ?"

"डरो नहीं, बहुत दूर नहीं। नीचे ही गये हैं। माँ—तेरी लीला मासी के पास। यहाँ का प्राप्य उन्हें मिल चुका है, इसलिए नीचे चले गए।"

'वहाँ क्या होगा बूला ?"

"क्या होगा ! खास कुछ नहीं। इस उम्र के लोगों को खास कुछ भी नहीं मिलता है। बूढे बूढी दोनों मन व सुख के लिये और क्या ? माँ उसके बालों में हाथ फेर देगी, उस सुख का उपभोग करते हुए वह सो जाएँगे, और माँ यानी तेरी लीला मासी को क्या मिलेगा ? मिलेगा, उसे भी मिलेगा। हाथ पाँव में हाथ फेरना, उससे ही सब कुछ मिल जाएगा। शाम से तनने वलने का जो काम किया है, उन सब खटनी का कुछ दाम उसी में वसूल हो जायगा।"

मैं देख रहा हूँ धीरे-धीरे बाँसी पर नशा छाने लगा है और होश-हवास खो रहा है।

'चलो इसकी भी छुट्टी हो गयी। बस अब रह गये हम और तुम, आओ, हम दोनों एक खेल खेलें।'

"बस एक खेल, जिसे हम दोनों खेलेंगे, किसी और को पता नहीं चलेगा।"

बूला की आँखें बिल्लौरी काँच-सी चकमक करतीं। "आ, खेलेगा। चला आ।"

मैं ऊपर आकाश की ओर देखता हुआ पूछता हूँ, "बूला ! यह क्या वही खेल है, जो शिशपिता से छिपा कर हमने उस चिरनिद यानी दिए खेला था ?"

"वही खेल', मेरे गाल पर टकोर देते हुए बूला ने कहा। "ठीक समझा है।"

आकाश में चाँद पर उस समय धार-धार बदलियाँ बैठने लगी थी। रोशनी। छन्नेदार रोशनी के साथ छन्नेदार अँधेरा घुलमिल गया। गाल व शरीर पर मानों रोएँ उग आए थे। अन्तिम बोतल का वह चतुरिमा न जी खोला थी। यह भी सारे जानों थे।

उसके बाद वह खेल गुम्मस गुम्मा कब से शुरू किया ? लिखना या बताने की कोशिश क्यों न करूँ, पर मैं उस खेल के बारे में सब कुछ लिखा नहीं जा सकता है। कुछ संस्कार आड़े आते ही हैं। फिर भी मैं मानता हूँ मनुष्य मात्र ही प्राणी होता है और प्राणी मात्र ही मूलतः पशु होता है। और यहाँ उस समय अन्तिम सर्वोकरण का भय लगता है।

* * *

बूला क्या मुझसे उम्र भर बड़ी थी ? एक बार जब बूला भाग आन लगी था

मैंने खप् से उसका आँचल मुट्ठी मे पकड लिया था । आचल सम्हालने के बहाने बूला क्या और उघड गयी थी । हालाँकि मुह से कह रही थी, "धत्, बदमाश ! यह सब क्या है ? अभी नही, इतना आगे नही बढना है ।"

"क्यो नही ? यही खेल तो हमे खेलना है । एक साथी को नशे म चूर करके, उसे मुर्दा समझ उसकी आँख के सामने हो ! जिस तरह उस दिन लगभग दृष्टिहीन रजनीगधा की आँख मे धूल झोक कर हमने खेल खेला था बूला, आज उसी खेल का एक राउन्ड, क्या है न ?"

रजनीगधा ? इस एक नाम से मानो बूला स्थिर हो गयी । वही बूला, चचल चपल, हिसाबी-किताबी एकदम से मानो अपना वही खाता बद करके ठडी पड गयी । फुफकारती हुई-सी बोली, "चुडैल अभी तक गदन से उतरी नही है ?"

"छि बूला ! उसे चुडैल मत बोलो । वह चली गयी है । उसके सम्बन्ध मे ।"

मेरी छाती पर एक उँगली रखते हुए बूला ने कहा, "दुख रहा है क्या ? आहा ! कहाँ रे ? यहाँ ?"

"बूला, वह बहुत दुखी है ।"

थोडा पीछे हटते हुए बूला ने एकदम मेरा ओर दखत हुए कहा, 'और मैं ? मेरा ? मेरा सब कुछ सुखी है क्या ?" उसकी आँखो से चचलता लाप हा चुकी थी ।

शुष्क स्वर मे बोला, "मुझे अब छोड दो बूला । मैं अब जाऊगा । '

'जाओगे ? जाना तो है ही । रहने कौन आया है ?" अचानक देखता हूँ, बूला अपने हाथ मरी गर्दन के गिद रख देती है । कधे पर नाक रगडती हुई कहती है, "एई ! मुझसे शादी करेगा ?"

इस प्रलाप के उत्तर की कोई जरूरत नही थी । पर बूला मेरे और करीब आकर दुलार भरे स्वर मे बोला, "मैं बहुत बडी मुसीबत मे पड गयी हूँ । पर तू मेरा मानिक ! अगर चाहे तो मेरा उद्धार कर सकता है ।"

' कैसी मुसीबत बूला ! समझ नहीं पा रहा हूँ ।"

"सच, बहुत बडी मुसीबत है । कसम से, तुझे छूकर कहती हू ।"

'तुम अगर थियेटर म नही उतरती ता शायद विश्वास कर लेता । अब ता समझना मुश्किल होता है कि कौन सा अभिनय है और कौन-सा अभिनय नही । पर, खैर तुम बताओ कैसी मुसीबत है ?"

"मुसीबत तो लडकियो की एक ही हो सकती है । नही समझा ? मुझसे शादी भले ही न कर, पर मेरा उद्धार करने का उपाय वो बतला ही सकता है ?"

मुझे चुप रहते देख बूला अचानक हिंस्र हा उठी । किसी खूखार बिल्ली की तरह मेरे ऊपर झपट पडा । "तू अब भी कहना चाहता है कि समझा नही है ? तुमने

क्या उस रिशमिश को इस तरह की मुसीबत में नहीं डाला था ! खच्चर कहीं का ! तो फिर तेरी उस किशमिश को क्या हुआ था ? तू हाड-बज्जात है। तू कहना चाहता है कि तूने किशमिश को अपने दिए हुए काँटे से मुक्त करने के लिए, बाहर नहीं भेजा है ?"

"क्या बक रही हो ?" कहकर मैंने अपन को छुडाने की कोशिश की, पर बूला ने मुझे छोडा नहीं। सडासी की तरह मुझे जकडे, बूला पागल की तरह साँस छोड रही है। हा-हा करती हुई बोल रही है, "जानता है, तू सब कुछ जानता है, यह विद्या तुम्हारी फैमिली में ही है। तेरी माँ ने एक नष्ट किया था। तूने खुद ही एक दिन बताया था। नहीं बताया था ?"

अब उसके हाथों को मरोडते हुए अपने को छुडा लेने की बारी मेरी थी। दर्द से नीली पड जा रही है वह, पर बूला तब भी रुक-रुक कर बोले जा रही है, "तेरे बाबा शक करते थे, तेरी माँ ने इसी लिए उसे नष्ट कर दिया था। मुझे पता है ..."

उसकी बात मैंने पूरी नहीं होने दी थी। अपनी पूरी ताकत से एक भरपूर चाटा उसके गाल पर जड दिया था। लट्टू की तरह चक्कर खाकर बूला गिर गयी। उस ओर देखते हुए मैंने कहा, "रडी, हरामजादी !"

हाँ माँ ! मैंने पुरुष होकर भी एक औरत पर हाथ उठाया। मैं संस्कृति अभिमानी, फिर भी अनायास ही उसे "हरामजादी" कह पाया।

पर बाँसी इन सारे शोर-गुल से उठ पडा था। अचानक चौंककर देखता हूँ वह पीछे से मेरी कमीज पकडे मुझे खींच रहा है।

* * *

बाँसी, एक तरह मुझे खोंचता हुआ नीचे ले आया था।

बाँसी मेरी बगल म अंधकार। उन लोगों की बहुत बडी बग्घी मे हमलोग बैठे हुए हैं। बाँसी का चेहरा मैं देख नहीं पा रहा था।

"स्टेज मे आग लग गयी थी, क्यों रे ?" बाँसी अचानक बोल पडा। "और इसलिए हम लोगों को भाग आना पडा।"

बाँसी का प्रथम वाक्य प्रश्नसूचक था, पर बिना उत्तर की प्रतीक्षा किए बाद के संवाद भी स्वयं ही बोल गया, 'दो अभिनेता भाग आए। हालांकि उनमे से एक जन कटा हुआ सैनिक था, जो लेट गया था। पर मजे की बात देखो उसी के जीवित नायक को घसीटते हुए यहाँ पहुँचाया।"

अचानक मैं एक अपराध बोध से ग्रस्त होकर बोल उठा, "बाँसी, मैंने तुम्हारे प्रति एक अन्याय किया है।"

उस स्वीकारोक्ति की तरफ ध्यान न देते हुए बाँसी कहता गया, "पर नाटक जमा अच्छा ही था। वह तो कहो स्टेज मे आग लग गयी, वरना ...।"

कहना चाहा, "बाँसो, तुम्हें पता नहीं है ...।"

एकदम ठंडे स्वर में बांसी बोल गया, "मुझे सब पता है।" उसकी बगल मे बैठा मैं, उस नीम अँधेरे मे ही महसूस करता हूँ कि उसके हाथ मे कोई छोटी सी चीज है।

"सब कुछ पता है ?" मैं लगभग चीख पडा था, 'तुम्हे पता था कि तुम्हे जानबूझकर बूला ने उतनी शराब पिलायी थी ताकि तुम बेहोश हो जाओ तुम्हें कुछ पता न चले और तुम्हारी आख के सामने हमलोग बिना किसी रोक टोक के मजा ले सकें ?"

और भी शायद बहुत कुछ बोल जाता, पर बासी न फिर से मुझे रोक दिया, "पता है। सब पता है। न मैं बहोश ही हुआ था, न सो ही गया था। बस, चित्त लेट गया था। तुम भूलते क्यो हो कि मैं भी एक अभिनेता हूँ, हालांकि मुझे कटे हुए सैनिक के अलावा और कोई पार्ट नही मिला है।" थोडा रुक कर उसने कहा, 'मैंने सब कुछ देखा है। सब पता है।"

हाथ मे पकडी हुई वस्तु को वह रह-रहकर उछाल रहा था अचानक सडक की रोशनी के झटके मे उस वस्तु को पहचानते ही मैं भयभीत हो उठा। "बासी यह क्या है ?"

उसने निश्चिन्त अलस स्वर मे कहा, "रिवाल्वर।"

जल्दी से उसका हाथ दबाते हुए बोला, "बांसी, तुम क्या ।" हाथ छुडाते हुए उसने कहा, "इसके सिवा और चारा ही क्या है ? जीवन मे जिसका कुछ हो न सका। सबने जिसका सिर्फ मजाक ही उडाया, यहाँ तक कि जिस सडक के कुत्ते को घर म जगह दी, उसने भी धोखा दिया। अब किस सुख की आशा में जीवित रहूँ ? बता सकते हो ?"

उसके इस चरम अपमान को ग्रहण करने की ताकत को भी उस समय मैं खो चुका था। उसका हाथ फिर से दबाता हुआ बोला था, "बांसी, मुझे क्षमा करो। तुम आत्मघाती नही हो सकोगे। कभी नही।" मन मे जोर नही था, इसलिए शरीर की ताकत से उसके हथियार को छीन लेने की कोशिश की।

और उसी समय बम फटने जैसे ठहाके के साथ, बांसी ने कहा था, 'बिल्कुल बुद्धू हो। क्या घबडा गया ? अरे, यह सचमुच का थोडे ही है। यह तो खिलौना पिस्तौल है ?" बोलते-बोलते वह फिर से रुग्ण-विपण्णता मे लौट आया। भरी हुई आवाज मे बोला, "सचमुच की चीज मुझे कहाँ से मिलेगी ? मिले भी तो उसका इस्ते-माल करने की हिम्मत मुझमे कहाँ ? पता है, अपने अदृश्य को मैंने पढ लिया है —एक झूठी जिन्दगी जी रहा हूँ। पर एक सचमुच की मौत मरने की हिम्मत मुझे नही होगी।"

बोलते-बोलते इस बार बांसी ने मेरा हाथ थाम लिया है। "पर क्या करूँ ? कहाँ जाऊ ? बता सकता है ? युद्ध छिड चुका है। बीच-बीच में सोचता हूँ, नाम लिखाऊँ। पर मुझे लेगा कौन ? फिटन गेट के सामने आकर रुक चुका था। बांसी

तुरत पिस्तौल को अपने कमीज के अदर छिपा लिया। उसके चेहरे पर उस समय सुख दुख का लेशमात्र नही था।

मा, मुझे आज भी पता नही चला कि वह रिवाल्वर सचमुच का था या झूठा।

*   *   *

फिटन गाडी के रुकते ही, खाँसी लडखडाता हुआ ऊपर चला गया। उतरते ही मैंने भी महसूस किया कि मेरे पांव लडखडा रहे हैं। लडखडा रहा था इस लिए समझ नहीं पा रहा था कि क्या हो रहा है। मैं डगमगा रहा था या मेरे पाव के नीचे की जमीन डोल रही थी? जोर से जमीन पर लात जमाकर उसे स्थिर होने के लिए ज्योंही कहने गया चकरा कर गिर गया। गिर गया, या गिरने लगा था कि उसी समय किसी हाथ ने मुझे सम्हाल लिया। वह हाथ भी सख्त और बर्फ की तरह सर्द था।

*   *   *

मरा भय, मेरी मृत्यु, मेरी भक्ति, मरी प्रीति! यह देखो मैं तुम्हारे पास लौट आया हूँ। तुम्हारे आमने-सामने खडा हूँ। अब बोलो क्या कहना चाहती हो।

अरे, तुम्हारी बगल मे सुधीर मामा खडे हैं न? सुधीर मामा की क्या जरूरत है? उन्हें जाने के लिए कहो। सिर्फ 'तुम और मैं' रहें। मेरी मृत्यु, मेरी प्रीति क आमने सामने। तुम और मैं और तुम

"कहा था? कहाँ गया था?" कौन पूछ रहा है?

"कहा गया था?" वही एक ही जिज्ञासा। या जिज्ञासा जिरह? हटो, कहाँ से आ रहा हूँ, क्या करके आ रहा हूँ, यह बताया नही जा सकता है। हटो। जाने दो ऊपर जाऊँगा। ज्यादा पूछताछ करोगी, तो बता दूंगा! अगर आज शाम की सारी बातें बता दू। अपने मनुष्यत्व को बेच आने की कहानी अगर सुना दूँ, तो क्या उसे सह पाओगी? मेरा क्या है? मेरी तो अभी शुरुआत है, पर माँ तुम्हारा सब कुछ जाएगा। आखिरी दीए को फूक मार कर कोई बुझाता नही है।

"पहले बता कहाँ से आ रहा है? तू लडखडा रहा है। वह तो मैं उसी समय समझ गयी थी जब इस घर की उस लडकी से घुलने मिलने लगा था। उसके बाद कितना नीचे उतरा है, आज मैं जानना चाहती हू।"

"पता चल गया था?" व्यग्य कसते हुए बोल उठा था मैं। "तो फिर माँ उस समय कुछ क्यों नही कहा?" थोडा रुक कर पुन बोला, "मुझे पता है तुम क्या नही पूछ पायी थीं। तुम पशोपेश मे थी।

"किस बात के लिए?"

"एक ओर मेरा हाथ से निकल जाना, तुम्हे अच्छा नहीं लगता था। दूसरा ओर लालच। मालिक की बेटी से तुम्हारे बेटे का घुलना-मिलना, बुरा क्या था।

एक बार हथियाने के बाद तो मौज ही थी। इस घर की हेड नौकरानी से एकदम खास बन जाने का मौका। तुम भी लालच में पड गयी माँ और इसीलिये मुझे प्रश्रय देती गयी थीं। मैंने सिर्फ उस मौके का फायदा उठाया है।"

तुम थर-थर काँप रही हो। अब लडखडा रही हो क्या? तुम भी एक मृत्यु देख रही हो क्या? मैं क्या उसी क्षण तुम्हारे सामने मर गया? इसलिये काँप रही हो? जिस तरह दादा के मृत्यु वाले दिन तुम थरथराई थीं, और शायद इसीलिए सुधीर मामा अपनी लाठी के बिना ही आगे बढ़ आये और तुम्हें मजबूती से पकड लिया है। "आनू चुप करो। स्थिर हो," ठीक उसी तरह जिस तरह दादा की मृत्यु वाली रात को बोले थे।

तुम उसी तरह पागल की तरह सिर हिलाए जा रही हो। अस्फुट स्वर में बोल रही हो, "छोड दो सुधीर दा, छोड दो।" पर कितनी शक्ति है तुममें। अपने को एकदम कठोर बनाते हुए कह रही हो, "तेरी जुबान लडखडा रही है। आखें लाल हैं। तेरे मुह से भभका आ रहा है। यह काहे की गध है?"

तो ठीक है। सुनने को तैयार हो जाओ। जब तुमने पर्दा हटा दिया है, तो सब कुछ देख लो। मैं फुँफकारते हुए बोल पडता हूँ। "बालिग लडके के मुह से किस चीज की गध आती है? दूध की तो नही ही, यह मैं तुम्हे दावे के साथ कह सकता हूँ।"

"तो फिर?"

"इस गध से क्या तुम्हारा परिचय नहीं है? बाबा के मुह से भी कई बार पाया है।"

अब और अधिक लेने की क्षमता तुममे नही रह गयी है। तुम्हे झुक जाते हुए देख रहा हूँ। तुम्हारी आँखें एक बार धधक कर ही बुझ गयीं, पर क्यो? अपना अपमान या बाबा का! कौन सा ज्यादा चोट कर गया?

'जो तुम्हें आशीर्वाद देता हुआ चला गया उस इतना बडा आघात किया?"

कापुरुष और पिशाच, दोनो के मिले-जुले स्वर की नकल करता हुआ बोला था, "किया हूँ।"

उस समय भी अगर माँ तुम ठहर जाती तो शायद बच जाती। पर शायद कई जन्मो का पाप तुम्हारा भी जमा हो गया था, इसलिए उस प्राप्य दण्ड को पाने के लिए और आगे बढ़ आयी थी। "चला जा, चला जा। दूर हो जा। जिस नरक में था, वही चला जा। उसी बदचलन लडकी के पास चला जा।"

और मैंने उसी समय पलट कर वार किया था। "जाऊँगा ही, जाऊँगा ही। जिसका बाप शराब पीता था, गन्दे माहल्ले मे जाता रहा उस नलिनी की बात याद नहीं है? उसका बेटा और कितनी दूर जा सकता है?'

"यह तू कह रहा है?"

भामती, याने तुम्हारी मामी बीमार हैं, सोयी हुई हैं। उसे डिस्टब करना ठीक नही।"

हम बाहर निकल आए। सुधीर मामा धीरे-धीरे बोलते रहे। "तुझे कभी बताया नही, पर आज कहने मे कोई बाधा नही है। उसे याने भामती के बारे मे तुम्हारी मा ने भी गलत समझा था। आनू कहती थी, तुम्हें क्या सुधीर दा ! तुम सुख तृप्ति लेकर हो। पर मेरे पास क्या है ? पर देखो मनुष्य के पास क्या है, क्या रहता है वह स्वय नही जानता है। जो कुछ है, उसे वह न देख कर और अधिक क्यो नही है, इसी बात की शिकायत जीवन भर करता रह जाता है।"

अचानक सुधीर मामा रुक गए। लज्जित स्वर मे कहा, "पर देखो तो मैं भी क्या बकवास करने लगा हूँ। आनू कहा हैं ?"

"माँ को कहाँ ढूढ़ू सुधीर मामा ? कहाँ मिलेंगी माँ ?"

"कहाँ मिलेंगी कह नहीं सकता, पर ढूढना तो होगा ही।" सुधीर मामा का स्वर गम्भीर था।

उस दिन सुधीर मामा ने अन्दर ले जाकर दिखाया था करुण, कृश, शैय्यालीन एक मूर्ति—भामती। बड़ी बड़ी आखों से देखती हुई, पर पहचान पाने से विरत।

हम फिर से बाहर आ गए थे। सुधीर मामा ने कहा, "यही सुख है। यही भामती है। पक्षाघातग्रस्त, सिर्फ देख पाती है, सुन नही पाती है। बस उसे किसी तरह सहेजे जा रहा हू। जो कुछ कर सकता हूँ उसके लिए करता जा रहा हूँ।"

सुधीर मामा ने एक बार बाबा का भी जिक्र किया था, "तूने कल सबसे ज्यादा प्रणव बाबू के गलत बात कही। वे क्या थे, तुझे नही पता। उनकी मृत्यु के बाद उनकी डायरी देखी थी। एक जगह लिखा हुआ था, 'एक क्षोभ मन में रह गया है। देश को स्वाधीन नहीं देख पाया, पर इसी स्वाधीनता के लिए ही एक दिन सब कुछ उत्सग किया है। और एक ? क्षोभ नही तृप्ति है मन मे। मेरा पुत्र मेरा उपयुक्त उत्तराधिकारी है। मेरा वह अतिक्रम करगा, इसकी सूचना मिल गयी है। परम तृप्ति के साथ अपने को उत्सर्ग कर देने मे मुझे कोई बाधा नहीं है।' इस सब बातो का मतलब समझ रहा है ?"

मैं आर्तस्वर मे बोल उठा था, 'सुधीर मामा ! मुझसे अब सहा नहीं जा रहा। एक स्वच्छामृत्यु और एक पता नहीं क्या है। माँ निरुद्देश्य हो गयी, शायद आत्मघाती हुई हैं। क्या करू, कहाँ जाऊँ बता दें, वरना जिन्दगी भर इन दोनो का भार ढोना पड़ेगा।"

सुधीर मामा ने स्मित मुख से कहा, "और क्या ? भार तो ढोते ही जाना है। स्वीकारोक्ति और प्रायश्चित मे।"

[लेखक का वक्तव्य—वह व्यक्ति जिसका जिक्र शुरू में ही है, जो इस कथा मे उत्तम पुरुष मे रहा है, उसे फिर मैंने कभी नही देखा। उसका पुर्जा

विकृत कड़वाहट भरे स्वर मे कहता हूँ, "तुम अगर अपना मुह न खोलो तो अच्छा है, वरना मेरे मुह से भी बहुत कुछ निकल जाएगा।"

"बाकी रखा ही क्या है ?"

"बहुत कुछ। अभी तक यह नही कहा है कि बाबा को मुझसे अधिक बडी चोट तुमने दी है। तुमने चोट नही पहुँचायी है ? तुम दोनो ने मिलकर "

उँगली उठाकर सुधीर मामा की ओर दिखाता हूँ।

सहमे हुए स्वर मे बोल रही हो, "हम दोनो ने ?"

"नही क्या ?" सारा जहर उगलते हुए कहता हूँ, "वरना वो अभी तक यहाँ क्यो है ? छि माँ, छि, उन्हें चले जाने के लिए कहो। इतनी रात तक यहा रहना अच्छा नही दीखता है।"

तुम अगर बूला लोगो की तरह होती तो शायद उसी क्षण झपट पडती, पर तुम जड होती जा रही हो। इसलिए तुम्हारी तरफ से जवाब देते हैं सुधीर मामा। शा त स्वर मे कहा, "जा रहा हूँ। तुम अभी तक आए नही थे। आनू सोच सोचकर परेशान हुई जा रही थी।"

"अब परेशान नही होना है। अब जाइए।"

लाठी पडी रही। दो हाथ फैलाए किसी आहत वृद्ध पक्षी की तरह पर फैलाए मानो हवा मे टटोलते हुए आगे बढ गए।

कोहरे के मोटे अस्तर में उनका दीघ शरीर गायब हो जाते ही मैं तुम्हारी ओर मुड कर बोला, "अब और क्यो ? अब जाने दो। याने याने तुम भी जाओ।"

सिर झुकाए स्तमित, धीर, दबे हुए स्वर मे तुमने कहा, 'हा, अब जाऊगी।"

*　　　　*　　　　*

माँ, बहुत निर्लज्ज हूँ, इसलिए अब भी "मा" कहकर पुकार रहा हूँ। उसके बाद भी सुबह हुई। सुबह अपने हिसाब से आती है। सुबह का क्या एक और नाम प्रसन्नता और स्निग्धता है ? पर मेरे लिए हर सुबह कड़वाहट भरी होती है।

दूसरे दिन सुबह तुम नहीं हो। तुम नही थी। चौंकते हुए सुधीर मामा ने कहा था, "वह तो यहाँ नही हैं। आयी नही हैं। तू अन्दर आ।' शान्त स्वर, न कही उत्ताप, न अभिमान।

"नही ह ? यहाँ भी नहीं है ?" चीखना चाहा था, पर गले से साफ आवाज तक नही निकली।

और सुधीर मामा ? देख रहा हूँ, थोडा पास आकर धीमे स्वर मेरी पीठ पर हाथ रखकर बोल रहे हैं, "पगला तुमने सोचा था, वह यहाँ आएगी। नही रे, तुमने गलत समझा है, समझ रहा है। आनू यहाँ कभी नही आयी, न आएगी।"

कुछ बोलने जा रहा था, पर मुझे रोकते हुए वे बोले, "... कमरे म...

भामती, याने तुम्हारी मामी बीमार हैं, सोयी हुई हैं। उसे डिस्टर्ब करना ठीक नही।"

हम बाहर निकल आए। सुधीर मामा धीरे धीरे बोलते रहे। "तुझे कभी बताया नही, पर आज कहने मे कोई बाधा नहीं है। उसे यानें भामती के बारे में तुम्हारी मा ने भी गलत समझा था। आनू कहती थी, तुम्हें क्या सुधीर दा! तुम सुख तृप्ति लेकर हो। पर मेरे पास क्या है? पर देखो मनुष्य के पास क्या है, क्या रहता है वह स्वय नही जानता है। जो कुछ है, उसे वह न देख कर और अधिक क्यों नहीं है, इसी बात की शिकायत जीवन भर करता रह जाता है।"

अचानक सुधीर मामा रुक गए। लज्जित स्वर में कहा, "पर देखो तो मैं भी क्या बकवास करने लगा हूँ। आनू कहाँ हैं?"

"माँ को कहाँ ढूढ़ू सुधीर मामा? कहाँ मिलेंगी माँ?"

"कहाँ मिलेंगी कह नहीं सकता, पर ढूढना तो होगा ही।" सुधीर मामा का स्वर गम्भीर था।

उस दिन सुधीर मामा ने अन्दर ले जाकर दिखाया था करुण, कृश, शैय्यालीन एक मूर्ति—भामती। बडी बडी आँखो से देखती हुई, पर पहचान पाने से विरत।

हम फिर से बाहर आ गए थे। सुधीर मामा ने कहा, "यही सुख है। यही भामती है। पक्षाघातग्रस्त, सिर्फ देख पाती है, सुन नहीं पाती है। बस उसे किसी तरह सहेजे जा रहा हूँ। जो कुछ कर सकता हूँ उसके लिए करता जा रहा हूँ।"

सुधीर मामा ने एक बार बाबा का भी जिक्र किया था, "तूने कल सबसे ज्यादा प्रणव बाबू के गलत बात कही। वे क्या थे, तुझे नहीं पता। उनकी मृत्यु के बाद उनकी डायरी देखी थी। एक जगह लिखा हुआ था, 'एक क्षोभ मन में रह गया है। देश को स्वाधीन नहीं देख पाया, पर इसी स्वाधीनता के लिए ही एक दिन सब कुछ उत्सर्ग किया हूँ। और एक? क्षोभ नही तृप्ति है मन मे। मेरा पुत्र मेरा उपयुक्त उत्तराधिकारी है। मेरा वह अतिक्रम करेगा, इसकी सूचना मिल गयी है। परम तृप्ति के साथ अपने को उत्सर्ग कर देने मे मुझे कोई बाधा नहीं है।' इस सब बातो का मतलब समझ रहा है?"

मैं आर्तस्वर मे बोल उठा था, "सुधीर मामा! मुझसे अब सहा नहीं जा रहा। एक स्वेच्छामृत्यु और एक पता नहीं क्या है। माँ निरुद्देश्य हो गयी, शायद आत्मघाती हुई हैं। क्या करूँ, कहाँ जाऊँ बता दें, वरना जिन्दगी भर इन दोनो का भार ढोना पडेगा।"

सुधीर मामा ने स्मित मुख से कहा, "और क्या? भार तो ढोते ही जाना है। स्वीकारोक्ति और प्रायश्चित में।"

[लेखक का वक्तव्य—वह व्यक्ति जिसका जिक्र शुरू में ही है, जो इस कथा में उत्तम पुरुष में रहा है, उसे फिर मैंने कभी नहीं देखा। उसका पुर्जा

पढ़ने के बाद मैंने उससे पूछा था, "माँ को क्या फिर सचमुच ढूढ़ नही पाए थे ?"

विलष्ट स्वर में उस व्यक्ति ने कहा था, "ठीक मालूम नही। कभी लगता है नही है और कभी अनुभव करता हूँ कि वह है, प्रबलतमरूप म है। वह सब भी लिखा हुआ है। बचे हुए पृष्ठो को भी पढ डालिए।"

इतना कहकर वह तिरोहित हो गया था। उसे फिर देख नहीं पाए थे। शायद मुझमें ही समाहित हो गया है। मैं सिर्फ बेतरतीब पन्नो को तरतीब दे रहा हूँ।]

श्री चरणेषु-माँ को ॥ अन्त मे ॥

तब से तुम्हे ढूढ रहा हूँ। कहाँ नही ढूँढा तुम्हें ? गगा के घाटों मे, अस्पताला मे यहाँ तक कि मर्ग में भी।

रेल लाइन के किनारे-किनारे ढूढ़ता रहा, शायद कहीं ट्रेन के दाग दीख जाएँ। उसके बाद न जाने कितने दिन, वर्ष चले गए। इसलिए सोचा था, बहुत सारे पत्र, बहुता को लिखूगा। अपनी फरियाद सुनाऊँगा, पर अन्तत वह पत्र सिर्फ एक को ही सम्बोधित हो सका। श्री चरणेषु माँ को।

माँ, बहुत दिनों तक तुम्हारी तस्वीर की ओर देख नही पाता था। कहाँ तो चोट लगती थी। तुम्हारे खो जाने के बाद, इस तस्वीर को मैंने ही बँधवायी थी। तुम्हारे लौट आने की आशा लुप्त हो जाने के बाद, विधि अनुसार तुम्हारा श्राद्ध-अनुष्ठान करवाया था। फिर भी तुम्हें ढूढ़ना समाप्त नही हुआ है।

जीवन से सभी माँ खो जाती हैं, यही नियम है। जानता हूँ, फिर भी जीवन भर क्या इसी लिए, माँ के लिए एक भूमता, एक सताप, एक सतत प्रयोजन-बोध, चेतना को आघात करता रहता है। यहाँ तक कि अवचेतना को भी ?

जिज्ञासा का क्या प्रयोजन है ? बल्कि ढूढ़ता ही चलूं। सिर्फ तुम्हें ही क्या ? शायद नही। एकमात्र तुम्हें ही नहीं, तुम्हारे साथ उन्हें भी, जो जीवन का और मूलाधार होता है। समस्त स्तरों को पार करने के बाद, अन्त म एक यही अन्वेषण ही तो फिर भा शेष रह जाता है न ? क्यों माँ ! है न ?

शेष-अशेष

□ □

अपर्णा टैगोर

मूलत हिन्दी मे लिखती हैं, अब तक एक उपन्यास और कहानी सग्रह प्रकाशित हो चुके हैं।

बँगला से हिन्दी मे अनुवाद का काम अपनी रुचि से करती हैं, फिलहाल कलकत्ते की एक हिन्दी साप्ताहिक मे कार्यरत।